

मनु शर्मा



कृष्ण की उर्गात्मकथा

॥ नारद की भविष्यवाणी ॥



प्रभात

कृष्ण की आत्मकथा-१ नारद की भविष्यवाणी



मनु शर्मा



प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
ISO 9001:2008 प्रकाशक

भूमिका

‘कृष्ण की आत्मकथा’ मनु शर्मा का एक महाकाव्यात्मक उपन्यास है—सही अर्थों में ‘एपिक नॉवेल’। जिन लोगों ने उनकी द्रोण, कर्ण आदि की आत्मकथाएँ पढ़ी हैं उनके लिए प्रस्तुत उपन्यास एक ऊँची लंबी छलाँग मालूम पड़ेगा। आठ खंडों में विभक्त यह उपन्यास केवल महाकाय ही नहीं है, वस्तु-रूप के रचनात्मक वैविध्य में भी बड़ा महत्वपूर्ण और विशिष्ट है।

किसी भी प्रांतीय भाषा में कृष्णचरित को लेकर इतने विशाल और प्रशस्त कैनवस का प्रयोग नहीं किया गया है।

कृष्ण के अनगिनत आयाम हैं। दूसरे उपन्यासों में कृष्ण के किसी विशिष्ट आयाम को लिया गया है। किंतु मनु शर्मा के कृष्णचरित में कृष्ण को उनकी संपूर्णता और समग्रता में उकेरने का सफल प्रयास किया गया है। इसमें हजारों चरित्र हैं; उनके वैयक्तिक, सामाजिक, द्वंद्वात्मक रिश्ते हैं; ऋतु प्रार्थनाएँ हैं; नदियों, पहाड़ों, जंगलों, झीलों का तथा पशु-पक्षियों और नाना प्रकार के मनुष्यों का भारतवर्ष है। इसके लिए जिस व्यापक फलक और विधायक कल्पना की जरूरत थी वह लेखक के पास सहज में ही मौजूद थी।

कृष्ण का चरित्र विसंगतियों से भरा पड़ा है। वे रागी भी हैं, विरागी भी; योगी भी हैं, भोगी भी; नर भी हैं, नारायण भी; रण-दुर्मद भी हैं और रणछोड़ भी; चक्रधर भी हैं और मुरलीधर भी। इतनी विसंगतियों को संगति देना साधारण कार्य नहीं है।

आज के भूमंडलीकरण के युग में जब अमरीकी सांस्कृतिक साम्राज्यवाद तीसरी दुनिया को अपनी गिरफ्त में लेने के लिए प्रयत्नशील है, तीसरी दुनिया के साहित्यकार अपनी जड़ों की खोज करने लगे हैं। नया परिवर्तन अपने भीतर से होगा। जिसका अतीत नहीं होता उसका भविष्य भी नहीं होता। इस ग्रंथ के लेखक श्री मनु शर्मा ने अतीत के आलोक में नए मूल्यों को देखने और समझने का प्रयास किया है। इससे अपनी अस्मिता को रक्षात्मक कवच मिलता है और प्रगतिशील विचारों को नई मूल्यवत्ता।

अपनी विशालता, सघनता, बौद्धिकता, क्रियात्मकता, मानसिक संरचनात्मकता में इस ग्रंथ की अद्वितीयता स्वतःसिद्ध है।

—बच्चन सिंह

पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष,
हिंदी विभाग,
शिमला विश्वविद्यालय

व्यासस्य वचनम्

युद्धस्थल में मोहग्रस्त एवं भ्रमित अर्जुन से ही मैंने नहीं कहा था कि तुम निमित्त मात्र हो वरन् इस पुस्तक के लेखक से भी कहा है कि तुम निमित्त मात्र हो, कर्ता तो मैं हूँ।...अन्यथा तुम आज की आँखों से उस अतीत को कैसे देख सकोगे, जिसे मैंने भोगा है? उस संत्रास का कैसे अनुभव करोगे, जिसे मेरे युग ने झेला है? उस मथुरा को कैसे समझ सकोगे, जो मेरे अस्तित्व की रक्षा के लिए नट की डोर के तनाव पर केवल एक पैर से चली है?...और दुःखी ब्रज के उस प्रेमोन्माद का तुम्हें क्या आभास लगेगा, जो मेरे वियोग में आकाश के जलते चंद्र को आँचल में छिपाकर करील के कुंजों में विरहाग्नि बिखेर रहा था?

इसलिए तुम केवल लेखक हो, लिखो; लेखकीय कर्म का निर्वाह करो—गणेश की तरह। व्यास तो मैं हूँ।

एक

‘न हन्यते हन्यमाने शरीरे’—यह तो मैंने अर्जुन से कहा था—और उस समय कहा था जब वह मोह से ग्रसित था, युद्ध आसन्न था और वह अस्त्र उठा नहीं रहा था। उसका ममत्व चारों ओर स्वयं को ही देखने लगा था।

आप विश्वास करें, अर्जुन को मैंने ऐसी अनिश्चितता एवं भटकाव की स्थिति में इसके पूर्व कभी नहीं देखा था; यद्यपि वह मेरा बालसखा था, मैं उसकी प्रकृति से परिचित था। मुझे कभी विश्वास नहीं था कि अपरिहार्य युद्ध-सागर में उसकी मानसिकता कागज की नाव हो जाएगी; मेरु-सी उसकी दृढ़ता मोह की झंझा में पतझड़ के पीले पत्ते की तरह झरने लगेगी।

इस समय विचित्र स्थिति थी। मैंने अनुभव किया कि अर्जुन बिखर रहा है। उसकी यह स्थिति असामान्य अवश्य थी, पर अनहोनी नहीं थी। मैंने अनेक दीपों को जलते-जलते अचानक भभककर बुझते देखा है। तेल की भी कमी नहीं, वर्तिका भी बनी हुई है; पर दीप बुझ गया। आपके जीवन में भी कभी ऐसा हुआ होगा।...यही स्थिति अर्जुन की थी। शौर्य की कमी नहीं। युद्ध के लिए तो वह आया ही था, फिर भी अपने कर्तव्य से विमुख होने लगा। मैंने उसे सँभाला, क्योंकि मैं उसका मित्र था और साथ-साथ सारथि भी। उसके रथ की बागडोर मेरे हाथ में थी; फिर इस समय उसके मन का ही रथ गड़बड़ा रहा था। मेरे मन ने कहा—सँभालो, अन्यथा सबकुछ नष्ट हो जाएगा। मैंने उसे सँभाला। मैंने जो कुछ कहा वह जगद्विदित है।

मेरे उस कथन में तर्क और ज्ञान तो था ही; पर अर्जुन पर इसका उतना असर नहीं हुआ जितना मेरे ईश्वरत्व का हुआ। लोग मुझे ईश्वर मान बैठे थे। परिस्थितियों ने मुझे ईश्वरत्व के सिंहासन पर बैठाने में अपनी गंभीर भूमिका बड़ी योग्यता से निभाही थी। शायद नियति की भी यही मंशा थी। ईश्वर ने मनुष्य को बनाया है या नहीं, यह विवाद का विषय हो सकता है; पर मनुष्य ने ईश्वर को अवश्य बनाया है, यह निर्विवाद है।

अद्भुत है यह मनुष्य भी! पत्थर को भी देवता बना देता है। और आश्चर्य है कि उससे आशीर्वाद भी लेता है। फिर मैं...मैं तो मनुष्य ही था। बस एक सोपान ऊपर उठना था। परिस्थितियों ने ऊपर उठा दिया और नियति ‘साधु-साधु’ कहते हुए नाचने लगी।

जिन परिस्थितियों ने मुझे ईश्वरत्व प्रदान किया उसकी चर्चा आचार्य गर्ग से हुई थी। उनकी आँखों से वह भयानक रात उतरती ही नहीं थी।

रात आधी जा चुकी थी। आसमान फटा पड़ रहा था। मूसलधार वर्षा हो रही थी। परिस्थितियाँ स्वयं अनुकूल हो गई थीं, अन्यथा मेरे पिता वसुदेवजी क्या करते। वे तो बंदी थे...और ऐसे बंदी, जिनपर हजारों आँखों के माध्यम से कंस की दृष्टि सदा लगी रहती थी। पर वाह रे गर्गाचार्य! उन्होंने उन आँखों के सघन जाल के बीच से मुझे निकाल ही लिया।

“किंतु आपने मेरे ही लिए ऐसा क्यों किया?” मैंने पूछा, “वसुदेव के तो और भी पुत्र हुए थे?”

तब उन्होंने संपूर्ण पृष्ठभूमि बताई थी—“तुम्हारे मामा कंस ने अपने पिता उग्रसेन को ही बंदी बनाकर कारागार में डाल दिया था।”

“क्यों?”

“सत्ता की लिप्सा के कारण।”

“लोगों ने इस अन्याय का विरोध नहीं किया?”

“किया क्यों नहीं!” गर्गाचार्य बोले, “पहले तो लोगों ने पिता-पुत्र के बीच का इसे घरेलू मामला समझा; पर ज्यों-ज्यों तसवीर साफ होती गई, विद्रोह की चिनगारी विस्फोटक रूप लेने लगी। लगा, प्रजा कंस की हत्या कर देगी। कई दिनों तक वह प्रासाद में अपने प्रकोष्ठ से बाहर भी नहीं निकला।...पर इसी बीच बड़ी होशियारी से उसने अपने श्वसुर जरासंध के पास सूचना भेजी और एक बड़ी मागधी सेना बुलाई।”

“हो सकता है, उसने जरासंध के संकेत पर ही ऐसा किया हो!” मैंने कहा।

“मैं भी ऐसा ही सोचता हूँ; क्योंकि जितनी शीघ्रता से मागधी सेना आई, उससे संदेह की पुष्टि होती है।” गर्गाचार्य बोले, “...फिर क्या था! सामूहिक रक्तपात आरंभ हुआ। जिसने भी सिर उठाया, उसका सिर धड़ से अलग कर दिया गया। मागधी गुप्तचरों ने जो भी सही-गलत सूचना दी, उसी पर काम हुआ। अनेक यादव सरदार रात-ही-रात गायब कर दिए गए। आज तक उनका पता नहीं।”

गर्गाचार्य ने जो दृश्य प्रस्तुत किया, वह बड़ा ही भयावह और हृदयविदारक है। सारा राजपथ रक्तंजित हो गया था। चारों ओर त्राहि-त्राहि मच रही थी। अनिश्चितता एवं आतंक से घिरा जनजीवन अपने-अपने आवासों में बंदी था।...यह स्थिति बहुत दिनों तक नहीं चली कि एक दिन महर्षि नारद पधारे।

मथुरा के विद्वान् ब्राह्मणों ने उनकी अगवानी की, अभ्यर्थना की और सारी स्थिति से उन्हें अवगत कराया। वे सुनते रहे, सुनते रहे। चिंतन की मुद्रा में ही उनके मुख से निकला—“अहंकार का नशा व्यक्ति को अंधा कर देता है। लगता है, कंस इस समय अंधा हो गया है—और अंधे को रास्ता दिखाना भैंस के आगे बीन बजाना है।”

“...पर अंधे की आँखें तो ठीक की जा सकती हैं।”

कहते हैं, नारद बड़ी गंभीरता से हँसे थे—“आँखें उनकी ठीक की जा सकती हैं, मित्र, जिनकी आँखें किसी रोग से खराब हुई हों; पर जिसने खुद आँखें फोड़ ली हों उसकी कोई ओषधि नहीं।”

“...और जिसकी आँखें दूसरों ने निकाल ली हों?”

इसी संदर्भ में लोगों ने प्रधान श्रेष्ठी मरणासन्न छंदक से उनकी भेंट कराई। छंदक शय्या पर पड़ा कराह रहा था। उसका पूरा परिवार मारा जा चुका था। अपनी दुःखद कहानी कहने के लिए या पूर्वजन्म के पापों को भोगने के लिए वह अब भी जीवित बच गया था। कंस को विश्वास था कि वह अवश्य यादवों की मदद करेगा। इसीसे मागधी सैनिकों ने उसकी यह दशा की थी।

उसे देखते ही नारद की आकृति लाल हो गई। उनके नेत्रों में रक्त उतर आया—“घबराओ मत, वत्स, कंस स्वयं अपने नाश की ओर अग्रसर हो चुका है।” उनकी आवाज इतनी गंभीर थी कि लगा, उनका चिंतन धधकने लगा है—“जो राजा अपनी ही प्रजा को लूट रहा हो, उसकी हत्या कर रहा हो, कितने दिन सत्ता उसके पास रह सकती है?”

श्रेष्ठी के निवास से निकलते-निकलते नारदजी ने कंस से मिलने का संकल्प कर लिया था—“मैं स्वयं कंस से मिलता हूँ; किंतु इस समय उसका अहं भभक रहा है। धधकते अंगारे को कभी इसका ज्ञान नहीं रहता कि उसका तपन दूसरों को जलाए या न जलाए, पर उसे तो जलाकर राख ही कर डालेगा।”

परिस्थिति कितनी विषम थी! आतंक किस सीमा पर था कि एक व्यक्ति का भी साहस न हो सका कि मथुरा के राजप्रासाद तक नारदजी का साथ दे सके; पर इसकी उन्हें परवाह क्या! वे तो अग्निबाण की तरह छूट चुके थे। बिना किसीकी अनुमति लिये धड़धड़ाते हुए वे राजप्रासाद में पहुँचे। एक तो अपराह्न की धूप, दूसरे अमर्ष की ज्वाला; उनकी आकृति सिंदूरी हो चली थी। उनका उत्तरीय क्षुब्ध बाज के पंख-सा फड़फड़ा रहा था। उनके अप्रत्याशित आगमन से कंस भी घबरा गया। वह इतना हतचित्त हुआ कि महामुनि को बैठने के लिए भी न कह

सका। अपनी अहम्न्यता के बावजूद कंस कभी ऐसी भूल न करता; किंतु घने अंधकार में अचानक चमकी इस विद्युत् की चकाचौंध ने उसकी आँखें ही बंद कर दीं।

गर्गाचार्य ने बताया कि मैंने ही उठकर उन्हें विराजने के लिए कहा था। नारद की वाणी तड़ित की तरह उस सभा पर बरस पड़ी—“मैं यहाँ विराजने नहीं आया, आचार्य! मैं तो कंस को सावधान करने आया हूँ कि वह अपने विनाश की ओर अग्रसर हो चुका है...और पर्वत से गिरते पाषाणखंड की तरह उसकी गति पतन की ओर बढ़ती ही चली जा रही है।”

कंस हतप्रभ-सा महामुनि को सुनता जा रहा था; पर कुछ मागधी सरदार आवेश में खड़े अवश्य हो गए थे। उन्हें ललकारते हुए नारद ने कहा था—“तुम खड़े क्यों हो, चाटुकारो, आगे बढ़ो। देखूँ, तुम्हारी तलवारों में कितना पानी है! याद रखो, इन तलवारों से तुम अपनी निरपराध प्रजा का गला काट सकते हो, पर नारद की आवाज दबा नहीं सकते; क्योंकि तुम सत्य का गला नहीं घोंट सकते। और इस समय मेरी वाणी से युग सत्य बोल रहा है।” नारद ने फिर एक विद्रूप हँसी हँसी—“कंस, विश्वास करो। तुम्हारा अंत तुम्हारी ओर दौड़ता चला आ रहा है।”

“यदि वह मेरे पास आ रहा होगा तो उसका भी अंत हो जाएगा।” कंस ने बड़े साहस के साथ कहा।

“हा, हा, हा! नियति का अंत! कालदेवता के निर्णय का अंत!...तुम्हारे अंत के पहले उसका अंत हो जाएगा!” एक भयानक हँसी नारद के मुख से छूटती रही और उसका ऐंद्रजालिक प्रभाव पड़ता रहा।

गर्गाचार्य ने बताया था कि उस समय कंस के सारे पारिषद् नारद को ही देखते रह गए थे। उन्हें कल्पना भी नहीं थी कि उन्हें मुनि के ऐसे धधकते क्रोध का सामना करना पड़ेगा।

“यदि मेरा अंत आएगा तो मैं उसे देख लूँगा। आप अपना रास्ता देखिए।” कंस ने अपने लड़खड़ाते साहस को दृढ़ता से सँभाला।

नारद का आक्रोश एक बार फिर भभका—“जिसने अपने पिता को कारागार में डाल दिया हो, निरपराध प्रजा की हत्या की हो; जिसने अपनी सेना का विश्वास खोकर दूसरे प्रदेश की सेनाओं का विश्वास किया हो, उसका अंत कहीं और से नहीं, उसके ही भीतर से आता है।” नारद बोलते गए—“इतिहास इस बात का साक्षी है कि निरंकुशता और अत्याचार के मध्य ही उसके विनाश का बीज भी रहता है।...तेरा अंत तेरे पास ही है।”

“कहाँ है वह अंत?” कंस तलवार खींचकर बौखलाया—“मैं अभी उसका अंत किए देता हूँ।”

“तुझे ऐसे दिखाई नहीं पड़ेगा। उसे विवेक की आँखें ही देख सकती हैं। परंतु तेरे विवेक को तो तेरा अहं निगल गया है।”

कहते हैं, कंस के सिंहासन के पीछे ही उसकी प्यारी बहन देवकी खड़ी-खड़ी महामुनि को एकटक निहार रही थी। पूरी सभा में एकमात्र नारी और वह भी अपने प्रिय भाई के अंत की घोषणा सुनती हुई। एकदम अवाक् और सहमी-सहमी। सामने आखेटक को देखती हुई मृगी की तरह।

“मुझे नहीं दिखाई पड़ रहा है तो क्या आप देख रहे हैं?” कंस बोला।

“हाँ-हाँ, मैं देख रहा हूँ।” ऐसा लगा जैसे नारद की आँखों के सामने कंस का भविष्य उतरता चला आ रहा हो—“...मैं देख रहा हूँ कि तेरी अकीर्ति का घट इतना भर गया है कि उसे फोड़ने के लिए मात्र एक बालक काफी है।...वही तेरा अंत कर रहा है। लोग उसे साधुवाद दे रहे हैं। वह लोगों को तारणहार दिखाई दे रहा है।” इसके बाद नारद एक क्षण के लिए रुके थे और बड़ी गंभीर आवाज में बोले थे—“कैसी विडंबना है कि हर निरंकुश शासक के अत्याचार की पराकाष्ठा एक ईश्वर को जन्म देती है!”

“कहाँ है वह ईश्वर? कहाँ है वह ईश्वर?” कंस जैसे पागल हो गया था।

“तुम्हारी बगल में खड़ी देवकी के गर्भ में।”

“यह क्या कहते हैं, महामुनि?”

“मैं ठीक कहता हूँ, कंस! इसी देवकी के आठवें बेटे द्वारा तेरा विनाश होगा।” और फिर नारद हँसते हुए सभा से चले आए थे।

देवकी का आठवाँ बेटा! देवकी का आठवाँ बेटा!! देवकी का आठवाँ बेटा!!! उस सभा में ही नहीं, पूरी मथुरा के मस्तिष्क में वह एक अविस्मरणीय घटना की तरह समा गया।

गर्गाचार्य ने बताया कि मैं उसी रात को प्रासाद में बुलाया गया। पौष की कटकटाती रात और वह भी आधी से ज्यादा बीत चुकी थी। मैं तो राजपुरोहित हूँ, पौरोहित्य कर्म के अतिरिक्त शासन में मेरी कोई भूमिका नहीं। फिर इस समय मुझे क्यों बुलाया गया। बात कुछ समझ में नहीं आई। फिर भी जाना तो पड़ेगा ही; क्योंकि राजा की आज्ञा है। वह भी कंस जैसे राजा की, जिसका क्रोध मृत्यु के घाट पर ही खड़ा रहता है।

आचार्य की पत्नी भी इस अप्रत्याशित आमंत्रण से घबरा उठी थी। उसका कहना था कि बच्चे मारुति को भी साथ लेते जाएँ; पर वे कंस के स्वभाव से परिचित थे। मारुति को ले जाकर जो आशंका न भी हो, व्यर्थ में उसे पैदा करना उन्होंने ठीक नहीं समझा। वे एकाकी गए।

द्वारपाल द्वारा आचार्य सीधे कंस के शयनकक्ष में भेज दिए गए। कक्ष से निकलकर आती मालिनी मैरेय का खाली पात्र लिये दिखाई पड़ी। वह कंस की निजी परिचारिका है। उससे अधिक शायद ही उसके विषय में कोई जानता हो। आचार्य ने उससे जिज्ञासाएँ कीं; पर वह गंभीर रह गई। निश्चित ही कोई विशेष बात है।

ज्यों-ज्यों वे शयनकक्ष के द्वार की ओर बढ़ते गए, उन्हें कंस के बड़बड़ाने की आवाज साफ सुनाई पड़ती गई। आभास हो गया कि कंस आवेश में है।

प्रवेश करते ही बोला, “आप आ गए। मैं कब से आपकी प्रतीक्षा कर रहा था!”

आचार्य ने देखा, सामने भारी स्तंभ से देवकी बैंधी है और महामात्य प्रलंब चुपचाप बगल में खड़ा है।

“देखते हो, आचार्य! सामने खंभे से बैंधी मेरी मौत है। मैं जिस क्षण चाहूँ, उसका अंत कर सकता हूँ।” कंस उन्मत्त हँसी हँसने लगा।

गर्गाचार्य ने देखा, महाराजाधिराज के नेत्रों में एक उबलती हुई लालिमा है। वह क्रोध की भी हो सकती है और यह भी संभव है कि मालिनी ने उद्वेलित मन को शांत करने के लिए आज अधिक मैरेय पिला दी हो।

गर्गाचार्य स्तब्ध रह गए। उनकी मानसिकता का जहाज तूफानी सिंधु के किनारे लंगर डालकर खड़ा हो गया।

“देख रहे हो मेरी मौत को, आचार्य!” खंभे से बैंधी देवकी की ओर संकेत कर कंस अट्टहास करते हुए बोला। इस बार उसकी हँसी मैरेय के नशे में अधिक लड़खड़ा रही थी। निश्चित ही देवकी का वध आसन्न था।

आचार्य ने प्रलंब की ओर देखा। वह दीप की लौ की तरह काँप रहा था। उसे आशंका थी कि देवकी के वध का दायित्व उसे ही सौंपा जाएगा। एक निरीह, निरपराध अबला का वध! उसकी आत्मा छटपटा रही थी। इस बुढ़ापे में क्या मुझे यही करना पड़ेगा? नहीं-नहीं, मुझसे यह न होगा। वह भीतर से चीखता हुआ भी बाहर से मौन था। यदि जरा सा मौका मिलता तो प्रलंब अवश्य भाग जाता—सदा-सदा के लिए भाग जाता। पर उसने अनुभव किया कि वह हिल-डुल नहीं सकता। चाकर की लाचारी की अदृश्य डोर से वह देवकी से कहीं अधिक जकड़ा हुआ है।...

अचानक एक काँपती आवाज द्वार से आती सुनाई पड़ी—“महाराज की जय हो!” सबने देखा, वसुदेव चले आ रहे हैं।

“मैं आपकी समस्या के समाधान के लिए आ रहा हूँ, महाराज!” वसुदेव ने कहा।

“क्या है समाधान?” कंस की डूबती हुई आँखें एक बार जाग उठीं।

“महाराज, आप अपनी प्यारी बहन को इतनी यातना क्यों दे रहे हैं?...इसे छोड़ दीजिए और मेरा ही वध कर दीजिए। न मैं रहूँगा और न देवकी को गर्भाधान की संभावना रहेगी।”

आचार्य ने मुझे बताया था कि सारी शक्ति लगाकर तुम्हारी माँ चीख पड़ी थी—“नहीं-नहीं, ऐसा नहीं होगा! मेरी रक्षा के लिए मेरे पति का वध हो, मैं ऐसी कुल कलंकिनी नहीं। वैधव्य के जीवन से कहीं अच्छा है मर जाना। भैया, तुम मेरा ही वध करो।”

“हाँ-हाँ, मैं तुम्हारा ही वध करूँगा!” कंस मुसकराते हुए बोला, “मैं वसुदेव के चक्कर में आनेवाला नहीं हूँ।” कंस बड़बड़ाता रहा—“वसुदेव सोचता है कि मैं छोटा सा बच्चा हूँ और वह मुझे फुसला लेगा।...जानते हो, प्रलंब, इसके प्रस्ताव के पीछे रहस्य क्या है?”

प्रलंब चुप ही रहा।

“वसुदेव चाहता है कि किसी-न-किसी शर्त पर उसकी देवकी जीवित रहे। चाहे पति रहे या न रहे, गर्भाधान के लिए गर्भ को जीवित रहना चाहिए। गर्भ रहेगा तो कहीं-न-कहीं से गर्भाधान भी होता चलेगा। पहला, दूसरा, तीसरा—और फिर आठवाँ...”

आचार्य का कहना था कि बहन के सामने इस निर्लज्जता से किसी भाई को बोलते मैंने कभी नहीं देखा था।

अब कंस वसुदेव की नीयत पर भी संदेह करने लगा था। अब उसे देवकी के वध के साथ ही वसुदेव के वध की भी अपेक्षा दीखती थी। एक बार वह बड़बड़ाया भी—“दोनों का वध अभीष्ट है, प्रलंब! न बाँस रहेगा और न बाँसुरी बजेगी।”

‘पर बाँसुरी बजेगी, निश्चित बजेगी। नारद की भविष्यवाणी कभी झूठी नहीं होती।’ आचार्य ने मुझे बताया था कि उनका मन अनायास बोल पड़ा था।

देखा आपने? मेरे पैदा होने के पहले ही लोगों के मन में मेरी बाँसुरी बजने लगी थी।

उस समय गर्गाचार्य से नहीं रहा गया। उन्होंने सुन रखा था कि क्रोधाग्नि प्रशंसा के छींटे से बुझने लगती है। उन्होंने कंस की प्रशंसा आरंभ की—“महाराज, आप व्यर्थ ही इतना कुछ सोच रहे हैं। दिशाएँ आपके शौर्य से काँप रही हैं। आपके पराक्रम की सुरभि संपूर्ण आर्यावर्त में फैल गई है। पूरी मथुरा आपकी दया की भिखारिणी है। एक पत्ता भी यहाँ आपकी कृपा के बिना नहीं हिल सकता। तब ये दो निरीह प्राणी आपका क्या कर लेंगे?”

“ये तो कुछ नहीं कर सकते; पर इनका आठवाँ बेटा तो सबकुछ कर डालेगा।”

“आप भी क्या कहते हैं, महाराज!” गर्गाचार्य ने एक बनावटी हँसी अपने अधरों पर चिपकाई—“दर-दर भटकनेवाले एक ब्राह्मण की बात का आप विश्वास कर बैठे?”

“लगता है, आप भ्रम में हैं, आचार्य!” कंस की मुद्रा गंभीर हुई—“नारद मात्र दर-दर भटकनेवाला ब्राह्मण नहीं है, एक अच्छा ज्योतिषी है। उच्च कोटि का गणक है। आज तक उसकी कोई भविष्यवाणी झूठी नहीं हुई है।” इतना कहते-कहते कंस की दृष्टि फिर मेरी माँ की ओर पड़ी। वह निरीह मृगी-सी सिर नीचा किए वध की प्रतीक्षा कर रही थी। संकट में याद आनेवाले भगवान् उसे याद आ रहे थे।

आचार्य ने देखा कि कंस के विश्वास को डिगाया नहीं जा सकता। फिर विवाद का अवसर भी नहीं; क्योंकि कंस के फनफनाते क्रोध को छेड़ने का मतलब था उसके विष को और अधिक तीखा करना। आचार्य ने बड़ी चतुराई से अपनी बातों का सिलसिला ही बदल दिया—“हाँ, आप ठीक कहते हैं, महाराज, नारद की भविष्यवाणियाँ बहुत कम झूठी हुई हैं।”

“कम नहीं, बिल्कुल झूठी नहीं होतीं।” कंस ने कहा, “इसीलिए तो देवकी के वध के अतिरिक्त मेरे पास कोई चारा नहीं है।”

“नहीं, ऐसी तो कोई बात नहीं है।...उपाय तो बहुत से हैं। न देवकी का वध हो और न वसुदेव का।”

“यह कैसे हो सकता है?”

“बात यह है, महाराज! नारद ने आठवें पुत्र के संबंध में कहा है न! तब तो देवकी और वसुदेव—दोनों अवध्य हैं। वध्य तो है वह आठवाँ पुत्र!” आचार्य ने इतनी गंभीरता से बातें कही थीं कि कंस सोचने लगा।

“...पर आठवें पुत्र की बाट जोहना एक लंबी प्रतीक्षा है और वह भी खतरे से खाली नहीं। जहाँ जरा सी चूक हुई कि मृत्यु गले पर सवार हो जाएगी।”

“इसमें चूक होने की गुंजाइश ही नहीं है, महाराज। इन दोनों को कारागार में डाल दीजिए। विश्वस्त प्रहरी रखिए। ज्यों ही देवकी का आठवाँ पुत्र हो, वह आपके हवाले किया जाए। जन्म लेते ही मृत्यु आपके चरणों में आ जाए।”

आचार्य के इस सुझाव पर कंस ने विचार किया, बड़ी गंभीरता से विचार किया। अंतःपुर के उस प्रकोष्ठ का सन्नाटा कंस की मुद्रा में डूबकर बोझिल होने लगा। थोड़ी देर बाद ही उसने आदेश दिया—“देवकी के बंधन खोल दिए जाएँ।”

तनाव ढीला पड़ा।

आचार्यजी बता रहे थे कि छूटते ही तुम्हारी माँ कटे पंख के पक्षी की तरह फड़फड़ाकर उनके चरणों पर गिर पड़ी और सिसकने लगी। जीवन की आशा समाप्त हो जाने के बाद जीवित रहने का सुख पुनरुज्जीवन जैसा रोमांचक होता है। माँ ऐसी ही रोमांचक मानसिकता में उनके चरणों पर गिरी थी।

पर आचार्य व्यग्र हो उठे थे। उन्हें लग रहा था कि इसे महाराज के चरणों पर गिरना चाहिए, पर यह गिरी है मेरे चरणों पर। कहीं कंस के अहं को इससे चोट तो नहीं लगेगी? क्योंकि सत्ता के घायल अहंकार की ऊष्मा किसे भस्म कर देगी, इसका ठिकाना नहीं।

“तुम मेरे चरणों पर नहीं, महाराज के चरणों पर गिरो, जिनकी कृपा से तुम्हें जीवनदान मिला है।” आचार्य ने कहा।...तब वह कंस के चरणों पर गिर गई थी। कंस खिल उठा था। उसे लगा, मृत्यु स्वयं उसके चरणों पर सिर पटक रही है।

एक निरंकुश शासक की महत्वाकांक्षा अहं के हिमालय पर तांडव करती है; पर उसे खुद नहीं मालूम रहता कि बर्फ कब पिघल जाएगी और वह कब लड़खड़ाकर गर्त में गिरेगी।

“देखो, मैं तुम्हारे आठवें पुत्र की प्रतीक्षा नहीं करूँगा। जन्म लेते ही तुम्हें अपने प्रत्येक पुत्र को दे देना होगा। कौन जाने वह आठवें की जगह सातवें या किसी और गर्भ से ही पैदा हो जाए!”

उस समय मेरी माँ की निरीहता अपने निर्मम भाई को निहारती रह गई थी।

□

गर्गाचार्य ने बताया था कि इस घटना से कंस पर मेरा प्रभाव बढ़ा। वह मुझपर बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने उसी समय कहा था—“जिस उचित सलाह की अपेक्षा मुझे महामात्य से थी, उसे आपने पूरी की। इसीलिए तो मैंने आपको इस मध्य रात्रि में बुलवाया था।...शायद आप मेरे आह्वान पर घबरा उठे हों।”

“घबराना क्या है, महाराज! मैं तो आपका चाकर हूँ। मेरा अस्तित्व ही आपकी कृपा पर है। जब भी आदेश दीजिएगा, दोनों हाथों और दोनों पैरों से उपस्थित हो जाऊँगा।”

सुना है, उस समय कंस के अहंकार को बड़ी संतुष्टि मिली थी। वह आचार्य पर गद्गद था, हाथ और पैरों से

उपस्थिति का आश्वासन पाकर। सोचता हूँ, किसी समय राजसत्ता ब्राह्मण के मस्तिष्क की उपस्थिति से प्रसन्न होती थी, अब उसका अहं ब्राह्मण के हाथ और पैरों की उपस्थिति से संतुष्ट होने लगा और ब्राह्मण की मानसिकता भी अपने यथार्थ चिंतन की उपेक्षा कर आश्रयदाता की चाटुकारिता में व्यस्त हो गई। जो निर्देशित था, वह चापलूस चाकर हो गया।...पतवार ही जब नाव पर बोझ बन जाय तब तो उसका डूबना निश्चित है।

किंतु नाव उस समय नहीं डूबी।

जब आचार्य कंस के प्रासाद से निकल रहे थे, दूर से आती ब्राह्म मुहूर्त की शंखध्वनि ने उनकी अगवानी की; किंतु प्रासाद के निकट मंदिर मौन खड़े थे। फिर भी उनमें जीवन सुगबुगा रहा था। पूजन की प्रक्रिया चल रही थी।

अजीब बात है, मंदिर में शंखनाद नहीं, घंटे-घड़ियाल की ध्वनि नहीं, देवदासियों का नर्तन नहीं, अग्निहोम की व्यवस्था नहीं। फिर ब्राह्म मुहूर्त की पूजा कैसी? स्वयं आचार्य को आश्चर्य था। उनके सामने ही एक पवित्र परंपरा ध्वस्त हो रही थी और वे मौन थे। आचार्य यदि पूछें भी तो किससे पूछें।

वे धुँधलके में ही आगे बढ़े। उन्हें लगा कि एक छाया प्रतिमा उनकी ओर बढ़ती चली आ रही है। अपनी गति को अपेक्षाकृत कम करते हुए वे चलते रहे। निकट आते-आते वह छायामूर्ति स्पष्ट होने लगी।

“आचार्य को अभिवादन करता हूँ।” उसने धीरे से कहा।

‘अरे, यह तो छंदक है!’ आचार्य ने तुरंत पहचान लिया।

“मैं आपको बधाई देता हूँ।”

“किस बात के लिए?”

“प्रासाद से जीवित निकल आने के लिए।”

“क्यों? मेरी पत्नी की तरह आप लोग भी मेरे जीवन के प्रति आशंकित थे क्या?”

“अवश्य ही।...और हमारी आशंका निराधार नहीं थी। मध्य रात्रि में आखिर आचार्य का आह्वान क्यों?”

“यदि मध्य रात्रि में ही आचार्य की आवश्यकता पड़ जाए तो?”

“ओ, अब समझा!” छंदक की मुद्रा व्यंग्यात्मक हुई—“मूल्य बदल गए हैं। ब्राह्म मुहूर्त में शंखनाद के बीच यज्ञों का धूम जहाँ वातावरण को सुरभित करता था, वहाँ आज सन्नाटा रेंग रहा है। वैसे ही जिन आचार्यों के हाथ अग्निहोम की हवि देते थे, हो सकता है, महाराज के कक्ष में आज मैरेय का पात्र भरने लगे हों।”

सुनते ही आचार्य खिलखिला पड़े और उनका साथ छंदक की हँसी ने भी दिया। पर दोनों की उन्मुक्त हँसी उस भयग्रस्त और शंकित वातावरण में अधिक देर तक बिखर न सकी।

“बड़ा विचित्र लग रहा है, छंदक!” छंदक के कंधे पर हाथ धरे आगे बढ़ते हुए आचार्य ने कहा, “ये मंदिर ब्राह्म मुहूर्त में भी कैसे गुमसुम खड़े हैं!...इनमें अर्चन-पूजन की कोई ध्वनि नहीं।”

“वह तो बहुत पहले से ही बंद हो गई है।”

“कब से?”

“जब से मुनिराज नारद प्रासाद में पधारे थे।” छंदक ने बताया—“इसके दूसरे दिन से ही इन मंदिरों को ब्राह्म मुहूर्त में मौन रहने का आदेश हो गया।”

“क्यों?”

“ठीक-ठीक तो कंस ही बता सकता है।” छंदक ने कहा, “...पर मैंने सुना है कि नारदजी की भविष्यवाणी के बाद उसे रात-रात भर नींद नहीं आती।...सवेरे-सवेरे लगती हुई आँखों को बाधा न पहुँचे, इसीसे इन मंदिरों को ब्राह्म मुहूर्त में चुप रहने का आदेश है।”

आचार्य एक क्षण के लिए मौन हुए, फिर बड़ी गंभीरता से बोले, “लगता है, अब कंस को देवताओं के प्रकोप का भी भय नहीं।”

“भय अब उसे मात्र एक रह गया है—और वह है देवकी के आठवें पुत्र का।” छंदक ने कहा।

“उसीकी रक्षा करके तो आ रहा हूँ।”

इतना कहने के बाद प्रासाद में घटित घटना आचार्य ने छंदक को सुनाई।

“यह तो हम जानते थे कि नारद की भविष्यवाणी के संदर्भ में कंस कुछ करेगा; पर हमें कभी विश्वास नहीं था कि वह अपनी प्रिय बहन की हत्या पर ही उतारू हो जाएगा।...जीवन का मोह व्यक्ति से कुछ भी करा सकता है।”

“व्यक्ति से नहीं, कंस से कहो।” और फिर एक खिलखिलाहट शून्य में तैरने लगी।

“वह सोचता है कि मैं मरूँगा ही नहीं।” छंदक बोला, “मैं तो उससे कहना चाहूँगा कि मूर्ख! मृत्यु के दूत यमराज के भैंसों पर सवार होकर नहीं आते, वे तो जीवन पर ही सवार होकर आते हैं। जिस दिन तू जनमा है उसी दिन तेरी मौत निश्चित हो चुकी है; फिर इतनी नृशंसता क्यों?”

“...तो कहते क्यों नहीं?”

“अभी समय नहीं आया है।”

“...तो समय की प्रतीक्षा करो और एक दशक तक बैठे रहो।”

“एक दशक तक!”

“...और नहीं तो क्या! देवकी का आठवाँ पुत्र आज ही तो आने वाला नहीं है। उसके लिए कम-से-कम दस साल तक प्रतीक्षा तो करनी ही होगी।”

छंदक चुप हो गया। उसे लगा कि डूबते-उतराते हम जिस किनारे की ओर बढ़े जा रहे थे, वह पास मालूम होने पर भी अभी बहुत दूर है। आचार्य ने उस धुँधलके में ही उसकी मुखमुद्रा पढ़ ली और दाहिने हाथ से ही उसका कंधा थपथपाते हुए कहा, “दस वर्षों का समय इतिहास में कुछ नहीं होता, छंदक!...और जब तक पाप का घड़ा नहीं भरता तब तक ईश्वर जन्म नहीं लेता।”

“...तो क्या सचमुच देवकी के आठवें गर्भ से ईश्वर का अवतार होगा?”

“नारद ने तो ऐसा ही कहा है।”

देखा आपने, जन्म के कितने पहले से ही ईश्वरत्व मुझपर थोप दिया गया।...और वास्तविकता यह है कि ईश्वरत्व पाना तो दूर, मैं उसे अब तक पहचान भी न पाया। ‘अणुते अणुयां महिते महियाम्’ की कल्पना भी कितनी दुरूह है। फिर मैं कर्म में विश्वास करनेवाला व्यक्ति, उसके भोग में विश्वास करनेवाला व्यक्ति, ‘अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्’ में व्यक्त होनेवाली मेरी आस्था इस ईश्वर के झमेले में कैसे पड़ती; फिर भी काल और नियति ने एक परिस्थिति के बाद दूसरी परिस्थिति को जोड़कर वह माला बनाई, जिसके पहनते ही मैं भगवान् की तरह पूज्य हो गया।

हाँ, तो मैं गर्गाचार्य से सुनी कथा सुना रहा था।

छंदक महामात्य प्रलंब का गुरुभाई था। वय में उससे बहुत छोटा था। शास्त्रज्ञ था। उग्रसेन के समय प्रासाद में उसकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। महाराज के बंदी बनाए जाते ही उसका प्रासाद में प्रवेश निषिद्ध हो गया। कहते हैं, उसने कंस के इस अनैतिक कार्य का विरोध भी किया, जिससे वह कंस के सैनिकों द्वारा प्रताड़ित हुआ। अब वह प्रत्यक्षतः सत्ता का विरोध नहीं करता, पर अप्रत्यक्षतः वह कुछ-न-कुछ किया ही करता है। भीतर-ही-भीतर उसने कंस के विरोधियों का एक दल ही बना रखा है। इसकी सूचना भी कंस को मिली। उसने छंदक के विनाश के लिए

कुछ भी उठा नहीं रखा।

जब जरासंध के मागधी सैनिक मथुरा में आए तब उन्होंने सबसे पहले छंदक के आवास में आग लगाई। छंदक तो किसी प्रकार बच गया, पर उसका सारा परिवार जल गया। कहते हैं, उसी धधकती अग्नि के समक्ष छंदक ने कहा था—“हे अग्निदेवता! मेरे परिवार का प्रत्येक व्यक्ति आज तुम्हारी पवित्र हवि बन गया है; फिर भी दुःखी नहीं हूँ। इसे भवितव्यता मानकर स्वीकार करता हूँ और तुम्हें प्रणाम करता हूँ; क्योंकि तुम्हीं सृष्टि की अस्मिता हो। तुम्हारी ऊष्मा कण-कण में व्याप्त है। वही तुम्हारा प्रच्छन्न रूप है। जब तुम प्रत्यक्ष होते हो, धू-धू करती तुम्हारी विकराल लपटें किसे नहीं निगल जातीं! तुम्हारी ही लीलाएँ दावाग्नि और बड़वाग्नि में दिखाई देती हैं।...हे प्रभो! इस समय तुम जल रहे हो, खूब जलो; पर जिस प्रकार तुमने अभी मेरे निर्दोष परिवार को निगल लिया है, उसी प्रकार मथुरा के इस पितृघाती निरंकुश शासक को भी निगल डालो।...”

अपने जलते हुए आवास के सामने कुछ उलटा-सीधा वह बड़बड़ा रहा था कि मागधी सैनिकों ने सुन लिया और उसे पकड़कर ले गए। इसके बाद उसीका कहना है कि उसकी दोनों आँखें निकलवा ली गईं और वह दर-दर की ठोकड़ों के लिए छोड़ दिया गया।

किंतु उसकी आँखें निकाली जाते किसीने देखा नहीं है। अवश्य ही वह आँखों पर पट्टी बाँधे रहता है। संसार के संपूर्ण प्रकाश से दूर हटकर वह अपने भीतर एक ज्वाला सुलगाए जी रहा है और मौके-बेमौके चिनगारियाँ बिखेरता है। उसकी छाया में ही कंस का विरोध यदा-कदा सुगबुगा उठता है।

उस रात को भी उसे प्रासाद के निकट ही घूमता देखकर गर्गाचार्य को भी आश्चर्य हुआ था। उन्होंने कहा था—“आश्चर्य है, मित्र, कि नेत्र न होने पर भी तुम रात-रात भर घूमा करते हो।”

“...क्योंकि मैं उलूक (कणाद मुनि) का वंशज हूँ।” और वह हँसने लगा था। क्षण भर बाद ही बड़ी गंभीरता से बोला, “आचार्यजी, मैं रात-रात भर मात्र घूमता ही नहीं हूँ वरन् चिनगारियाँ बोता हूँ।...और याद रखना, एक-न-एक दिन लपटों की लहलहाती फसल अवश्य काटूंगा। हो सकता है, वह दिन देवकी के आठवें पुत्र के जन्म के पहले ही आ जाए।”

“असंभव! नितांत असंभव!!...नारद की भविष्यवाणी की उपेक्षा मत करो।”

“मैं तो उपेक्षा नहीं करता, आचार्य! पर निरंकुशता के नीचे जन्म लेनेवाली क्रांति की छटपटाहट उसकी प्रतीक्षा भी नहीं कर सकती।”

आचार्य ने देखा कि छंदक एक चलती-फिरती आग है। वह कंस के सिंहासन के नीचे सो रहे ज्वालामुखी का मूल उत्स है। हर क्षण विस्फोट की प्रतीक्षा में जीनेवाला क्रांति का यह अग्रदूत कंस के सिर पर कच्चे धागे से तलवार की तरह लटक रहा है।

आश्चर्य है कि अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए अपनी प्यारी बहन का प्राण ले लेने के लिए व्यग्र कंस ने इस छंदक जैसे खतरनाक व्यक्ति को अभी तक जीवित रहने कैसे दिया?...इसमें न तो कंस की सहृदयता और न उपेक्षाभाव है, बल्कि छंदक जीने की कला जानता है। वह दिन में आँखों पर पट्टी बाँधे कराहता बिस्तर पर पड़ा रहता है और संध्या होते-होते धीरे-धीरे रेंगने लगता है। मध्य रात्रि के बाद तो तूफान हो जाता है।

उसकी प्रकृति और संकल्प के कारण ही गर्गाचार्य उससे मिलने से घबराते थे। इस समय भी वह बहुत अधिक बातें करना नहीं चाहते थे। कौन जाने कंस के किसी गुप्तचर की नजर ही पड़ जाए।

□

उस दिन के बाद से ही मेरे माता-पिता ने मुक्त आकाश नहीं देखा। कारा की अँधेरी कोठरियों में वे डाल दिए

गए।

फिर एक के बाद एक मेरे अग्रज जन्म लेते रहे और कंस की आशंका एवं भय की बलि चढ़ते रहे। सुना है, कंस यह जघन्य पाप भी समारोहपूर्वक करता था। बच्चे के जन्म लेते ही नगर में मुनादी फिरा दी जाती और दूसरे दिन राजप्रासाद के प्रशस्त प्रांगण में उत्सव होता। सभी अमात्य, सचिव और नगर के गण्यमान्य लोग उपस्थित रहते। अपने नवजात शिशु के साथ मेरे पिताजी बुलाए जाते। माँ अपनी शय्या पर ही चीखती-चिल्लाती रह जाती। उसका स्तनपान करता शिशु उससे छीन लिया जाता। कितना निष्ठुर, कितना निर्मम और कितना अमानवीय!...यदि मेरी माँ चल पाती तो शायद उसे भी घसीटकर उस उत्सव में लाया जाता।...पर वह तो जाल में फँसी मछली की तरह छटपटाती रह जाती थी।

समारोह में पणव, तूर्य और शंख बजते। कंस स्वयं अपने हाथों से शिशु के टुकड़े-टुकड़े करता और उसी क्षण एक प्रगल्भ हँसी उसके मुख से छूटकर समारोह पर बरसने लगती। विजयोन्माद की हँसी! मृत्यु को धराशायी करने की पागलों जैसी हँसी! इस अवसर पर चाटुकारों की भूमिका भी कम हास्यास्पद न होती। वे पुष्पवर्षा करते हुए अपने महाराजाधिराज के सुखद भविष्य की मंगल कामना करते और उसके इस पराक्रम एवं शौर्यपूर्ण कार्य को सराहते।

अद्भुत था एक नादान शिशु की हत्या का यह उत्सव, जिसे मृत्यु पर विजय का समारोह समझा जाता। भयातुर मन का अहं जितना निष्ठुर है, उतना ही कायर भी। इसके बाद सचमुच कायरों की तरह कंस सीधे अंतःपुर में चला जाता।

हर साल-डेढ़ साल पर ऐसा उत्सव होता और एक निरंकुश शासक का आतंक से भरा, भय से थरथर काँपता एक प्रभाव भोलीभाली जनता अपने मन में समेट लेती और आठवें शिशु की प्रतीक्षा करती। क्योंकि वह मान बैठी थी कि यह जघन्य पापी मनुष्य के हाथों नहीं मरेगा। इसके अंत के लिए किसी दैवी शक्ति की आवश्यकता पड़ेगी।

जबकि सत्य इसके बिल्कुल विपरीत है। मनुष्य किसी और से नहीं, अपने ही कर्मों से मारा जाता है।

मृत्यो न किञ्चिच्छक्यस्त्वमेको मारयितुं बलात्।

मारणीयस्य कर्माणि तत्कर्तृणीति नेतरत्॥

अंत में एक समय ऐसा भी आता है जब कर्म ही यमराज के दूत बनकर मनुष्य को घेरते हैं। मारता दिखाई पड़नेवाला व्यक्ति तो निमित्त मात्र होता है।

एक के बाद एक पाँच मेरे अग्रज मार डाले गए। छठे शिशु के मरण-महोत्सव में एक विशेष घटना घटी।

शिशु की हत्या के बाद विजयी मनःस्थिति में कंस अंतःपुर की ओर लौट रहा था कि शुभकामनाओं से लदी एक आवाज उसकी ओर फेंकी गई—“महाराज की जय हो! अंधकराज अमर रहें!” लोगों ने देखा, छंदक आँखों पर पट्टी बाँधे लड़खड़ाता चला आ रहा है।

गर्गाचार्य ने बताया था कि लोग उस समय चकित रह गए उसे देखकर। प्रासाद में वह आ कैसे गया? उसे प्रवेश कैसे मिला?

वह कंस की ओर दौड़ा। प्रतिहारियों और सैनिकों ने उसे रोका। वह वहीं से चिल्लाया—“कृपानिधान, मैं आपसे कुछ निवेदन करना चाहता हूँ।”

क्षण भर के लिए महाराज के बढ़ते कदम रुक गए। उन्होंने मुड़कर देखा। शायद पहचाना भी हो। फिर विजयी मुद्रा में बड़े उपेक्षाभाव से बोले, “जो कहना हो, महामात्य से कहो।”

“...किंतु महाराज, मैं आपसे ही कहना चाह रहा हूँ।”

“क्यों?”

“नितांत गोपनीय है।”

“गोपनीय!” कंस कुछ सोचने लगा।

छंदक को लगा कि उसकी ओषधि काम कर गई है। उसने एक मात्रा और दी—“महाराज, आप इसे स्पष्ट समझ लीजिए कि मैं यहाँ अपनी आँखें माँगने नहीं आया हूँ और न किसी वृत्ति की आकांक्षा से ही आपका आह्वान कर रहा हूँ। वस्तुतः आपके भविष्य की ही चिंता मुझे राजप्रासाद में ले आई है। मैं चाहता हूँ कि आप अभी रहें और आपके साथ जो छल किया गया है, आप उसे समझें।”

“मेरे साथ छल!” आशंकित मन का तार बज उठा। वह उसीकी ध्वनि में उसे समझने लगा। अवश्य ही छंदक उसे रहस्यमय लगा होगा। फिर भी वह उसे लेकर अंतःपुर में चला गया। सभी राजकर्मचारी और उपस्थित जन स्तब्ध रह गए।

घंटों छंदक कंस के मंत्रणाकक्ष में था।

गर्गाचार्य ने ही बताया कि औरों की तरह मैं भी सोचने लगा कि छंदक की इस नई राजनीति का रहस्य क्या है; पर कुछ समझ नहीं पाया। कई दिनों तक मौन आशंकाओं से मथुरा का सन्नाटा थरथराता रहा।

एक-दो महीने इसी तरह बीत गए कि एक रात कारागार में पड़े मेरे माता-पिता को मालूम हुआ कि बंदीगृह के प्रतिहारी बिना किसी सूचना के अचानक बदल दिए गए हैं। कारागार से सटी हुई यमुना बहती थी। उसके पिछले द्वार पर जल के थपेड़े लगते थे। मेरे माता-पिता को इसी द्वार से प्रतिदिन स्नान की अनुमति थी; पर अब यह सुविधा भी छीन ली गई। कारा के भीतर ही उनका संसार सिमट गया। औरों की कौन कहे, अब राजकर्मचारी भी उनसे मिल नहीं सकते थे। कारा का खुला आकाश ही उनका अपना था। वे उसी ओर अपनी कातर दृष्टि लगाते, नारद की भविष्यवाणी स्मरण करते और तारणहार की कल्पना में घंटों मग्न रहते।

□

नारद की भविष्यवाणी वह मरीचिका थी, जिसके पीछे मेरे माता-पिता की आशा का मृग दौड़ने लगा। कल्पनाएँ कल्लोल करने लगीं। यदि स्वप्न न होते तो जीवन भार हो जाता।...मेरे माता-पिता अपने सुखद स्वप्नों में ही जी रहे थे।

अब बहुधा राजवैद्य भी मेरी माता को देखने आया करते थे। शायद उन्हें अपने आश्रयदाता को गर्भाधान की सूचना देनी थी।...और एक दिन उन्होंने दे भी दी। अब उनपर पहरा कड़ा कर दिया गया। यहाँ तक कि आचार्य भी मेरे माता-पिता से मिल न सके।

बात क्या है? अभी तो सातवाँ ही गर्भ है! नारद ने तो आठवें बेटे के संबंध में बातें की थीं, फिर कंस इतना सजग क्यों? इतना सावधान क्यों? प्रशासनिक जागरूकता पूरे नगर में दिखाई पड़ने लगी। अब मथुरा की गलियाँ भी मागधी सैनिकों के पदचाप से बहुधा चरमराया करतीं।

आचार्यजी ने बड़ी चेष्टा की इस परिवर्तन का रहस्य जानने के लिए; पर वे किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचे। उन्हें इस परिवर्तन के भीतर भी एक परिवर्तन और दिखाई दिया। अब छंदक की शत्रुता पर कंस की मित्रता का पानी चढ़ गया है। अब वह प्रासाद में आने-जाने लगा है। एक-दूसरे के रक्त के प्यासों की यह मित्रता लोगों के आश्चर्य का कारण थी। हर कोई यह देख रहा था कि सर्प और मयूर की यह मित्रता जंगल पर क्या ढहाती है।

छंदक अब आचार्यजी से कटा-कटा रहता था; जैसे कभी की उनकी पहचान ही न हो। आचार्यजी को इसका दुःख था। उन्हें बड़ी वितृष्णा होने लगी थी। वे सोचते, सत्ता की निकटता जब इतनी मादक है तब सत्ता कितनी

मादक होगी। वह मनुष्य को कितना बदल देती है। जानवर तो ऐसा नहीं बदलता। शायद इसीलिए मनुष्य जानवर से श्रेष्ठ है।

एक रात शयन आरती के बाद शिव मंदिर के बाहर आचार्यजी को छंदक मिला।

“आज तुम्हें जाने नहीं दूँगा।”

“आखिर मैं जाता कहाँ हूँ?” छंदक खलनायकों की तरह मुसकराया।

“आज भले ही मत जाओ; पर जब-जब तुम्हें मेरी आहट लगती थी, तुम कतराकर जाते थे।”

“इसलिए कि इस तरह का कभी एकांत नहीं मिला।”

“जहाँ कंस से इतनी घृणा थी वहाँ अब नित्य प्रासाद में जाने लगे। आखिर इतना परिवर्तन कैसे?”

“परिवर्तन केवल क्रिया में है, उद्देश्य में नहीं।”

“मतलब?”

“मतलब यही कि आज भी मैं प्रासाद में चिनगारी बिखेरने जाता हूँ।”

“चिनगारी बिखेरने या पुष्पवर्षा करने?”

“पुष्पवर्षा!” छंदक जोर से हँसा। उसकी निर्व्याज हँसी उस अंधकार भरी स्तब्धता में बड़ी देर तक काँपती रही — “देखना, ये सारे पुष्प एक दिन चिनगारियों में बदल जाएँगे।” उसने कहा, “मैं जानता हूँ, मेरे इस परिवर्तन से मथुरा के अधिकांश लोग मेरे संबंध में वैसा सोचते होंगे जैसा आप सोचते हैं!”

“मैं क्या सोचता हूँ?”

“यही कि छंदक आजकल चापलूस हो गया है। कंस को विश्वास में लेकर किसी स्वार्थसिद्धि में लगा है।” इतना कहकर वह पुनः हँसा— “यह तो अवश्य है कि मैं उसे विश्वास में ले रहा हूँ; पर किसी स्वार्थ के लिए नहीं वरन् उसकी आँखें बंद कर अग्निकुंड में ढकेल देने के लिए।”

“इसका तात्पर्य यह है कि तुम अपने स्वार्थ के लिए नहीं वरन् मथुरा के स्वार्थ के लिए चिंतित हो...।”

“...बल्कि परमार्थ के लिए कहिए।” आचार्य की बात काटते हुए छंदक बोला, “जिसका शासन अनीति पर स्थित हो, जहाँ निरीहों के रक्त से तलवारें अपनी प्यास बुझा रही हों, जहाँ तपस्वी सताए जा रहे हों, जहाँ विद्वानों की जिह्वा पर ताला डाल दिया गया हो, वहाँ के शासक को यदि अग्नि में झोंक दिया जाय तो निश्चित ही पुण्य की प्राप्ति होगी।”

आचार्य को लगा कि छंदक में दिखाई पड़नेवाला परिवर्तन सतही है। उनके मन में बननेवाली छंदक की छवि एकदम बदल गई। वह प्रसन्न हुए और उसके कंधों पर हाथ रखकर उसे मंदिर के प्रांगण में लगी अमराइयों के झुरमुट में ले गए।

रात्रि का मध्य प्रहर और ग्रीष्म ऋतु।

दिन भर की तपती धरती को पवन अपने शीतल झोंकों से सहलाने लगा था। वातावरण उनींदा-उनींदा। आचार्यजी ने इस स्तब्धता का पूरा लाभ उठाते हुए छंदक को और अधिक खोलने की चेष्टा की।

पहले उसने आचार्य से शपथ ली कि वे इसकी गोपनीयता को रंच मात्र भी उद्घाटित नहीं करेंगे, फिर उसने बताया — “मैंने कंस से कहा है कि नारद ने आपको धोखा दिया है। आपका संहारक देवकी का आठवाँ बेटा नहीं वरन् सातवाँ होगा।”

“...तो क्या उसने तुम्हारी बात का विश्वास कर लिया?” आचार्य ने पूछा।

“पहले तो नहीं किया। वह सोच भी नहीं सकता था कि मुनि भरी सभा में झूठ बोल सकते हैं; पर मैंने उसे अच्छी

तरह समझाया कि नारद मात्र भविष्यद्रष्टा और मुनि ही नहीं हैं वरन् एक प्रखर राजनीतिज्ञ हैं—और राजनीतिज्ञ के लिए सत्य और झूठ एक सिक्के के दो पहलू मात्र होते हैं। उपयोगिता के आधार पर ही वह उन्हें परखता है। सत्य में उसकी कोई आसक्ति नहीं, झूठ से उसकी कोई विरक्ति नहीं।...जैसा अवसर देखा और जिससे लाभ की संभावना बनी, वह बोल दिया।”

“कंस ने यह नहीं पूछा कि नारद के इस झूठ के पीछे उद्देश्य क्या है?”

“पूछा था। मैंने बताया कि उनकी मंशा है कि आपका सारा ध्यान आठवें पुत्र पर केंद्रित रहे और सातवें को वह किसी प्रकार बचा लें।”

“किंतु तुम्हारे इस झूठ के पीछे तुम्हारी मंशा क्या है?” आचार्य बोले।

“...कि कंस का सारा ध्यान सातवें पर केंद्रित हो जाए और मैं आठवें को बचा लूँ।” छंदक की कुटिल मुसकराहट का अनुभव आचार्य को उस अँधेरे में भी हुआ—“मैंने उससे एक बात और कही है।”

“क्या?”

“...देवकी का यह सातवाँ पुत्र चमत्कारी होगा। उसे काटकर फेंक देने के बाद भी यदि कोई उसके अंगों को सावधानीपूर्वक मिला देगा तो वह जी उठेगा, उसमें प्राण-प्रतिष्ठा हो जाएगी।”

“तब तो अपने श्वसुर जरासंध का अतीत उसकी आँखों के सामने आ गया होगा?”

“तभी तो उसने विश्वास भी कर लिया।”

“आश्चर्य होता है, छंदक, तुम्हारे और उसके संबंधों को देखते हुए।...आखिर उसने तुम्हारा विश्वास कैसे कर लिया?”

छंदक ने बताया—“वस्तुतः कंस विश्वास करने की स्थिति में नहीं था। घंटों मेरे और उसके तर्क टकराते रहे; किंतु जब मैंने उसके मन में बैठा दिया कि हर तूफान एक सीमा के बाद अपना सिर फोड़कर आत्महत्या कर लेता है, हर आग स्वयं को ही राख कर बुझ जाती है, वैसी ही आज मेरे विरोध की स्थिति है। बहुत हाथ-पैर मारकर भी जब वह कुछ नहीं कर पाया है, तब उसने अपना सिर खुद फोड़ लिया है। अब वह समाप्त हो गया। एकदम बदला हुआ छंदक आपके चरणों में आया है। महाराज! अब वह चाहता है कि शेष जीवन शांति से बिताए और आपकी ही छाया में पड़ा रहे।...बड़ी कठिनाई से मैं उसके विश्वास पर अधिकार कर पाया।”

“फिर क्या हुआ?” आचार्य की जिज्ञासा चरम बिंदु पर थी।

“हुआ क्या! मेरी-उसकी निकटता निरंतर बढ़ती गई; क्योंकि मैं नारद की भविष्यवाणी का एक से बढ़कर एक रहस्य बताता रहा।” उसके बाद एक व्यंग्यात्मक हँसी फिर उसके अधरों से छूटी—“जानते हैं, आचार्यजी, अब उसे कोई दुःख था तो बस एक, मेरी आँखों के चले जाने का। उसने कई बार अफसोस व्यक्त किया कि ‘यदि मुझे तुम्हारी स्वामीभक्ति का जरा भी विश्वास होता, तो मैं मागधी सैनिकों को कभी ऐसा करने न देता।’...मैंने बस इतना ही कहा—‘इसमें आपका कोई दोष नहीं, महाराज! मैं बस अपने कर्मों का फल पा रहा हूँ।’...और अब तो मैं उसपर छा गया हूँ। प्रतिदिन प्रासाद में जाता हूँ। कभी न जाऊँ तो कंस के विश्वस्त सैनिक मेरे आवास पर पहुँचते हैं। मेरे बिना अब उसे चैन नहीं। उसकी नींद हराम।”

बातों के ही विस्तार में छंदक ने बताया—“अब कंस की सारी सजगता और उसकी क्रूरता की सीमा हम इस देवकी के सातवें पुत्र के जन्म के समय में ही देख लेंगे।”

“सजगता से तो हम कुछ लाभ उठा सकते हैं, पर क्रूरता से क्या फायदा?”

“रह गए तुम पोंगा पंडित ही!” छंदक हँसा—“इतिहास इसका साक्षी है कि सत्ता की जघन्य क्रूरता में जन-क्रांति

का बीज फूटता है।...और मैं उसी क्रूरता का प्रदर्शन कंस से कराना चाहता हूँ। जनता देख ले कि हमारा स्वामी कितना निर्मम, कितना निष्ठुर और कितना आततायी है।...उसके वध में भी कोई उपाय नहीं।”

“इसका तात्पर्य है कि कंस के वध की तैयारी तुम कर रहे हो; देवकी के आठवें पुत्र में तुम्हारी आस्था नहीं, नारद की भविष्यवाणी पर तुम्हारा विश्वास नहीं!” आचार्यजी ने छंदक के अहं को एक बार अच्छी तरह झकझोरा।

वह शीघ्र ही धरती पर आ गया—“नहीं, ऐसी बात नहीं। जो कुछ होता है, वह सब भगवान् की प्रेरणा से होता है। हम स्वयं कुछ भी नहीं कर सकते। हो सकता है, यह सब करने के लिए मुझे प्रभु ने ही प्रेरित किया हो। मैं तो निमित्त मात्र हूँ।”

सुना आपने, मेरे जन्म के पूर्व ही छंदक मेरी भाषा बोलने लगा था। आखिर मैंने अर्जुन से यही तो कहा था—‘निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्’।

□

इसी बीच एक और घटना घटी।

एक रात घबराया हुआ छंदक आचार्य के घर पहुँचा। रात्रि का यौवन लगभग ढलने की ओर था। ब्राह्म मुहूर्त के कुछ पहले ही जग जानेवाले आचार्य गहरी नींद में थे। छंदक ने उन्हें जगवाना चाहा। पहले मारुति ने आनाकानी की; किंतु शीघ्र ही छंदक के बढ़ते प्रभाव के समक्ष वह नतमस्तक हो गया और अपने पिता को जगाकर ले आया।

“क्षमा कीजिएगा। इस मध्य रात्रि में मैंने आपको कष्ट दिया।” आचार्य को देखते ही छंदक बोला।

“कष्ट का प्रश्न ही क्यों? मैं तो चाकर हूँ।” आचार्य ने सोचा, प्रासाद का आमंत्रण लेकर यह आया है—“महाराज की आज्ञा है तो चलना ही पड़ेगा।”

“महाराज की आज्ञा होती तो मैं न आता। कोई प्रासाद का प्रहरी ही आपकी सेवा में उपस्थित होता।” छंदक ने मुसकराते हुए आचार्य की ओर देखा।

आचार्य की आकृति की झुर्रियों के बीच उभरा तनाव ढीला पड़ा। वे मुसकराए—“अच्छा, तो यह प्रासाद का नहीं, प्रासाद के बाहर का कष्ट है।...विश्वास रखो, छंदक! मथुरा का कोई भी कष्ट झेलने के लिए यह सेवक सदैव तैयार है।”

“इसका तात्पर्य है कि आप प्रासाद के कार्य के लिए तैयार नहीं हैं।” छंदक ने व्यंग्य किया—“तब आपका चाकर धर्म कहाँ गया?”

“मेरा चाकर धर्म प्रासाद में रहता है और प्रासाद के बाहर मैं।...प्रासाद में मेरी विवशता है और बाहर मेरी स्वतंत्रता।”

“कहाँ है आज मथुरा में स्वतंत्रता?” छंदक बोला। उसे लगा कि वह हरि भजन को आया है और कपास ओटने लगा है। उसने शीघ्र ही बातों का सिलसिला दूसरी ओर मोड़ा—“मैं आपसे कुछ गंभीर मंत्रणा करने आया हूँ।”

आचार्य ने मारुति को संकेत से हट जाने के लिए कहा। वह भीतर चला गया। बात आगे बढ़ी—“मेरा विचार है कि देवकी के स्वास्थ्य की परीक्षा करने अब वैद्यराज न जाया करें।”

“क्यों?”

“वह कंस का शत-प्रतिशत आदमी है। उसके रहते हमारी योजना पूरी नहीं हो सकती।”

“...पर उसे हटाया भी तो नहीं जा सकता।” आचार्य बोले, “वह भी कौन कहेगा उसे हटाने के लिए? और किससे कहेगा?”

“इस बात को किसी तरह हमें देवकी के कान में पहुँचाना है कि वह स्वयं एक लिखित आवेदन करे कि वह

अपने स्वास्थ्य की परीक्षा किसी पुरुष से नहीं कराना चाहती। बस इतने से काम बन जाएगा।” छंदक ने कहा, “इसके अतिरिक्त वैद्यराज को हटाने का दूसरा बहाना भी नहीं बनाया जा सकता।...ज्यों ही आवेदन पत्र आएगा, कंस मुझसे अवश्य सलाह लेगा।”

“पर यह कार्य भी सरल नहीं है।...कारागार में किसी सूचना को पहुँचाना! बाप रे बाप! वहाँ महाराज की आज्ञा के बिना पंख भी नहीं फटक सकता।”

“काम हो सकता है, यदि आप प्रलंब से कहें। वह कोई-न-कोई उपाय अवश्य निकाल लेगा।”

“प्रलंब से!” आचार्य चकित रह गए—“क्यों मुझे तुम सर्प के बिल में हाथ डालने के लिए कहते हो?”

“आप गलत समझते हैं। महामात्य तो पहले से ही कंस से दुःखी है और अब तो उसका दुःख दूना हो गया है। इधर बराबर उसकी उपेक्षा हो रही है। हर बात में अब महाराज मुझसे ही सलाह लेते हैं। उसके संबंध में खुलेआम कहते हैं कि इसकी वृद्धता का प्रभाव इसकी बुद्धि पर भी पड़ गया है। अब वह भी लड़खड़ाने लगी है।”

“इसका तात्पर्य हुआ कि अब प्रलंब सबसे अधिक तुमसे ही जलता होगा।”

“निश्चय ही।” छंदक बड़े विश्वास से बोला, “वह एक दिन मुझसे ही कह रहा था कि आपने मेरा कार्य तो सँभाल ही लिया है, अब पद भी सँभाल लीजिए।...अब मैं अपने दायित्व से मुक्त होकर संन्यास लेना चाहता हूँ।”

“तब तुमने क्या कहा?”

“कहा कि ईश्वर चाहेगा तो यह भी शीघ्र हो जाएगा।”

“बड़े विचित्र हो जी! सीधे-सीधे कह दिया तुमने!”

“न कहता तो क्या अपने संबंध में संदेह पैदा कराता।” छंदक की आकृति पर एक कूटनीतिज्ञ आभा उभर आई—“प्रासाद के सभी लोग मुझे प्रासाद का व्यक्ति समझते हैं और मैं इस छवि को जरा भी विकृत होने देना नहीं चाहता।”

गर्गाचार्य ने बताया कि उसी दिन से छंदक का वह लोहा मान गए। पर जैसा कि उन्होंने कहा था, यह कार्य सरल नहीं था। कई बार वे प्रलंब से मिले भी। घंटों इधर-उधर की बातें होती रहीं; पर वह मतलब की बात कह नहीं पाए। एक बार वे बहाना बनाकर महामात्य निवास पर भी गए। प्रलंब ने अपना ही रोना आरंभ किया—“कितने दिनों से इस राज्य की सेवा में हूँ। इसके पहले भी हमारे पूर्वजों ने इस सिंहासन की सेवा में अपनी निष्ठा अर्पित की थी।...आप तो सब जानते ही हैं, आचार्यजी। पर आज मैं जितना संदेह की दृष्टि से देखा जाता हूँ, शायद दूसरा नहीं। इतनी उपेक्षा और अवमानना के बाद तो यही इच्छा होती है कि इस चाकरी को तिलांजलि दूँ और संन्यास ले लूँ।”

“इस समय एक आँधी चल रही है, महामात्य! चुपचाप बैठे रहिए, इसे सिर पर से निकल जाने दीजिए।”

आचार्य ने ही मुझे बताया था कि इसके बाद कुछ समय तक प्रलंब कुछ सोचता रहा। फिर अचानक बोलने लगा—“आप देखिए न, वह श्रेष्ठी छंदक अब कंस का सबकुछ हो गया। याद है न, महाराज उग्रसेन के बंदी बनाए जाने के समय उसने कैसा तांडव किया था!”

“सब याद है।”

“आज वही महाराज की नाक का बाल है। जाने कौन सा मंत्र उसने पढ़ा दिया है।...अब देवकी एवं वसुदेव पर पहरा और गहरा कर दिया गया है।”

“पहरा जो गहरा किया है वह तो किया ही है, पर एक आश्चर्य और हो रहा है। एक पुरुष वैद्य को युवती के गर्भ निरीक्षण के लिए भेजना क्या उचित है? वह भी एक ऐसी युवती, जो राजवंश की हो, महाराज की सगी बहन हो!

सुना है, वसुदेव इससे बहुत दुःखी हैं।”

“यह आपको कैसे पता?”

“उड़ती खबर है; पर किसीसे कहिएगा नहीं।” आचार्य ने चारा फेंका; किंतु स्थिति का पंछी जाल में नहीं आया। प्रलंब सोचने लगा। “अब बताइए, इतना अनुचित कार्य!...पर कहूँ भी तो किससे कहूँ? और कौन सुनने वाला है! फिर वह वैद्यराज भी आजकल महाराज से काफी चिपका है। उसके संबंध में कुछ कहना खतरे से खाली नहीं।”

उस दिन भी आचार्य खुलकर कुछ कह नहीं सके। उन्हें लगा कि प्रलंब से इस तरह की चर्चा करना ही व्यर्थ है। अपने संबंध में स्वयं चिंतित व्यक्ति दूसरों की चिंता का क्या कर सकेगा।

दो या तीन दिनों के बाद ही उस आवेदन पत्र पर विचारार्थ मंत्रणा समिति की बैठक आहूत हुई। निश्चित है कि वह आवेदन एक या दो दिन पहले ही महाराज को मिल गया था। समिति में मात्र तीन ही व्यक्ति—छंदक, प्रलंब और प्रद्योत आमंत्रित थे।...पूरी शब्दावली तो मुझे याद नहीं है; किंतु मेरी माँ ने जहाँ तक मुझे बताया है, पत्र इस प्रकार था—

‘अग्रजश्रेष्ठ,

‘आरंभ में ही मैं यह स्पष्ट कर देना चाहती हूँ कि मैं यह पत्र नितांत व्यक्तिगत लिख रही हूँ और वह भी अपने अग्रज को। यह सर्वविदित है कि मेरे और आपके संबंध अब दो संदर्भों में हैं। एक तो आप मेरे बड़े भाई हैं और मैं आपकी अभागिनी छोटी बहन। दूसरे, आप मेरे राजा हैं और मैं कारागार में पड़ी आपकी दुर्भाग्यग्रसित प्रजा। यह भी बात प्रत्यक्ष है कि मेरा अभाग्य विशुद्ध मेरा है, वह आपकी ओर से थोपा नहीं गया है।...कितनी विचित्र विडंबना है कि आपके तथाकथित संहारक को जन्म लेने के लिए आखिर मेरा ही कुक्ष था। इतने बड़े प्रदेश में किसी और के जिम्मे यह दुर्भाग्य नहीं पड़ा, अन्यथा मैं यह कष्ट क्यों भोगती! जितनी आत्मीयता और प्यार पाती रही थी, पाती रहती। मैं कभी भूल नहीं सकती कि विवाह के बाद आपने मेरा मांगलिक रथ हाँका था। कितनी आत्मीयता पाती रही हूँ। आज भी सोचती हूँ तो मन भर आता है। काश, यह दुर्भाग्य मेरे साथ न लगा होता तो आज सुख से स्वर्ण हिंडोले पर झूलती राजपरिवार के आनंद का भागीदार बनती; पर लगता है कि यह सब नियति को फूटी आँखों नहीं सुहाया। आज कारा में पड़ी हूँ—संसार से अलग-थलग। पति के अतिरिक्त कोई साथी नहीं। पहले तो प्रतिहारियों से ही कुछ बातें हो जाया करती थीं, पर अब वे भी बात करने से कतराते हैं। सन्नाटे को झेलती और एकांत को भोगती रह जाती हूँ। कारा की ऊँची मुँडेर से जब कोई पिक हमारी इस दशा पर चीखता है तब लगता है, हमसे सहानुभूति रखनेवाला या हमें समझनेवाला भी कोई है।

‘फिर भी इस सारी परिस्थिति के संबंध में मुझे कुछ नहीं कहना है; पर जो कहना चाहती हूँ उसे कैसे कहूँ? सोचती हूँ, चुप रहने से अपने से अधिक आपके प्रति अन्याय होगा।

‘हमें आपकी आज्ञा शिरोधार्य थी। अब तक अपने शिशु के जन्म की सूचना मेरे पूज्य पति स्वयं द्वारपालों को देते थे। कितना निष्ठुर यह काम था। कलेजे पर पत्थर रखकर किया जाता था।...इस कार्य में कभी कोई चूक नहीं हुई। फिर भी इस बार के गर्भस्थ शिशु के संबंध में आपकी ओर से बड़ी सावधानी बरती जा रही है। आपके आदेश-पालन के प्रति हमारी निष्ठा पर ऐसा अविश्वास क्यों?...फिर भी हम समझते हैं कि आप हमारे अन्नदाता हैं, जीवनरक्षक हैं; जो कुछ भी करते होंगे, हमारे शुभ के लिए ही करते होंगे।

‘किंतु जब वैद्यराज मेरा परीक्षण करने आते हैं, मैं लज्जा से गड़ जाती हूँ। हे प्रभो, आज मेरी यह स्थिति कि कोई पर पुरुष मेरे तन का स्पर्श करे! यद्यपि मैं वैद्यराज के संबंध में कुछ कहना व्यर्थ ही समझती हूँ।

‘भैया! आखिर मैं भी आपके साथ ही राजपरिवार में पली हूँ। मेरी सुलगती हुई इज्जत के धुएँ से क्या राजपरिवार

के मुख पर कालिख नहीं लगेगी?

‘दूसरा निवेदन मैं एक प्रजा की स्थिति से अपने राजा से करना चाहती हूँ; क्योंकि प्रजा को राजा से न्याय माँगने का पूरा अधिकार है। महाराजाधिराज! आप स्वयं सोचें, एक सती-साध्वी के तन पर बिना उसकी इच्छा के किसी पर पुरुष का हाथ लगाना क्या उचित है?

आपकी हतभागिनी बहन,
देवकी’

मेरी माँ की सूचनानुसार पत्र की शब्दावली भी आचार्यजी की थी। उन्होंने पूरा पत्र ही लिखकर सैरंध्री को दिया था। माँ ने उसकी प्रतिलिपि भर कर दी थी, अन्यथा इतनी नीतिज्ञ भाषा माँ के पास कहाँ थी! पर उसमें समझ थी। परिस्थितियों की चोटें उसे बराबर तराशती जा रही थीं—और एक सरला के भीतर से कूटनीतिज्ञ का जन्म हो रहा था। मेरे जन्म के बहुत पहले से ही परिस्थितियों ने मेरी माँ का निर्माण आरंभ कर दिया था। मेरी सारी कूटनीतिज्ञता उन्हीं परिस्थितियों का परिणाम है, जो मेरे जन्म के पूर्व अपना जाल बुनने लगी थीं।

□

मेरी माँ का प्रतिवेदन काम कर गया। पढ़ते ही कंस विचलित हो उठा। पशुत्व के चरम विकास पर भी कंस की मानवता मरी नहीं, वह मूर्च्छित अवश्य थी। इस समय वह सुगबुगा उठी। उसने मंत्रणा समिति में स्पष्ट कहा, “सोचता हूँ, देवकी की स्वास्थ्य परीक्षा की नई व्यवस्था समाप्त कर दी जाए।”

“क्यों?” सबकुछ जानते हुए भी छंदक ने पूछा।

“क्योंकि यह उचित नहीं है कि एक महिला की गर्भ परीक्षा पुरुष करे।”

“यह बात तो ठीक है।” छंदक की स्वामीभक्ति का नया दृश्य आरंभ हुआ—“किंतु मैं गर्भ परीक्षा समाप्त करने के पक्ष में नहीं हूँ। हाँ, वैद्यराज को हटाकर आप किसी महिला को नियुक्त कर सकते हैं; क्योंकि सजगता जहाँ भी लड़खड़ाई, विपत्ति उत्पन्न हो सकती है।”

कंस सोच में पड़ गया। एक नितांत विश्वस्त व्यक्ति को हटाकर दूसरे को रखने का तात्पर्य था, उस व्यक्ति के प्रति अविश्वास करना। इससे वैद्यराज नाराज भी हो सकते थे। जिस तनाव से कंस गुजर रहा था उसमें ऐसी स्थिति अपेक्षित नहीं थी।

परिस्थिति समझते छंदक को देर नहीं लगी। वह बोला, “अच्छा हो, आप वैद्यराज को सारी स्थिति समझा दें और स्पष्ट कहें कि आप इसे अन्यथा न लीजिए।... मुझे किसी महिला को ही देवकी की गर्भ परीक्षा के लिए नियुक्त करना पड़ेगा।”

ऐसा ही हुआ। वैद्यराज ने स्वीकृति दे दी; पर गाँठ तो मन में पड़ ही गई। ऐसी अटूट कर्तव्यनिष्ठा के बाद भी यह अविश्वास उसे सह्य नहीं था।

यद्यपि वह प्रतिदिन प्रासाद में महाराज की स्वास्थ्य परीक्षा के लिए आता था, पर राजभवन से उदासीन ही रहता था। एक दिन कंस के प्रकोष्ठ से निकलते हुए उसका सामना छंदक से हो गया।

“कहिए वैद्यराजजी, प्रसन्न तो हैं?”

“प्रसन्न ही हूँ न! भगवान् जिस स्थिति में रखे, प्रसन्न ही रहना चाहिए।” कब तक सँभालता, अंतर्द्वंद्व आखिर झलक ही पड़ा—“इस बुढ़ाई में भी कलंक लगना था, लग गया।”

“कैसा कलंक?”

“इस बूढ़े वैद्यराज पर स्त्री के तन पर हाथ लगाने का।” एक वेदना भरी मुसकराहट उसके अधरों पर उठी। छंदक

सबकुछ जानते हुए भी अनजान बना रहा। वैद्यराज बोलते गए—“इतने दिनों से प्रासाद में आता हूँ। अंतःपुर में जाता रहा हूँ। महिषियों की चिकित्सा करता रहा हूँ; पर कभी किसीने भी मेरी निष्ठा और नैतिकता पर अँगुली नहीं उठाई।...आज मैं वंचक करार दिया गया।”

“नहीं-नहीं, ऐसी बात नहीं है। महाराज तो आपको बहुत मानते हैं।...कोई बात हो गई होगी।” छंदक ने बड़ी चतुराई से बात को मोड़ने की चेष्टा की।

“जरूर कोई बात हो गई है। भगवान् महाराज का कल्याण करे!” एक जलती आह छोड़कर वैद्यराज आगे बढ़ गए।

‘चलो, एक जगह और आग लगी।’ वैद्यराज की खिन्नता पर छंदक परम संतुष्ट हुआ। वह प्रसन्न था कि जिस महाराज का मुख्य चिकित्सक असंतुष्ट हो जाए उसका जीवन ही कितने दिनों का!...पर वैद्यराज ऐसा है नहीं। उसकी ईमानदारी कभी खलित हो नहीं सकती। सबकुछ होने पर भी वह कंस को विष नहीं दे सकता। और यदि कंस को विष ही दे देगा तो नारद की भविष्यवाणी कैसे सत्य सिद्ध होगी!

अब देवकी की गर्भ परीक्षा के लिए राजप्रासाद की एक प्रमुख परिचारिका सुवासिनी नियुक्त की गई। यथा नाम तथा गुणवाली सुवासिनी कंस प्रासाद की गंधवाहिका थी, बहुचर्चित और आकर्षक व्यक्तित्ववाली। विभिन्न पुष्पों की गंध एकत्रित करना और उसे राजप्रासाद में पहुँचाना उसका काम था। सुगठित शरीरयष्टि और गौर वर्णवाली। इतना कहने मात्र से उसके सौंदर्य के प्रति न्याय नहीं किया जा सकता। यही समझिए कि बंधूक पुष्प की अरुणिमा को नवनीत में मिलाकर बनाई गई नितान्त कोमल तथा सजीव पुत्तलिका थी वह। मुसकराती थी तो फूल झरते थे। अपनी चाल से हंस को भी लज्जित करनेवाली यह अनिंद्य सुंदरी मंद गंधवाह की तरह जिसकी बगल से निकल जाती, वह सुवासित हो जाता था।

अनेक हृदयों में समाई और अनेक आँखों पर चढ़ी यह राजसेविका काजल की कोठरी में रहकर भी उसकी कालिमा से अस्पृश्य रह लेती थी। यही उसकी सफलता थी, जो उसकी प्रकृति बन गई थी। वह अपने काम से काम रखती। न किसीसे व्यर्थ बोलना और न किसीसे व्यर्थ अपेक्षा करना। यदि राजकर्मचारी की आवाज कभी उससे टकरा भी गई, तो उसके सलज्ज कपोलों पर रक्ताभ कमलों की ललाई दौड़ आती और वह सिर नीचा किए चुपचाप आगे बढ़ जाती। ऐसी थी सुवासिनी, जिसके नाम, काम और व्यक्तित्व—सभी में फूलों की गंध बसी थी।

कंस की यह अत्यंत विश्वस्त परिचारिका मेरी माँ की बालसखी थी। जब से वह कारागार में डाली गई तब से वह बड़ी दुःखी थी। शांत ज्वालामुखी की तरह भीतर-ही-भीतर जलती हुई भी वह अपने ऊपर हरियाली ओढ़े रहती थी। इसीलिए जब उसके नाम का प्रस्ताव छंदक ने किया तो कंस उसका विरोध न कर सका।...फिर तो सुवासिनी रोज मेरी माँ से मिलने लगी।

गर्गाचार्य ने मुझे बताया कि इसके बाद वह छंदक की कूटनीति का लोहा निश्चित रूप से मान गए। उसने एक तीर से कई शिकार एक साथ किए। वैद्यराज को महाराज की ओर से असंतुष्ट कराया। मेरी माँ और सुवासिनी जैसे दो पुराने मित्रों को मिलाया और कंस को गंभीर भुलावे में रखा।

□

ज्यों-ज्यों मेरी माँ के सातवें गर्भ का दिन पूरा होता गया त्यों-त्यों कंस की सजगता बढ़ती गई। यहाँ तक कि उसने मगध के राजकुमार वृत्तघ्न को भी बुला लिया। शासकीय सावधानी और उसके आतंक से मथुरा थराने लगी। लोग समझने लगे कि देवकी का सातवाँ गर्भ उसके अन्य गर्भों की अपेक्षा अवश्य ही अधिक महत्व का है।

ऐसी ही एक भयग्रस्त संध्या को यादवों का एक वृद्ध सरदार बाहुक अंधक राजभवन में आया। लगभग नब्बे

वर्ष का यह बूढ़ा एक यादव युवक का सहारा लेकर आया था।

बाहुक प्रद्योत के पितामह का भाई था। उसे प्रद्योत का पितामह ही कहिए; क्योंकि प्रद्योत के पिता और दादा बहुत पहले ही स्वर्ग सिंधार चुके थे। इस आगमन में बाहुक ने प्रद्योत से कोई संपर्क नहीं रखा। वह सीधे कंस से मिला। कंस अपने प्रमोद उद्यान में टहल रहा था।

“महाराज की जय हो!”

“अरे तात आप!” कंस ने मुड़कर देखा, तब तक प्रद्योत भी आ गया था। “आखिर आपने कष्ट क्यों किया?” एक लता प्रकोष्ठ की ओर बढ़ते हुए कंस बोला।

“केवल आपसे बातें करने के लिए।” बाहुक की भर्राई आवाज वृद्धता से बोझिल और मनस्ताप से जल रही थी—“आज तक मैंने आपसे कभी कुछ नहीं कहा। अब जीवन की सांध्य वेला है। पता नहीं साँसों का यह क्रम कब टूट जाए। सोचता हूँ, एक निवेदन करूँ।”

“कहिए, कहिए।” कंस बोल तो पड़ा, किंतु उसे लगा कि बूढ़े की इतनी लंबी भूमिका के बाद कुछ अप्रत्याशित घटने जा रहा है।

“मैं चाहता हूँ कि आप प्रायश्चित्त कर डालें।”

“किसका प्रायश्चित्त? किसके लिए प्रायश्चित्त?”

“अपने कर्मों का प्रायश्चित्त।” बाहुक की ध्वनि और गंभीर हुई—“और अपने कर्मों के लिए प्रायश्चित्त।”

आप विश्वास नहीं करेंगे, आचार्य ने मुझे बताया कि कंस बाहुक अंधक को कुछ क्षणों तक एकटक देखता रह गया। उसके नेत्रों से चिनगारियाँ छूटती रहीं—“इसका तात्पर्य है कि मेरे कर्म निंद्य हैं।”

“इसमें भी कोई संदेह है, महाराज! जो अपने पूज्य पिता को बंदी बनाकर सिंहासनारूढ़ हुआ हो, जिसने मथुरा में खुलेआम रक्तपात किया हो, जिसके आतंक के समक्ष भयग्रस्त हो प्रजा मौन हो गई हो, उसका कार्य निंद्य नहीं तो और क्या है?”

कंस को कभी विश्वास नहीं था कि उसके मुँह पर भी कोई ऐसा कहनेवाला हो सकता है। वह एकटक बाहुक का मुख देखता रह गया। यदि कोई और होता तो वह उसे कच्चा चबा जाता। वह पता नहीं क्यों खून का घूँट पीकर रह गया। वह बड़बड़ाया—“मेरे कार्य निंदनीय ही रहने दीजिए। मैं प्रायश्चित्त नहीं करूँगा।”

“आपको अवश्य प्रायश्चित्त करना चाहिए। कम-से-कम नारदजी की भविष्यवाणी झुठलाने के लिए तो करना ही चाहिए।”

“इसका मतलब है कि मैं स्वयं प्रायश्चित्त करके अपनी मृत्यु का आमंत्रण करूँ!”

“मृत्यु का नहीं, पुनरुज्जीवन का।” जलते हुए कंस पर बूढ़े की हँसी झनझनाती निकल गई। वह बोलता गया—“विश्वास करें, आपके प्रायश्चित्त के बाद हम एक दूसरे ही कंस को देखेंगे, जो दीनों पर दया करनेवाला होगा, जो पितृभक्त होगा, प्रजा पालक...!”

“बंद करो इस बकवास को!” क्रोध का प्रबल वेग कंस के धैर्य को ढहाता बह निकला। वह चीख पड़ा—“निकाल बाहर करो इस बूढ़े को!”

बाहुक अब भी खड़ा मुसकरा रहा था।

“...मैं कह रहा हूँ, अभी निकाल बाहर करो इस मूर्ख को!” इस बार कंस ने प्रद्योत को स्पष्ट आदेश दिया। वह आपे से बाहर हो रहा था—“नीच! चला है बुद्धि सिखाने!”

प्रद्योत बाहुक की भुजा थामकर उसे द्वार की ओर ले चलते हुए बोला, “कृपा कर इस समय चले जाइए,

अन्यथा अनर्थ हो जाएगा।”

बाहुक लौट तो पड़ा, पर आवेश में बड़बड़ाता जा रहा था—“यह मैं नहीं बोल रहा था, कंस! मेरी वाणी में तुम्हारी दीन, दुःखी और प्रताड़ित प्रजा बोल रही थी। यह मेरा अपना अपमान नहीं है, यह प्रजा के विवेक का अपमान है, उसकी आकांक्षा का अपमान है। उसकी अस्मिता अंतिम बार भू-लुंठित हुई है।”

“चल-चल! देख लूँगा प्रजा की अस्मिता को!” कंस क्रोध से काँप रहा था।

“लगता है, नारद की भविष्यवाणी पूरी होकर ही रहेगी।” बूढ़े की आवाज और तेज हुई।

“जब तक कंस के हाथ में असि है, नारद की भविष्यवाणी कभी पूरी नहीं होगी।”

□

सुवासिनी कारा में मेरी माँ से मिलती रही। पहले तो वह उससे कटी-कटी रहती थी। फिर आखिर नारी थी—अपनी सारी दुर्बलताओं को लिये हुए सुगंध बिखेरनेवाली नारी। धीरे-धीरे मेरी माँ की परिस्थिति से द्रवित होने लगी। एक दिन मेरी माँ ने आर्द्र नेत्रों और भरे कंठ से उससे कहा था—“सुवासिनी, बचपन के वे दिन याद हैं, जब हम दोनों राजकीय उद्यान में साथ-साथ खेलते थे? तब तुम्हारी माँ फलों की गंध बटोरा करती थी और तुम छाया की तरह मेरे साथ लगी रहती थीं।”

“हाँ, याद हैं।” सुवासिनी ने कहा।

“आज सोचती हूँ, कारा के इस अंधकार में वह छाया भी मुझसे अलग हो गई।”

“अलग नहीं, वरन् आपमें समा गई।”

“यदि समा गई होती तो अवश्य ही वह मेरी पीड़ा का अनुभव करती।”

“आप कैसे समझती हैं कि वह आपकी पीड़ा का अनुभव नहीं करती?”

“...तुम्हें यह भी याद होगा कि एक दिन उद्यान भृत्य तुम्हें अपने साथ लेकर वृंदावन चला गया था। मुश्किल से दो घड़ी तुम नहीं मिलीं। तहलका मच गया। तुम्हारी माँ रोते-रोते व्याकुल हो गई। लोगों ने उसे बहुत समझाया; पर वह जरा भी नहीं मानी। उसने अपना सिर पटक-पटककर फोड़ डाला था। उसे विश्वास हो चला था कि उसकी फूल-सी प्यारी बच्ची को कोई गंधर्व उठा ले गया।...मात्र दो घड़ी का अंतराल!”

“हाँ, याद है।” सुवासिनी मौन मेरी माँ को देखती रही।

“गंधर्व द्वारा उठा ले जाने की आशंका से तुम्हारी माँ व्याकुल हो गई थी और वह भी मात्र एक बार उठा ले जाने पर।...किंतु मेरी नियति देखो। मेरे नवजात शिशु को हर बार यमराज उठा ले जाता है; फिर भी मैं अपना सिर नहीं फोड़ पाई।...जानती हो, किसलिए?”

सुवासिनी मौन थी।

“...इसलिए नहीं कि तुम्हारी माँ से मेरे मन में कम छटपटाहट है। इसलिए भी नहीं कि मेरा वात्सल्य तुम्हारी माँ से दुर्बल है; वरन् मात्र इसलिए कि महामुनि नारद की भविष्यवाणी का विश्वास मुझे मरने नहीं दे रहा है।...जब नवजात शिशु मुझसे छीना जाता है तब लगता है जैसे कोई मणिधर नाग की मणि छीन रहा हो। मैं फुफकारती हूँ, फन भी पटकती हूँ; पर कुछ कर नहीं पाती। मुझे मृत्यु से अधिक जीवन की विवशता ने परेशान किया है, सुवासिनी!”

सुवासिनी चुपचाप सुनती रही। मेरी माँ भावुकता में बोलती चली गई—“एक बात मेरी मानोगी, सुवासिनी?”

“क्या?”

“तुम अभी तक अविवाहित हो, कभी विवाह मत करना। प्रेम करना, प्रेम का विस्तार देना; पर उसके घनत्व में कभी मत उलझना।...क्योंकि प्रेम के विस्तार में मोहकता होती है और घनत्व में मोह। विस्तार में विनिमय की संभावना रहती है और घनत्व में एकमात्र समर्पण। विस्तार में स्वतंत्रता रहती है और घनत्व में सबसे अधिक पराधीनता। यह सत्य है कि वह पराधीनता भी बड़ी अच्छी लगती है; उसका प्रतिफल जिस सीमा तक सुखदायी होगा, उस सीमा तक दुःखदायी भी हो सकता है। तू अपनी माँ के लिए जितनी प्यारी थी—मैंने देखा, वियोग के समय तू माँ के लिए उतनी ही दुःखदायी हो गई थी।”

सुवासिनी शायद कारा में मिली पहली महिला थी, जिसके समक्ष माँ इतना खुली थी। माँ की आर्द्रता ने उसे अच्छी तरह भिगो दिया था। अब वह माँ के काफी निकट थी; पर कर क्या सकती थी! उसके हाथ-पैर बँधे थे। कंस की शंकाकुलता की हजार-हजार आँखें हवा में उड़ रही थीं। पता नहीं कौन सी आँख उसे देख रही है! सोचते ही वह काँप उठती थी।

नित्य कारागार में आने की बाध्यता के कारण सुवासिनी और प्रद्योत में निकटता बढ़ती गई। यद्यपि प्रद्योत विवाहित था और सुवासिनी अविवाहित। एक ओर प्रगल्भ यौवन और दूसरी ओर उद्दाम सौंदर्य। यह अग्नि-घृत संयोग बहुत दूर तक नियंत्रित रहा। कई बार प्रद्योत ने प्रस्ताव किया और हर बार सुवासिनी बड़ी गंभीरता से टाल गई। एक-दूसरे के आकर्षित होने पर भी गंभीर प्रशासनिक तनाव में प्रेम के लिए अवसर ही कहाँ!

आखिर वह निर्णायक घड़ी आ पहुँची।

मध्य रात्रि के कुछ ही क्षण बाद सुवासिनी ने सूचना दी कि देवकी पीड़ा से कराह रही है। गर्भस्थ शिशु जन्म लेने वाला है। कारा के चारों ओर पहरा और कड़ा कर दिया गया। उसी समय आचार्य, महामात्य प्रलंब और छंदक को प्रासाद में बुलवाया गया।

“मैं समझता हूँ कि जन्म लेते ही उस शिशु को काटकर धरती में गाड़ दिया जाए।” कंस की आंतरिक व्यग्रता का यह प्रस्ताव था।

“किंतु इससे क्या होगा?” आँखों पर पट्टी बाँधे छंदक ने कहा, “मैं चाहता हूँ कि मथुरा देख ले कि नारद की भविष्यवाणी कंस द्वारा कैसी पादाक्रांत होती है।”

“किंतु नारद ने तो आठवें शिशु के लिए भविष्यवाणी की थी।” प्रलंब बोला।

“यही तो रहस्य है—एक गंभीर रहस्य!” छंदक बड़े जोर से हँसा। उसकी प्रगल्भ हँसी निशीथ की शून्यता चीरती कक्ष के बाहर निकल गई।

प्रलंब कुछ समझ नहीं पाया। उसने आचार्य से पूछा। आचार्य सबकुछ जानते हुए भी अनजान बन गए। तब तक छंदक कंस की ओर कुछ गंभीर मंत्रणा के लिए बढ़ा। उसने उसके कान में कुछ कहा। कुछ क्षणों तक कंस कुछ सोचता रहा, फिर बोला, “जन्म लेते ही वह शिशु मेरे पास आएगा। और सूर्योदय के बाद ही उसकी मृत्यु का समारोह होगा।...प्रजा भी देख ले कि उसके स्वामी की तलवार का पानी अभी उतरा नहीं है।”

“हे भगवान्!” अचानक प्रलंब के मुख से निकल पड़ा। शायद पालतू कुत्ते की तरह छंदक की हर बात मानने के लिए कंस को लाचार देखकर ही वह बोल पड़ा था।

किंतु उसके इतना कहते ही कंस डपट पड़ा—“क्या भगवान्, भगवान् करता है! यह बूढ़ा पागल हो गया है। अरे, भगवान् का अस्तित्व तभी तक है जब तक हम उसे स्वीकार करते हैं।” आतंकित होने पर भी कंस का अहंकार अपनी चरम सीमा पर था—“आप लोग जा सकते हैं; किंतु अगली सूचना तक आप महल में ही रहेंगे। और सूर्योदय के बाद ही प्रासाद प्रांगण में इस मरण-समारोह की व्यवस्था भी करेंगे।”



मैंने जो कुछ सुना है, उस आधार पर कह सकता हूँ कि मथुरा ने ऐसी विभीषिका शायद कभी नहीं देखी थी और न कभी जन-जीवन इतने आतंक से गुजरा था।

सूर्योदय के पूर्व से ही मथुरा के राजपथ पर ही नहीं वरन् वीथियों में भी सैनिक प्रदर्शन आरंभ हो गया था। प्रजा के लिए घोषणा करा दी गई थी कि आज नगर में कोई भी अस्त्र-शस्त्र लेकर नहीं निकलेगा; पर इस मरण-समारोह का द्वार सबके लिए खुला था।

आज सोचता हूँ, तो मुझे कंस की मूर्खता पर हँसी आती है। वह मृत्यु को ही अपना शत्रु समझता था; जबकि मृत्यु जीवन का एक पक्ष है, पुनरुज्जीवन का द्वार है। जन्म हमारे शरीर का होना है। मृत्यु शरीर का न होना है। इस होने और न होने के बीच का विस्तार ही तो जीवन है। जन्म के साथ ही मृत्यु की अनिवार्यता लग जाती है। 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः'—जब आप मृत्यु को ही शुभ मान लें तब तो लगेगा ही कि हर क्षण शुभ आपके साथ है। कितनी विचित्र बात है, शत्रु आपके साथ हो और आप व्यग्र न हों, तनाव में न हों, यह कैसे हो सकता है? यही स्थिति मेरे मामा कंस की थी। हर क्षण विकराल शत्रु की तरह उसे मृत्यु दिखाई पड़ती थी। वह पागल हो गया था।

यह उसका पागलपन ही था न, जो उसने समारोहपूर्वक मेरे अग्रज की हत्या की। उसने उसके अंग के अनेक टुकड़े किए और एक कटघरे में लाए गए सिंह को उन भागों को अपने हाथों से खिलाया। उसके भीतर तो छंदक की आवाज गूँज रही थी कि यदि इस बालक को काटकर ही फेंक दिया गया तो वह जुड़कर पुनः जी उठेगा।

कंस को लग रहा होगा कि वह अपनी मौत को सिंह के उदर में डाल रहा है; पर उस मूर्ख को यह पता नहीं था कि उसकी मृत्यु तो स्वयं उसके भीतर जी रही है।

उस क्रूरता को मेरे पिताजी देख नहीं पाए। उन्होंने आँखें बंद कर लीं। यदि वे उस स्थान से हट सकते तो निश्चित ही कहीं चले जाते; पर ऐसा वे कर नहीं सकते थे।...सारी प्रजा इस क्रूरता के पागलपन पर थूक रही थी; पर वह जड़वत् खड़ी थी...और यही उस समय उसकी नियति थी।

“...यह पागलपन बंद करो, मथुराधीश! महाराज उग्रसेन की गरिमा पर ऐसा कीचड़ मत उछालो।” लोगों ने देखा, भीड़ के बीच से बूढ़ा बाहुक अंधक चीखता हुआ एक लकुटी के सहारे बेहद काँप रहा था।

निश्चित ही संपूर्ण भीड़ बाहुक के कंठ से चीख रही थी। उसका सारा क्रोध बाहुक के व्यक्तित्व में ही कंपायमान था। भूचाल के पहले धक्के की तरह कंस स्तंभित रह गया। फिर स्वयं को सँभालते हुए बोला, “निकाल दो इस बूढ़े को! इसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है।”

“मेरी बुद्धि नहीं, कंस, तुम्हारी बुद्धि भ्रष्ट है। आज भले ही जनता आतंक से दबी हो। भविष्य तुमपर थूकेगा, इतिहास तुमपर थूकेगा!”

“इतिहास! हा, हा, हा!” कंस का अट्टहास पागलों की भाँति लड़खड़ाया—“इतिहास मेरी मुट्ठी में है और भविष्य मेरी असि से टुकड़े-टुकड़े हो चला है।”

यह जघन्य समारोह कंस के प्रति अपरिमित घृणा बिखेरकर समाप्त हो गया। मगध से आए जरासंध के परिवार के कुछ लोगों को छोड़कर शायद मथुरा में कोई ऐसा नहीं रह गया, जिसकी सहानुभूति कंस के प्रति अब शेष रह गई हो।

कुछ ही समय बाद शिव मंदिर के परिसर के रसाल कुंज में छंदक आचार्य से मिला और बड़े रहस्यमय ढंग से मुसकराते हुए बोला, “देखा गुरुदेव, आपने! अब मेरी चिनगारियों की फसल लहलहाएगी।...और उस मूर्ख राजा की सारी सजगता देवकी के आठवें पुत्र से हट जाएगी।”

सचमुच उस दिन छंदक बड़ा प्रसन्न था। उसने कंस के अहं की अग्नि में अपनी कूट युक्ति की समिधा झोंक-झोंककर उसे ऐसा प्रज्वलित कर दिया था कि कंस की सारी बुद्धि और चिंतना भस्म हो गई थी। वह अपना मस्तिष्क खोकर अब छंदक की मुट्ठी में हो गया था। कितनी बड़ी सफलता छंदक को मिली थी!...वह अपनी आँखों पर पट्टी बाँधे पागलों की तरह आम्र की एक निचली डाल पर झूल रहा था।

मथुरा सोचने के लिए विवश हो चुकी थी कि इस क्रूर अत्याचारी से मुक्ति अब भगवान् के बिना कोई दिला नहीं सकता।...परिस्थितियों ने मेरे जन्म के पूर्व मेरे भगवान् की अवधारणा को पैदा कर दिया था।



दो

‘अशान्तस्य कुतः सुखम्’—अशांत के लिए सुख कहाँ! यही स्थिति कंस की थी, यही स्थिति मथुरा की थी और आश्चर्य है, यही स्थिति मेरे माता-पिता की भी थी।

मेरे माता-पिता अपने आठवें पुत्र की बड़ी व्यग्रता से प्रतीक्षा कर रहे थे। ज्यों-ज्यों समय निकट आता जाता, उनकी व्याकुलता बढ़ती जाती। उनकी मानसिकता पहाड़ से ढुलकते उस पाषाणखंड जैसी थी जिसकी गति, ज्यों-ज्यों वह नीचे आता है, बढ़ती जाती है; पर जिसकी गति में हर अगला स्थल अनचीन्हा, अनजाना और अनिश्चित होता है। क्या होगा? कैसे होगा? उन्हें कुछ मालूम नहीं। केवल मेरे चामत्कारिक व्यक्तित्व में एक अटूट आस्था, एक अपूर्व विश्वास—यही उनका संबल था और यही थी उनकी अक्षय निधि, जिसे वे अपनी धड़कती छाती से चिपकाए जी रहे थे।

कंस भी शांत नहीं था। मेरे अग्रज का विनाश कर उसकी हिंसा दहाड़ने लगी थी। महत्वाकांक्षा के सिंहासन पर बैठा उसका अहं बराबर फुफकारता रहता था। सारी मथुरा त्राहि-त्राहि कर उठी थी। अधिकांश लोग निराश हो उठे थे। उन्हें विश्वास हो चुका था कि वसुदेव के सातवें पुत्र की हत्या कर कंस अपने विनाशक का विनाश कर चुका है।...कुछ लोग अवश्य जानते थे; पर ऐसे बहुत कम थे, जो यह जानते थे कि इसके पीछे छंदक की राजनीति है। धीरे-धीरे आभिजात्य वर्ग में इसकी सुगबुगाहट रेंगने लगी थी।...पर मथुरा का जनजीवन हताशा से भरा था।

अब गर्गाचार्य ने प्रलंब को भी अपने विश्वास में ले लिया था। बात ऐसी हुई कि एक दिन प्रलंब को कंस ने किसी बात पर कुछ भला-बुरा कह डाला। वह बड़ा दुःखी हुआ। किसीसे बिना कुछ कहे वह चुपचाप राजप्रासाद से बाहर निकल आया और सीधे आचार्य के पास पहुँचा। आचार्यजी का कहना था कि उस समय उसकी आँखें भरी-भरी थीं, चेहरा रुआँसा था। उसने आते ही एक पत्र आचार्यजी को थमाया और भरे कंठ से बोला, “कृपा कर इसे आप महाराज को दे दीजिएगा।”

इसके बाद बिना कुछ कहे वह लौटने लगा। लौटते समय वह आचार्यजी के चरणों की ओर झुका।

“अरे, आप मेरे वरेण्य हैं, यह क्या कर रहे हैं?” आचार्यजी ने उसे उठाकर छाती से लगा लिया। प्रलंब की आँखें बरसने लगीं। उसने हिचकियों के बीच कहा, “इतनी लंबी सेवा के बाद इस वृद्धावस्था में आज मैं यही दिन देखने के लिए जीवित हूँ।...इतना अपमान, ऐसा तिरस्कार और अपने सहायकों से ऐसी अवज्ञा!...अब तो जी करता है कि त्यागपत्र देकर मुक्त हो जाऊँ।”

“किंतु मुक्त होने से भी तो कल्याण नहीं है।” आचार्य बोले।

“तब क्या होगा?”

“यह त्यागपत्र देखते ही वह आपका तुरंत वध करा देगा। आप मथुरा छोड़कर जा भी नहीं सकेंगे। क्योंकि वह अपने किसी भी विरोधी को जीवित देखना नहीं चाहता।”

आचार्य के इस कथन पर प्रलंब अवाक् रह गया था।

“...तब क्या किया जाए?”

“इन सारी परिस्थितियों की उपेक्षा करके उससे और अधिक निकटता बढ़ाई जाए।”

“आखिर किसलिए?”

“जीवन की सुरक्षा के लिए, अपने अस्तित्व के लिए।” आचार्य मुसकराते हुए बोलते रहे—“देवकी के आठवें

पुत्र के चमत्कार-दर्शन के लिए।”

इसी संदर्भ में आचार्यजी ने प्रलंब से सारा रहस्य बतला दिया। उसे लगा जैसे वह कोई पौराणिक गाथा सुन रहा हो।

...और उसने जब यह सुना कि छंदक भी कंस का विनाश ही चाहता है तब उसने दाँतों तले अँगुली दबाई—“हे प्रभो! तुम्हारी माया समझी नहीं जा सकती।”

आचार्यजी ने बताया कि प्रलंब के आँसू अब अधरों से फूल बनकर झरने लगे हैं। उसकी आकृति की प्रत्येक झुर्री में एक तृप्ति थी, एक संतोष था।

“प्रतीक्षा कीजिए और देवकी के आठवें पुत्र की रक्षा कीजिए।”

“यह क्या कह रहे हैं, आचार्य!...वह तो हमारी रक्षा के लिए ही अवतरित हो रहा है, हम उसकी रक्षा क्या करेंगे!”

“पहले हमें ही उसकी रक्षा करनी पड़ेगी, तब वह हमारी रक्षा करेगा।”

“इस संदर्भ में भला मैं क्या कर सकता हूँ?”

“आप बहुत कुछ कर सकते हैं। अवसर आने पर आपकी सहायता ली जाएगी।”

आचार्य के इस कथन पर प्रलंब विश्वास के अखाड़े में पछाड़ खाए पहलवान की तरह फिर धूल झाड़कर खड़ा हो गया। उसने त्यागपत्र देने का इरादा त्याग दिया। अब वह प्रासाद में नित्य जाता और एक अभिनेता की जिंदगी जीने लगा। अब कंस कुछ भी कहता, वह मुसकराकर झेल लेता।

एक दिन फिर टकराव की स्थिति आई। लोगों ने सोचा, आज महामात्य टूट जाएँगे; पर अब उसने झुकना सीख लिया था, टूटने की स्थिति ही नहीं थी।

“महाराज, आप चाहे जो कह लें; पर इतना समझें कि मैं ही नहीं, मेरी कई पीढ़ियाँ इस सिंहासन की सेवा में समर्पित हो चुकी हैं। मुझमें ही नहीं, उन सबके रक्त में आपके परिवार का नमक था।...अब हम आपको छोड़कर कहाँ जा सकते हैं?...जन्म से ही मैंने आपको गोद में लेकर खिलाया है। आपकी कुशल कामना के अतिरिक्त मेरे पास कोई विकल्प नहीं है।...मैं आपके पदत्राण का परिवाहक बनकर भी आपका क्षेम ही चाहूँगा।”

कहते हैं, इसके बाद कंस ने फिर उसे कोई लगती बात नहीं कही।

□

बाढ़ की नदी और प्रेम ने कब अपनी मर्यादा की रक्षा की है। आखिर प्रद्योत और सुवासिनी के संबंध में भी यह मर्यादा टूट ही गई। एक दिन कारागार से लौटते हुए प्रद्योत ने आम्रकुंज में बड़े प्यार से सुवासिनी का हाथ पकड़ा। सुवासिनी को लगा कि उसकी हथेली पर किसीने वह अंगार रख दिया है, जो कभी बुझ नहीं सकता। वह भीतर-ही-भीतर उसके ताप का अनुभव करती रही, पर कुछ न बोली।

प्रद्योत के प्रेम प्रस्ताव को वह बड़े सहजभाव से डकार जाती। आंगिक अभिव्यक्ति को वह बिना किसी प्रत्युत्तर के झेल लेती और वाचिक अभिव्यक्ति पर उसका सामान्य भाव से मुसकराना मात्र काफी था।

बरसात के दिन थे। आकाश में बादलों ने अपनी लीला आरंभ कर दी थी। संध्या का आँचल काला पड़ चुका था। एक ही रथ पर दोनों बंदीगृह से प्रासाद की ओर चले आ रहे थे। अचानक झंझा का एक गंभीर झोंका आया और फिर मूसलधार बारिश आरंभ हो गई। अब रथ के घोड़े भी आगे बढ़ने से इनकार करने की स्थिति में थे। सारथि ने एक सघन वट के नीचे रथ खड़ा कर दिया।...यद्यपि वृक्ष की सघनता ने वर्षा की मार से कुछ राहत दिलाई, फिर भी दोनों अच्छी तरह से भीग चुके थे। शरीर से अद्वैत स्थापित करता गीले वस्त्र में सुवासिनी का सौंदर्य और भी मादक हो गया था। प्रद्योत का मन उस मादकता को आँखों से पीता गया। और जब वे दोनों निकट

के भग्न शिव मंदिर में वर्षा से बचने के लिए गए तब प्रेम के नशे में प्रद्योत की मानसिकता लड़खड़ाने लगी थी।

सुवासिनी को बाँहों में भर लेने की असफल चेष्टा करते हुए प्रद्योत बोला, “मैं तुमसे प्रेम करता हूँ, सुवासिनी।” सुवासिनी अपने को समेटती और किनारे हटती हुई अब भी चुप थी।

“क्या तुम मुझसे प्रेम नहीं करती?” थोड़ा उसके और निकट जाते हुए प्रद्योत बोला।

इस बार भी वह चुप ही रह जाना चाहती थी; पर उसके मौन को स्वीकृति का लक्षण न मान लिया जाए, इसलिए वह बोल पड़ी—“प्रेम पुरुष के लिए तो एक खिलवाड़ ही है, पर नारी के लिए संकल्प!”

“तुम्हारा तात्पर्य?”

“तात्पर्य यही कि खेल केवल शरीर तक सीमित रहता है और संकल्प अपनी परिधि में मन और आत्मा दोनों को समेट लेता है।” इतना कहने के बाद वह फिर चुप हो गई। बादल अब भी झकझोर-झकझोरकर बरस रहे थे। वह किनारे हटकर अपनी भीगी साड़ी निचोड़ने लगी। अब उसके उन्नत उरोज गीली चोली के भीतर रहकर भी बाहर आते दिखाई पड़े। प्रद्योत की आँखें जैसे चिपक-सी गईं।

“आप क्या देख रहे हैं?” सुवासिनी के सलज्ज साहस ने प्रद्योत की भावुकता को एक गंभीर धक्का दिया। वह लड़खड़ाया और लज्जा के मारे उसकी ओर से आँखें हटा लीं।

लड़खड़ाते हुए आदमी को गिराना आसान है। शायद इसीलिए सुवासिनी ने एक दूसरा धक्का और दिया—“यदि मैं पूर्ण निर्वसन हो जाऊँ तो शायद तुम मुझसे और अधिक प्यार करोगे; क्योंकि तुम्हारा प्यार मात्र शरीर तक सीमित है, वह एक शारीरिक मनोरंजन है, खिलवाड़ है।...पर मैं ऐसे खिलवाड़ में विश्वास नहीं करती।”

“विश्वास करो, मेरा प्रस्ताव भी खिलवाड़ नहीं है।”

“तब तुमने ऐसे ही समय ऐसा प्रस्ताव क्यों किया? जब वर्षा हो रही हो, संध्या डूब चुकी हो। मेघ जल के साथ-साथ अँधेरा उगल रहा हो। हम-तुम एक सुनसान में शरण ले रहे हों।” क्षण भर रुकने के बाद वह एक उन्मुक्त हँसी के साथ खिलखिलाती हुई बोली या बोलते हुए खिलखिलाई—“तुम्हारी वासना के लिए सारे उद्दीपन उपकरण उपस्थित हैं।”

“तुम विश्वास करो, मेरा प्रणय-निवेदन वासनाजन्य नहीं है।”

“तुम झूठ बोलते हो...और इसीलिए कहती हूँ कि तुम मुझसे प्यार नहीं करते।...क्योंकि दो हृदयों के प्रेम में सत्य और झूठ नहीं होता, क्योंकि विवेक नहीं होता। सत्य और झूठ का सारा संसार तो विवेक की सीमा के भीतर है और प्रेम उस सीमा के बाहर, बिल्कुल बाहर—समर्पण के जगत् में।”

प्रद्योत को पहली बार लगा कि जिस सुवासिनी को वह मात्र बरसाती तलैया समझता था, वह सतत प्रवाहमयी एक पवित्र वारि धारा है। उसके तर्क और समझदारी के समक्ष वह स्वयं को बौना अनुभव करने लगा। उसने अपने को सँभालते हुए कहा, “विश्वास करो, सुवासिनी, मेरा प्यार केवल शरीर तक ही सीमित नहीं है।”

“तो तुम मुझे मन से प्यार करते हो?”

“हाँ।”

“तब तुम मन से प्यार कर सकते हो, ऐसी स्थिति में हम दोनों दूर रहकर भी पास रह सकते हैं। तब इस सुनसान की, इस अँधेरे की और इस मौसम की कोई आवश्यकता नहीं है।...तब तो यदि मैं निर्वसन भी हो जाऊँ, तो भी तुममें कोई वासना जाग्रत नहीं होनी चाहिए।”

“वासना शरीर का धर्म है। मैं उसके संबंध में क्या कह सकता हूँ!”

सुवासिनी जोर से हँसी। क्यों हँसी, कह नहीं सकता। कुछ देर बाद वह स्वयं प्रद्योत के निकट आई और उसके

कान में धीरे से बोली, “...तो हम दोनों मन से एक-दूसरे को प्यार करते हैं तो करते रहें।” उस अंधकार में भी प्रद्योत को अनुभव हुआ कि सुवासिनी मुसकरा रही है। उसकी भुजाएँ अनायास उसकी ओर बढ़ीं और वह छटककर पीछे हट गई।

“मैंने कहा न कि अपने इस प्यार को तन तक मत लाना।”

“आखिर यह शरीर इस पराधीनता का अनुभव कब तक करता रहेगा?”

सुवासिनी कुछ सोच में पड़ गई और इतनी गंभीर हुई, जितना गंभीर अँधेरा था। वह कुछ कहना चाहकर भी चुप हो गई। लगा, उसके भीतर भी कोई बिजली चमककर बुझ गई है। वैसी ही उलझी मानसिकता में वह बोली, “एक बात कहूँ?”

“कहो!”

“तुम किसीसे कहोगे तो नहीं?”

“यदि गोपनीय है तो मैं अवश्य किसीसे नहीं कहूँगा।”

“गोपनीय ही नहीं, खतरनाक भी है।” सुवासिनी का स्वर और भी गंभीर हुआ—“रहस्य का उद्घाटन होते ही हम दोनों यमलोक पहुँचा दिए जाएँगे। इसलिए तुम शपथ लेकर कहो कि किसी भी स्थिति में तुम इसे किसीसे नहीं कहोगे।”

“मैं अपनी शपथ लेकर कहता हूँ कि...”

सुवासिनी बीच में ही बोल पड़ी, “तुम्हारा क्या अस्तित्व है कि तुम अपनी शपथ ले रहे हो?”

“तब मैं तुम्हारी शपथ लेता हूँ।”

“मेरी भी अस्मिता तुम्हारी ही जैसी क्षण-भंगुर है।”

“तब मैं भगवान् की शपथ खाकर कहता हूँ।”

“अब तो भगवान् पर से ही विश्वास डगमगाने लगा है।”

“तब तुम ही बताओ, किसकी शपथ लूँ?”

“हमारे-तुम्हारे बीच नए उगनेवाले प्रेम की।” इस बार सुवासिनी की मुसकराहट की गंध प्रद्योत को भिगो गई।

“...तो लो, मैं प्रेम की सौगंध खाकर कहता हूँ कि किसीसे नहीं कहूँगा।”

“...तो सुन लो, मैं विवाह नहीं करूँगी।”

“आखिर क्यों?” प्रद्योत का सपना शिखर से धड़ाम से धरती पर आ गया था।

“...क्योंकि मैंने अपनी बालसखी देवकी को वचन दिया है।” और फिर उसने सारा संदर्भ सुना दिया। प्रद्योत को पहली बार लगा कि सतह पर दिखनेवाली हरियाली के नीचे एक ज्वाला धधक रही है और वह स्वयं उस ज्वाला की एक लपट बनने की ओर अग्रसर है।

“...तो तुम कभी भी विवाह नहीं करोगी?”

“नहीं भी कर सकती और कर भी सकती हूँ।”

“इस असमंजसता का निराकरण कब तक होगा?”

“जब तक देवकी को आठवाँ पुत्र नहीं हो जाता।” सुवासिनी और भी गंभीर हुई—“यदि हम उसकी रक्षा कर पाएँ, तब तो विवाह करूँगी, अन्यथा नहीं करूँगी।”

“रक्षा!” प्रद्योत कुछ समझ नहीं पाया—“रक्षा और अरक्षा का प्रश्न तो सातवें पुत्र तक ही था न?”

“यही तो रहस्य है!” सुवासिनी हँसी।

वर्षा होती रही। बादल गरजते रहे।

□

प्रत्यक्ष रूप में मथुरा पर कंस का राजतंत्र था, अनुशासन था, आतंक था; पर उसके भीतर जी रही प्रच्छन्न मथुरा में अपने राजा के विनाश के लिए आतुर प्रजा का जनतंत्र था। स्वयं मथुरा दोहरी जिंदगी जी रही थी।

आचार्य ने बताया कि षड्यंत्र का दीमक भीतर-ही-भीतर मथुरा को चाल चुका था और षड्यंत्रकारियों का ऐसा संपर्क सूत्र बैठ गया था कि बड़े-से-बड़ा काम हो जाता था और कंस को कानोंकान सूचना तक नहीं लगती थी।

एक दिन महाराज के मणि पात्र में सुगंध समर्पित करती हुई सुवासिनी बोली, “लगता है, इस बार पुत्रजन्म के समय देवकी बच न सकेगी।”

कंस ने बड़े गर्व से अपनी बगल में बैठी पत्नी अस्ति की ओर देखा और बोला, “क्यों?”

“महाराज, वह अत्यधिक दुर्बल हो गई है। यदि आप देखें तो पहचान नहीं सकेंगे।”

“मेरी मृत्यु को जन्म देनेवाली स्वयं मृत्यु के द्वार पर है!” उसका अहं मुसकराया—“तो क्यों नहीं मैं अपनी पहचान की परीक्षा ले लूँ और उसे देखने जाऊँ!”

“नहीं-नहीं, ऐसा कभी मत कीजिएगा।” अस्ति की वर्जना भयग्रस्त थी—“हो सकता है, आप उसे देखकर द्रवित हो जाएँ।”

“यदि द्रवित ही हो जाऊँगा तो क्या होगा?...आखिर वह मेरी बहन है।”

“यदि इतना ममत्व था तो उसे कारागार में क्यों डाला?” अस्ति बोली।

कंस चुप रह गया। अस्ति चाहती थी कि उसके पति का देवकी से संपर्क ही न हो। जरा सी भूल अनर्थ का मूल हो सकती है। यद्यपि खतरा टल गया है, फिर भी उसका आठवाँ पुत्र जन्म लेने को शेष है। दूसरी ओर सुवासिनी भी नहीं चाहती थी कि कंस देवकी से मिले; क्योंकि उसने जो कुछ कहा था, वह झूठ था। कारा के जीवन में आने के बाद ही मेरी माँ का जितना स्वास्थ्य गिरा था, बस उतना ही गिरा था। बाद में वह उस जीवन की अभ्यस्त हो गई थी।

सत्य निष्प्रयोजन भी होता है, पर झूठ बिना प्रयोजन नहीं होता। सुवासिनी के भी झूठ का प्रयोजन था। बाद में वह स्वयं अपने को स्पष्ट करते हुए बोली, “मुझे उसके जीवन से मोह नहीं है; पर इस बार वह प्रसव पीड़ा सह न सकेगी।...और मैं उसकी छटपटाहट देख नहीं सकती।”

“तो क्या किया जाए?”

“मैं चाहती हूँ कि तीक्ष्ण मैरेय का एक बड़ा कलश सदा कारागार में रहे, जिससे जब कभी उसकी पीड़ा बढ़े, पिला दिया जाए।” सुवासिनी ने ही कहा।

“तीक्ष्ण मैरेय!” कंस हँसा—“न रोग रहे और न रोगी। तुमने भी क्या उपचार का तरीका निकाला है, सुवासिनी!”

आश्चर्य है कि इस संदर्भ में राजवैद्य से भी कोई राय नहीं ली गई। राजवैद्य यों ही उदासीन थे, फिर कौन उन्हें बुलवाए और कौन राय ले। सुवासिनी को मैरेय ले जाने की अनुमति मिल गई।...सुना है, जब इसकी सूचना किसी प्रकार राजवैद्य को मिली तब उन्होंने माथा ठोका। बस इतना ही बोले, “जहाँ कुकर्म स्वयं नहीं पहुँच सकता वहाँ मदिरा को भेज देता है।”

संध्या अपना रंगीन आँचल समेट चुकी थी। मंद-मंद पुरवैया बह रही थी। मथुरा के राजपथ से होता हुआ रथ कारागार की ओर चला जा रहा था। सारथि को छोड़कर रथ पर दो ही थे—सुवासिनी और प्रद्योत।...और उनके बीच में था मैरेय का वह घट।

राजभवन से घट लेकर एक परिचारक भी आया था; पर रथ पर घट रखते ही लोगों ने उसे बिदा कर दिया। रथ चला जा रहा था। प्रद्योत ने घट की ओर संकेत करते हुए पूछा, “इसमें क्या है?”

“तुम्हारा सिर!” सारथि की ओर संकेत करती हुई सुवासिनी ने झुँझलाने का अभिनय किया।

“मेरा सिर घट जैसा तो जरूर है; पर घट में मेरा सिर है, यह बात समझ में नहीं आती।”

सुवासिनी ने फिर उसे चुप रहने का संकेत किया; किंतु प्रद्योत का नटखट मन चुहुल करने पर उतारू था—“मेरे गुरु बचपन में एक बात और कहते थे।”

“क्या?”

“कि तेरे सिर में गोबर भरा है।”

“वह ठीक कहते थे।” सुवासिनी हँस पड़ी।

“यदि यह घट मेरा सिर है तो जरूर इसमें गोबर भरा होगा।”

“जैसा तुम समझो।” इस बार सुवासिनी और जोर से हँस पड़ी।

बात भी नहीं खुली और कारागार का मुख्य द्वार आ गया। सारथि ने रथ रोका और बंदीगृह के एक प्रहरी को घट उठाने के लिए बुलाया।

भीतर घुसते ही काराधीक्षक ने आपत्ति की—“इसमें क्या है?”

“ओषधि है।” सुवासिनी छूटते ही बोली।

“इसके लिए राजवैद्य का प्रमाणपत्र चाहिए।”

स्थिति को गड़बड़ाते देखकर प्रद्योत बोला, “क्या एक अमात्य का प्रमाणपत्र पर्याप्त नहीं है?”

काराधीक्षक एकदम बुझ गया। वह सिर नीचा करके पीछे हट गया। शायद इसके पूर्व उसकी दृष्टि प्रद्योत पर पड़ी नहीं थी।

मेरी माँ के प्रकोष्ठ के एक कोने में ही वह कलश रखवा दिया गया और सबसे कहा गया कि पीड़नाशक एक तेज ओषधि है; किंतु प्रद्योत से सुवासिनी ने मदिरा होने का रहस्य कान में धीरे से बता दिया।

“मदिरा!...यह यहाँ क्या होगी?”

“यही तो गोपनीय है!” सुवासिनी की आत्मीयता बड़े मुक्तभाव से इटलाई।

“मुझसे भी गोपनीय है?” प्रद्योत बोला, “फिर मुझे प्रेम की शपथ क्यों खिलाई गई थी?”

“गोपनीयता की सुरक्षा के लिए।” सुवासिनी मुसकराती रही—“जानते हो, अमात्य और भविष्य के महामात्य, कि प्रेम का रस गोपनीयता के संपुट में ही पकता है।”

प्रद्योत चुप हो गया। उसे अनुभव होने लगा कि आजकल मथुरा में बहुत कुछ ऐसा है, जो मेरा अनजाना और अनचीन्हा है। मैं जिस रास्ते से गुजर रहा हूँ, उसके दोनों ओर रहस्य का जंगल लगाया गया है; पर अभी उसमें हिंस्र पशु नहीं हैं—और कौन जाने हों भी।

पर वह जिसे लगाया हुआ समझता था, वह तो स्वयं उगा था। कुछ हाथ अवश्य उसमें खाद और पानी दे रहे थे; किंतु वे उनके हाथ नहीं थे, वे तो नियति के हाथ थे। दिखाई पड़नेवाले हाथ तो निमित्त मात्र थे।

वातावरण बड़ी तेजी से बदल गया था, बदल रहा था। लोगों ने यहाँ तक पता लगा लिया था कि इस समय नगर में और उसके आसपास कितनी महिलाओं को बच्चा होने वाला है और किसको कब प्रसव की संभावना है।

सच कहूँ, तो यह सारा लेखा-जोखा आचार्यजी के पास था। आपको जानकर आश्चर्य होगा कि हर गर्भवती महिला के प्रतिदिन की खबर रखी जाती थी। कंस की गुप्तचर व्यवस्था से कहीं अच्छी और कहीं प्रभावशाली

जनता की गुप्तचर व्यवस्था थी। कंस की अहम्मान्यता तो नदी की बाढ़ में बहते हुए कूड़ा-करकट को ही देख रही थी। उसे क्या मालूम था कि इस वारि धारा का मूल उत्स कहाँ है और इसके नीचे क्या हो रहा है!

□

अंत में वह घड़ी आ ही गई, जिसकी संपूर्ण मथुरा को प्रतीक्षा थी—मेरे जन्म की घड़ी।

भाद्रपद के कृष्णपक्ष की अष्टमी की अँधेरी काली रात। आकाश मेघों से आच्छादित। संध्या से ही मूसलधार होती वर्षा। बरसता हुआ जल, बरसती हुई कालिख। हाथ को हाथ नहीं सूझता था। फिर मैं उस नियति को कितना धन्यवाद दूँ, जिसने सन्नाटे के नीचे कंस की सारी सजगता सुला दी थी।

बिजली की कड़क, उफनती यमुना का हाहाकार और वर्षा की झड़ी के अतिरिक्त इस मध्य रात्रि में कोई आवाज नहीं। बस, एक झरझराता मौन, चीखता सन्नाटा।

सुवासिनी और प्रद्योत उस समय बंदीगृह में ही थे। सुवासिनी को तो रहना ही था; पर प्रद्योत कैसे चला आया था, पता नहीं।

पूरी कारा एक अप्रत्याशित भविष्य से आशंकित, अनिश्चय से थरथराती हुई। जैसे कुछ अनहोना होने जा रहा है। कहते हैं, उस समय मेरी माँ को प्रसव-वेदना आरंभ हो गई थी। पर सुवासिनी मेरी माँ के पास नहीं थी, वह बंदीगृह के उस पिछले द्वार की ओर चली गई थी, जो यमुना की ओर खुलता था और जिधर से मेरे माता-पिता पहले यमुना में स्नान किया करते थे।

प्रहरी निद्रालस पड़े थे। बड़े-बड़े शिकंजों से बने लौह कपाट पर एक बड़ा सा ताला लटक रहा था। उसी कपाट के शिकंजों को पकड़कर सुवासिनी खड़ी हो गई।

कुछ देर तक प्रहरी उसे देखते रह गए। ऐसी सुघड़ देह और मादकता से सराबोर इस समय की प्रकृति।...अचानक सुवासिनी के सिर से सरककर उसका आँचल धरती चूमने लगा। उसके खुले बाल हवा में लहराने लगे। घने बादलों की गोद में जैसे एक मेघ शिशु छैला गया हो।...दोनों प्रहरियों ने कभी भी ऐसी अनिंद्य सुंदरी को इतने निकट से नहीं देखा था। बिजली चमकती, वह स्पष्ट चमक उठती और उसके बाद के गहरे, काले घुप्प अँधेरे में भी उन प्रहरियों की आँखें उस शरीरयष्टि के खाले-ऊँचे स्थलों का स्पर्श करती रह जातीं।

सुवासिनी इठलाती हुई मंदिर नेत्रों से यमुना को देखती रही।

“क्या देख रही हैं, महादेवी?” प्रहरियों में से एक ने पूछा।

“छटपटाती हुई यमुना को।” इतना कहते-कहते उसने एक आह भरी।

“ऐसा लगता है, आप दुःखी हैं।” एक प्रहरी ने कहा।

“दुःखी तो नहीं हूँ, पर सुखी भी नहीं हूँ।” सुवासिनी बोली, “...देखती हूँ, बाहर यमुना छटपटा रही है, भीतर मैं छटपटा रही हूँ। यमुना इसलिए छटपटा रही है कि वह मुक्त है, खुलकर बह सकती है। मैं इसलिए छटपटा रही हूँ कि मैं पराधीन हूँ, शिकंजे में बंद हूँ।...कितना विचित्र है, एक की स्वतंत्रता छटपटाहट का कारण है और दूसरी की पराधीनता!” फिर वह ऐसे खिलखिलाई और इठलाई जैसे कोई नागिन काटकर उलट जाए।

दोनों हक्का-बक्का-सा उसे देखते रहे। सुवासिनी ने अनुभव किया कि उसकी ओषधि अभी पूरा असर नहीं कर रही है। उसने अभिनेयता थोड़ी और बढ़ाई—“बाहर यमुना नशे में है, भीतर मैं नशे में हूँ।” इतना कहते हुए वह थोड़ा लड़खड़ाई भी।

“आप नशे में हैं?” पहला प्रहरी बोला।

“क्यों, तुम्हें आश्चर्य है क्या?” इस बार उसकी जबान भी लड़खड़ाई। आवाज पर भी नशा चढ़ गया था—“इस

नशीले मौसम में कौन नशे में नहीं होगा!”

“पर हम तो नशे में नहीं हैं।”

“इसलिए कि तुम अभागे हो या झूठ बोलते हो। ऐसे समय में, जब सारी प्रकृति मदिरा में डूबी हो तब तुम लोगों ने नहीं पी है, विश्वास नहीं होता!”

“विश्वास कीजिए, एक घूँट भी अभी कंठ के नीचे नहीं उतरी है।” आवाज तो एक ही प्रहरी की थी, पर इसमें ललक दोनों की साफ दिखाई पड़ी।

“बस एक घूँट! इतने से काम चल जाएगा?”

दोनों ने पहले एक-दूसरे को देखा, फिर याचना भरी टकटकी सुवासिनी की ओर लगा दी।

“केवल एक घूँट से तुम्हारी तृप्ति हो जाए तो मैं व्यवस्था कर सकती हूँ।”

इस अप्रत्याशित कृपा पर किसकी नीयत न डोलती और कौन न फिसल

जाता! फिर भी पहला प्रहरी थोड़ा सँभला—“मद्यपान हमारे चाकरी धर्म के विरुद्ध है।”

“इसीलिए न कहती हूँ कि तुम अभागे हो। अरे पगले, जब सारा संसार सो रहा है तब भी तेरा चाकरी धर्म जाग रहा है! तू प्रहरी है न?”

“जी हाँ।”

“तेरा काम बस यही देखना है न कि कोई भीतर से बाहर न जाए और कोई बाहर से भीतर न आए?”

“हाँ।”

“अरे पागलो, इस मौसम और इस अँधेरी रात में कौन भीतर से बाहर आता है और कौन बाहर से भीतर जाने की चेष्टा करता है! चिड़िया का एक पूत भी तो दिखाई नहीं दे रहा है। केवल हवाएँ आ-जा रही हैं—और तुम इस हवा के झोंकों पर ही पहरा दे रहे हो।...कितना सार्थक है तुम्हारा पहरा!” वह भावाकुल भाषा में बड़े नाटकीय ढंग से बोलती गई—“यदि बाहर निकल पाती तो मैं भागती हुई अपने प्रिय से मिल जाती।”

“अपने प्रिय से?”

“हाँ-हाँ, अपने प्रिय से। देखते नहीं हो, यह यमुना भी अपने प्रिय से मिलने के लिए हाहाकार करती हुई भागी जा रही है। केवल तुममें हाहाकार नहीं है; क्योंकि तुम शव हो, मुरदा हो, बिके हुए गुलाम हो, एक घूँट लेने से भी डरते हो।”

“डरता तो नहीं हूँ।”

“...तब क्यों चुप हो? बोलते क्यों नहीं, अभी एक घूँट देती हूँ।” वह फिर इठलाई—“लेकिन याद रखना, एक घूँट से अधिक नहीं दूँगी। यह महाराज के कंठ से नीचे उतरनेवाली मदिरा है।”

“महाराज के!” दोनों के नेत्र विस्फारित हो गए। विस्फारित ही नहीं, लालायित भी लगे।

सुवासिनी एकदम लौटी। कारा के प्रांगण में आते ही देखा, प्रद्योत बड़ी तेजी से उसकी ओर दौड़ा चला आ रहा है। उसने धीरे से कहा, “आचार्य बाहर खड़े हैं।”

“खड़े रहने दो। लोहा एकदम लाल है। उसपर पूरा प्रहार कर लेने दो।” इतना कहते हुए सुवासिनी मेरी माँ के प्रकोष्ठ में पहुँची। माँ पलंग पर जल से निकाली मछली की तरह तड़फड़ा रही थी। आस्तरण एक ओर लटक गया था।

“बचाओ सुवासिनी, बड़ी पीड़ा है!” माँ कराह रही थी—“लगता है, अब की प्राण ही चला जाएगा।...इतनी पीड़ा तो इसके पूर्व कभी नहीं हुई थी।”

“घबराइए मत, जीजी, मैं अभी आई।” कहती हुई सुवासिनी कोने में धरे कलश से दो चषकों में मैरेय उड़ेलने लगी और बड़े विश्वास से बोली, “इस बार वही होगा, जो कभी नहीं हुआ है।”

लाते ही चषकों को सुवासिनी ने दोनों प्रहरियों को थमा दिया। वह तीक्ष्ण मदिरा उनके गले के नीचे उतरने लगी।

“देखो, घूँट भर की बात हुई थी। अधिक मत पी लेना।” सुवासिनी एक बार फिर इठलाई।

“तुम पिलाओ और घूँट भर ही पीऊँ! ऐसा नहीं हो सकता।” एक बोला और दूसरे की भी आवाज लड़खड़ाई — “ऐसा नहीं हो सकता।” और देखते-देखते दोनों ने चषक खाली कर दिए।

“अब दो इन भागती हवाओं पर पहरा!” सुवासिनी बोली।

“अब ये हवाएँ खुद मुझपर पहरा देंगी।...क्या समझती हैं आप! राजपरिवार की मदिरा पीकर भी हम पहरेदार ही रहेंगे!...अब हम राजा हैं, राजा!”

सुवासिनी ने देखा कि मैरेय ने प्रभाव आरंभ कर दिया है। उसने सारी निराशा और पीड़ा अपने कंठ में उड़ेलते हुए कहा, “...पर मैं तो चाकर हूँ, शिकंजों में बंद चाकर।...इस मादक मौसम में जब संपूर्ण प्रकृति अपने प्रिय-मिलन में लीन है, मैं छटपटा रही हूँ। मेरा प्रिय भी छटपटा रहा होगा।...काश, मैं यह शिकंजा तोड़ पाती!”

“तोड़ने की आवश्यकता क्या है?” प्रहरी की आवाज अब और अधिक लड़खड़ाई।

“तो क्या मैं अपने प्रिय से न मिलूँ?”

“नहीं, मिलो; पर यह शिकंजा तोड़कर नहीं, इसे खोलकर।” इतना कहते हुए दूसरे प्रहरी ने अपनी कमर में टटोला; जैसे वह कुछ खोज रहा हो। अंगों के साथ-साथ स्मृति भी शिथिल पड़ चुकी है।

“...हे...हे, कहाँ चली गई?...मिली...मिली!” वह ताली निकालकर लड़खड़ाते हुए स्वर में बोला, “...लो...लेकिन, अपने प्रिय से मिलने के बाद चली जरूर आना, मेरी प्राण!”

सुवासिनी ने तुरंत से ताली लेकर अपनी कमर में खोंस ली।

□

आप विश्वास करें या न करें, पर आचार्यजी ने इतने विस्तार से सारी बातें बताई हैं कि सबका सब और ज्यों-का-त्यों लिख पाना मेरे लिए संभव नहीं। बहुत कुछ छोड़ता जा रहा हूँ। आश्चर्य होता है आचार्यजी की स्मृति पर कि इस वृद्धावस्था में भी वह इतनी प्रखर है।...जब स्मृति के पंखों पर वे अतीत में उड़ने लगते हैं तब उत्साह के विस्तृत आकाश के नीचे उनका बुढ़ापा आपसे आप झर जाता है।

उन्होंने ही बताया कि उस घनघोर वर्षा में, एक टूटी छतरी के सहारे भीगते हुए वे बंदीगृह के बाहर खड़े थे। उनका मुख भी वस्त्र से ढका हुआ था, जिससे लोग आसानी से उन्हें पहचान न सकें। किसी तरह प्रद्योत से खबर भिजवाई; पर अभी तक सुवासिनी आई नहीं। आचार्य घबरा रहे थे, क्योंकि एक-एक क्षण मूल्यवान् था। जरा भी रहस्य की सुगबुगाहट लगते ही स्थिति करवट बदल लेती और मेरे जैसा पैदा होनेवाला भगवान् संकट में पड़ जाता।

पर सुवासिनी करे भी तो क्या करे? वह अपनी योजना में लगी थी। मेरी माँ अपने प्रकोष्ठ में छटपटा रही थी। अजीब स्थिति थी। प्रकृति छटपटा रही थी। हवाएँ छटपटा रही थीं। यमुना छटपटा रही थी। मथुरा में हर सज्जन की अस्मिता छटपटा रही थी। अपनी शय्या पर मेरी माँ छटपटा रही थी। क्या ऐसी छटपटाहट किसी भगवान् के जन्म की अनिवार्य शर्त होती है?

यदि ऐसा न होता तो मैं ‘परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्’ वाली बात क्यों कहता? वस्तुतः किसी वस्तु की प्रगाढ़ इच्छा या उसकी अनिवार्यता ही उस वस्तु को जन्म देती है। विनाश की चरम सीमा पर निर्माणक पैदा

होता है। संहार की चरम स्थिति उद्धारक को जन्म देती है। भले ही आप उसे भगवान् कह दें; पर वह भी होता है परिस्थितियों की उपज ही, अपने समय की आवश्यकता।...सूर्य के जन्म के लिए अँधेरा एक अनिवार्य शर्त है, पर अँधेरे के पैदा होने के लिए सूर्य की अनिवार्यता नहीं है।

लगता है, बात कुछ लीक से हट रही है।...अब भी मेरे नेत्रों के सामने आचार्यजी खड़े हैं। उन्होंने बताया कि थोड़ी देर बाद सुवासिनी बंदीगृह के मुख्य द्वार के निकट आई। वह कुछ अस्पष्ट-सी बुदबुदाई। शायद जिज्ञासा की कि मैं यहाँ क्यों आया। पिछले द्वार पर आने का संकेत कर वह पछाड़ खाई लहर की तरह लौट गई।

वर्षा थमने का नाम नहीं ले रही थी। आसमान फटा पड़ रहा था। आचार्यजी कैसे उस कीचड़ भरे मार्ग से उस द्वार तक पहुँचे, यह तो वे ही बता सकते हैं। जहाँ पैर रखते वहीं धँस जाता; फिर निकलने का प्रयत्न करते, फिर धँसते। यही संघर्ष उनकी गति बना।...और जब वे उस द्वार पर पहुँचे तब चकित थे। लौह कपाट खुला था। सुवासिनी खड़ी थी और दोनों प्रहरी गहरी नींद में सो रहे थे।

“अरे, तुमने कपाट खोल लिया!” आचार्यजी ने प्रहरियों की ओर संकेत करते हुए कहा, “यदि ये जग गए तो?”

“अभी सुबह तक तो जागते नहीं।...और यह भी हो सकता है कि कभी भी न जागें।”

“इसका तात्पर्य है कि तुमने इन्हें विष दिया है!” आचार्य की मुद्रा भयाक्रांत हुई; क्योंकि वे किसी भी स्थिति में गलत काम करने के पक्ष में नहीं थे।

सुवासिनी ने उन्हें आश्वस्त किया कि उसने विष नहीं दिया है; किंतु वह इस विवाद को भी आगे बढ़ाना नहीं चाहती थी। उसके लिए प्रत्येक क्षण का उपयोग आवश्यक था।

“अच्छा, यह बताइए, आप कैसे पधारे?” सुवासिनी ने एकदम बात आगे बढ़ाई।

“देवकी को प्रसव हुआ?” आचार्य ने पूछा।

“अभी नहीं, पर होने के निकट ही है।”

“...पर गोकुल गाँव के मुखिया के घर एक लड़की अभी-अभी हुई है।”

“कितना समय हुआ होगा?”

“चर के वहाँ से आए घड़ी भर तो हो ही गया होगा।”

इसी समय आचार्यजी को आहट लगी कि बगल से मेरी बातें कोई सुन रहा है। वे एकदम चुप हो गए। किनारे हटे। इस घनघोर वर्षा और आधी रात में कौन है? आचार्य के पैर के नीचे का दलदल सरकने लगा। तब तक वह व्यक्ति स्वयं आगे आया। बोला, “घबराने की बात नहीं है। मैं छंदक हूँ।”

अजीब है—बिना किसी सहारे के, बिना किसी सहयोग के आँखों पर पट्टी बाँधे अँधेरी रात में हर खतरनाक मोड़ पर उपस्थिति!...आचार्य सोचते रह गए।

“छंदक, यदि तुम्हारी आँखें होतीं तो तुम क्या नहीं कर डालते!”

“तब मैं यह भी न कर पाता, जो कर पा रहा हूँ।” एक उलझा रहस्य अपनी आँखों के संबंध में उछालकर वह मतलब की बात पर आया—“सबकुछ हो गया है। नंद शिशु बदलने के लिए तैयार हैं।”

“यह तो मुझे अभी-अभी पता चला है कि उन्हें कन्या हुई है; किंतु विश्वास नहीं हो रहा था कि वे खतरा मोल लेने के लिए इतनी सरलता से तैयार हो जाएँगे।” अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए आचार्य बोले।

“खतरा कैसा?” सुवासिनी बीच में ही टपक पड़ी।

“कंस के संहारक को शरण देना क्या अग्नि से खेलना नहीं है?” आचार्य ने कहा।

“...और तारणहार के आश्रयदाता की गरिमा प्राप्त करना किसी आनंद से कम है?” छंदक के इस कथन से स्पष्ट

लगा कि उसने नंद को कैसे तैयार कर लिया होगा।

इसी समय वसुदेव दौड़े हुए आए और सुवासिनी भीतर चली गई।

कारा के दोनों कपाट भिखारी की हथेलियों की तरह खुले थे। आचार्य और छंदक भी चुपचाप भीतर जा चुके थे। प्रहरी गहरी निद्रा में सो रहे थे; पर भाद्रपद के कृष्णपक्ष की अष्टमी की यह काली रात अपनी सभी भंगिमाओं के साथ जाग रही थी। यमुना उन्मत्त थी। हवा उन्मत्त थी। मेघ उन्मत्त थे। देवकी तारणहार को जन्म देने जा रही थी। एक सूर्य इस गहन अंधकार में से प्रसूत होने के लिए व्यग्र था।

निश्चित रूप से यदि आचार्यजी न होते तो यह सारी कहानी मुझे न मिलती। हजारों मुखों से गुजरती हुई कथा तो आ जाती, पर उसके बीच का तनाव और मथुरा के राजनीतिक जीवन की घुटन का आभास मुझे न लगता। आचार्यजी ने ही बताया कि मेरे जन्म लेते ही वर्षा और तेज हो गई थी, हवा का पागलपन और अधिक बढ़ गया था। अब प्रश्न था मुझे गोकुल गाँव ले जाने का और यशोदा की पुत्री को यहाँ लाने का। किसमें साहस है, जो उफनती यमुना पार करे और वह भी शिशु को लेकर!

प्रद्योत का विचार था कि वर्षा थमने पर ही कुछ किया जा सकता है।...पर छंदक एक क्षण का विलंब सहन करने के पक्ष में नहीं था; क्योंकि मेरे जन्म की बात छिपनेवाली नहीं थी।

मुझे अच्छी तरह याद है कि आचार्यजी ने मुसकराते हुए बताया था कि तुम जन्म से ही नटखट थे। पैदा होते ही 'किहाँ-किहाँ' का ऐसा शोर मचाया था कि हम सब घबरा उठे थे। तुम्हारी माँ तुम्हें चुप कराने के लिए स्तन से तुम्हें हटाना नहीं चाहती थी; पर तुम थे कि हाथ-पैर मारे जा रहे थे। लग रहा था कि अनिश्चितता के इस अंधकार में तुम तैरने का अभ्यास कर रहे हो।...और औसत बच्चे से तुम भारी भी थे।

“इसे अभी ही हटाना होगा, चाहे जैसे भी संभव हो।” छंदक ने कहा।

“किंतु इस वर्षा और नदी के इस उफान में किसका साहस है, जो तैरकर यमुना पार करे?” प्रद्योत बोला।

“क्यों, नाव की व्यवस्था नहीं हो सकती?” प्रलंब ने कहा।

“नाव का नाम मत लेना।” छंदक बोला, “घाट से नाव लाई जाए और वह भी कारा के पिछले द्वार पर! बात क्या छिपी रहेगी। सवेरा होते-होते कंस का क्रोध मथुरा के रक्त से यमुना को लाल कर देगा।...बच्चों जैसी बातें मत सोचो, जल्दी करो।”

पर कौन तैरकर यमुना पार करेगा?...इस समस्या का समाधान चाहिए था और वह भी क्षण भर में।...अंत में मेरे पिता वसुदेव ने ही इस कार्य का बीड़ा उठाया। आचार्यजी के अनुसार, वे अच्छे तैराक थे। वे कई तरह से तैरना जानते थे। खड़ी लगाने का उन्हें इतना अभ्यास था कि कई बार यमुना को उन्होंने खड़े-खड़े ही तैरकर पार किया था।...मैंने स्वयं अपने पिता से यह कौशल सीखा था। उनकी ही सिखाई कला थी कि मैं कालिय नाग के चंगुल में फँस नहीं पाया।...खैर, इसकी चर्चा यथा स्थान की जाएगी।

मेरे पिताजी के स्वेच्छया तैयार होने में भी मेरा ईश्वरत्व ही प्रेरक बना। उन्होंने स्पष्ट कहा, “मैं तो विश्वास करता हूँ कि यह बालक दैवी शक्ति से पूर्ण है।...फिर मेरे डूबने का प्रश्न ही कहाँ पैदा होता है! यदि मैं डूबूँगा तो आप सब डूबेंगे।...मथुरा डूबेगी।”

मेरे पिता के तैयार होते ही छंदक प्रसन्नता से उछल पड़ा—“वसुदेवजी से उपयुक्त व्यक्ति इस समय और कोई हो नहीं सकता।...बस, आप मुझे एक क्षण का मौका दें, अभी आया। मैं सारी व्यवस्था करके आया हूँ।” इतना कहते ही वह हवाके झोंके-सा निकला और अदृश्य हो गया। शेष लोग एक-दूसरे का मुँह देखते रह गए।

“अब देखो, छंदक कौन सी गोटी चलता है!” प्रलंब की आवाज थी।

“भाई, इस सारी व्यवस्था में उसकी प्रमुख भूमिका है।” आचार्यजी ने कहा, “कुछ सोचकर ही वह बाहर गया होगा। शायद वसुदेवजी के लिए मार्गदर्शक की व्यवस्था कर रहा हो।”

“देखिए, करेगा कुछ अवश्य! पर उसकी गति में इतनी क्षिप्रता है कि उसकी आँखों पर बँधी पट्टी के पीछे कुछ रहस्य मालूम होता है।” प्रद्योत बोला।

“उसका सारा व्यक्तित्व ही रहस्यमय है।” आचार्यजी ने कहा।

तब तक बेंत की एक बड़ी खुली मंजूषा लिये एक अनुचर को वह ले आया।

“देखिए, यह मेरा परम सहयोगी डंबर है। इसीने यह मंजूषा बनाई है। आज प्रातः से ही वृष्टि हो रही थी। इसीसे मैंने ऐसी मंजूषा बनवाई है कि बालक का वर्षा सेभी बचाव हो और यदि किसीकी दृष्टि भी पड़े तो वह भय से काँप उठे।” छंदक ने कहा।

वस्तुतः मंजूषा की बनावट ही कुछ विचित्र थी। बेंत की ठोस बीनी हुई, जल के प्रवेश की संभावना बहुत कम। ऊपर से कोई ढक्कन नहीं वरन् एक छतरी ऐसी बनी थी, जो दूर से देखने में शेषनाग के फन जैसी लगती थी।

उसे दिखाते हुए छंदक ने कहा, “जब महाराज वसुदेव बालक को इसमें लिटाकर, उसे अपने सिर पर रखकर यमुना में प्रवेश करेंगे तो दूर से देखनेवाला व्यक्ति यही सोचेगा कि स्वयं शेषनाग तैरते चले आ रहे हैं।...शेषनाग का शेषनाग और छतरी की छतरी।” छंदक स्वयं अपनी बुद्धि पर मुसकराया—“और आप जानते हैं, बेंत की मंजूषा बनवाने में भी मेरा प्रयोजन है।” इतना कहने के बाद क्षण भर के लिए वह रुका कि लोग स्वयं पूछें कि क्या प्रयोजन है; पर सभी मौन रह गए।

छंदक स्वयं बोला, “बेंत की मंजूषा हलकी रहेगी। इसे ले जानेवाला व्यक्ति यदि डूब भी जाएगा...” अचानक छंदक की दृष्टि वसुदेव पर पड़ी—“आप क्षमा करें, मैं आपके लिए अशुभ कामना नहीं कर रहा हूँ।”

“अरे नहीं, मित्र! मेरा शुभ-अशुभ तो इस समय आप ही लोगों के हाथ में है।” वसुदेव ने कहा, “फिर व्यक्ति को हर परिस्थिति के लिए तैयार भी होना चाहिए।”

“...तो भी यह मंजूषा तैरती रहेगी। हमारे व्यक्ति तो सावधान हैं ही, वे बचाने की चेष्टा करेंगे।” छंदक ने अपनी बात पूरी की—“...और नहीं, तो कहीं-न-कहीं यह मंजूषा किनारे लगेगी ही। किसी-न-किसीकी दृष्टि पड़ेगी ही। बालक पाल लिया जाएगा; क्योंकि नारद की भविष्यवाणी तो पूरी होनी ही है।”

आचार्यजी ने बताया कि जब मैं अपनी माँ के पास से उठाकर मंजूषा में रखा जाने लगा, तब मैं शांत हो गया था। मेरे पिता जब मुझे अपने सिर पर उठाकर ले चले, तब भी मैं शांत था। यों भी नवजात शिशु उठाने और हिलाने-डुलाने से शांत हो जाता है। किंतु मेरे संदर्भ में लोगों को यह असाधारण बात लगी। कुछ क्षणों पूर्व रोता-चिल्लाता शिशु इस समय एकदम शांत है। कैसा हँस रहा है! अवश्य कोई बात है!...वस्तुतः वस्तु जैसी होती है, हम उसे वैसा नहीं देखते वरन् हम जैसे होते हैं, वस्तु हमें वैसी दिखाई देने लगती है। लोग मुझमें ईश्वरत्व खोज रहे थे और मैं उन्हें ईश्वर दिखाई देने लगा था।

जब मेरे पिताजी मुझे अपने सिर पर उठाकर चले, तब भी वर्षा तेज हो रही थी। यमुना का क्षिप्र प्रवाह अपनी सारी मर्यादाएँ तोड़ता चला जा रहा था। फिर भी किसीको कोई चिंता नहीं, आशंका नहीं। मेरे पिताश्री की तैरने की क्षमता के कारण नहीं, वरन् मेरे ईश्वरत्व के कारण।...मैं तो अमर हूँ, मरूँगा ही नहीं। यमुना मुझे निगल नहीं सकती, वायु मुझे सुखा नहीं सकती, शस्त्र मुझे भेद नहीं सकता—‘नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः’—मैं ईश्वर हूँ। नारद मुनि की भविष्यवाणी पूरी करने आया हूँ।

□

चलते समय छंदक ने मेरे पिताजी से कहा, “देखिए, घबराइएगा नहीं। सारी समस्या इस बाढ़ की नदी की है। नदी पार करते ही दो अनुचर आपको मिलेंगे!”

“...और अनुचर के अतिरिक्त कहीं दूसरे मिल गए तो?” पिताजी की शंका स्वाभाविक थी।

“उसकी भी व्यवस्था मैंने की है।” छंदक अपनी सजकता के अहं पर दूसरों को देखता हुआ मुसकराया—“वे व्यक्ति तो आपको पहचान ही लेंगे। वे आपको अँगूठा दिखाते हुए मुसकराएँगे, तब समझ लीजिएगा कि वे मेरे ही भेजे चर हैं।”

इधर पिताजी यमुना में प्रविष्ट हुए और उधर प्रद्योत तथा सुवासिनी को छोड़कर सभी व्यक्ति कारा के उसी पिछले द्वार से बाहर निकल आए। घबराहट तो बनी ही थी। वात्याचक्र में पड़ी पर्णकुटी की तरह यह सारी योजना एक पल में बिखर सकती थी।

सुवासिनी ने धीरे से लौह द्वार के शिकंजे बंद किए और कुंडी भी लगा दी; क्योंकि हवा के तेज झोंकों से वे आपस में लड़कर एक तीखी ध्वनि पैदा करते थे, जिससे प्रहरियों के जगने का भय था। यद्यपि वे खरटि की नौद ले रहे थे। सुवासिनी ने उनकी ओर देखा और उनकी अचेतनता पर मुसकराई—“सारी प्रकृति मैरेय के नशे में झूमती हुई आनंद ले रही है और तुम सो रहे हो!”

कभी-कभी एक मामूली सी बात भी, जिसका कोई अस्तित्व नहीं, इतना महत्वपूर्ण स्थान बना लेती है कि आश्चर्य होता है। साथ ही हँसी भी आती है उस घटना पर।...बात यह हुई कि मेरे पिताजी ने आधी से अधिक यमुना पार कर ली थी, फिर भी दूसरा तट दिखाई नहीं दे रहा था; क्योंकि बाढ़ का पानी खेतों को डुबाता हुआ राजपथ तक पहुँच गया था। मेरे पिताजी परेशान तो बहुत थे, पर उन्हें किनारे लगने का विश्वास हो चला था। इसी समय पानी का एक जोर का थपेड़ा आया और मेरे पिताजी के सिर पर से निकल गया। वे लड़खड़ाते-लड़खड़ाते बचे। जब उन्होंने लौटकर यह घटना दूसरों को सुनाई तब लोगों ने बड़े विश्वास से कहा, “जानते हो, यमुना प्रभु का चरण स्पर्श करना चाहती थी, इसीलिए उसका थपेड़ा आपके सिर पर से निकल गया।...चरण स्पर्श के बाद तो वह एकदम शांत हो गई होगी?”

मेरे पिता ने भी स्वीकृति में सिर हिलाया—“हाँ, इसके बाद तो कमर तक ही पानी रह गया था।” एक अप्रत्याशित लहर मेरे जीवन में लिख गई। उसने इतिहास बना लिया। लोग आज तक समझते हैं कि यदि मैं भगवान् न होता तो यमुना मेरे चरण स्पर्श के लिए उतावली क्यों होती?

जब तक मेरे पिता लौटे नहीं, लोग दम साथे खड़े रहे। एक-एक पल भारी पड़ रहा था। वर्षा थमने का नाम नहीं ले रही थी। प्रतीक्षारत लोगों ने ज्यों ही देखा कि नदी में कोई तैरता चला आ रहा है, उन्होंने संतोष की साँस ली। इस बार मेरे पिताजी ने मंजूषा छोड़ दी थी। नवजात बालिका को बगल में दबाए वे तैरते आ रहे थे। किनारे पर आते ही बालिका को लेकर आचार्य ने सुवासिनी को थमाया। वह द्वार खोलकर प्रतीक्षा में ही खड़ी थी।

“इस बालिका को मंजूषा में क्यों नहीं लाए?” पहुँचते ही छंदक ने पिताजी से पूछा।

“मंजूषा सिर पर रखकर तैरने में बड़ी कठिनाई थी। केवल खड़ी लगा सकता था।” पिताजी ने कहा, “ऐसे तो बगल में दबाकर चित या पट तैरता, लहरों को चीरता बड़ी आसानी से चला आया।

“यदि यह लड़की हाथ से छूट जाती तब?”

“तब बह जाती और क्या होता! अरे, इसे तो मरना ही है।”

“आप तो बड़ी सरलता से बोल रहे हैं।” छंदक झुँझलाया—“अरे महोदय, देवकी के आठवें शिशु के नाम पर आप कंस को क्या देते? कहीं मुँह दिखाने लायक रह जाते? और क्या गुजरती, इसे तो भगवान् ही जाने!”

सबने छंदक को मौन भाव से सुना। उसने कहा तो ठीक ही था।...पर भगवान् जो करता है, ठीक ही करता है, इस विश्वास के साथ लोगों ने यह अध्याय समाप्त कर दिया।

□

परिस्थितियों की अनुकूलता स्वयं सफलता के सोपान को गढ़ना आरंभ कर देती है। कुछ इसे संयोग की संज्ञा देते हैं और कुछ की आस्था इसे सीधे-सीधे भगवान् की कृपा कहती है। यह संयोग ही था कि बालिका के कारागृह में आने के बाद से ही वर्षा बंद हो गई। हवा की विक्षिप्तता भी शांत होने लगी। लोगों ने प्रकृति की इस लीला को भी मेरे ईश्वरत्व से जोड़ दिया।

प्रहरियों का नशा अभी नहीं उतरा था। सुवासिनी अब घबराई; क्योंकि अब उसे उनके नशे की आवश्यकता न थी। उसने प्रद्योत से कहा।

“इसमें घबराने की क्या बात है?” प्रद्योत ने समझाया—“तुम कपाट में ताला वैसे ही बंद कर दो जैसे पहले बंद था।...और ताली जिसने तुम्हें दी थी, उसकी कमर में खोंस दो।”

“और उन्हें ऐसे ही बेहोश पड़े रहने दूँ?”

“चेष्टा करो कि उनका नशा उतर जाए।” प्रद्योत बोला, “इसके लिए उनके मुख पर जल के छींटे दो। थोड़ा झकझोरो।”

“यदि इतने पर भी उनकी चेतना न लौटी तो?”

“तो न सही। हमने उन्हें तो संज्ञाशून्य किया नहीं है!” प्रद्योत ने मुसकराते हुए कहा, “यदि कोई स्वयं विष खाकर मरना चाहेगा तो हम क्या करेंगे?”

प्रद्योत की मुसकराहट इस बार सुवासिनी के अधरों को छूती निकल गई। उसने सबकुछ वैसा ही किया जैसा प्रद्योत ने बताया था और ताली एक प्रहरी की कमर में खोंसकर लगी उनके मुख पर जल के छींटे देने। वे कनमनाए।

“लगता है, बारिश तेज हो रही है।” उनमें से एक बड़बड़ाया। और तब वह दूसरे को जगाने के लिए झकझोरने लगी।

चेतना की लड़खड़ाहट में ही एक ने सुवासिनी को धर दबाया। वह चिल्लाई।

अब धड़धड़ाता हुआ प्रद्योत आ पहुँचा।

“यह क्या हो रहा है?” एक कड़कती आवाज और सामने अमात्य को खड़ा देखते ही नशा हिरन हो गया। अब सुवासिनी धीरे से हट गई थी।

“क्षमा करें, महाराज!” दोनों प्रद्योत के समक्ष झुकते हुए लड़खड़ाए।

“तुम्हें मालूम है कि तुमने क्या किया है? और इसका दंड क्या होगा?” इसके बाद प्रद्योत ने अपने कथन को और स्पष्ट किया—“यह महाराज की निजी परिचारिका है और तुमने इसके साथ दुर्व्यवहार किया है।”

“क्षमा करें, प्रभो! मैंने स्वप्न में देखा कि कोई सुंदरी मेरी ओर आकृष्ट है।...मैंने स्वप्न में भूल की है। जाग्रत अवस्था में ऐसा नहीं।”

“इसका तात्पर्य है कि तुम सो भी रहे थे?”

“हाँ, महाराज।”

“मूर्खों, तुम प्रहरी होकर भी सो रहे थे!” प्रद्योत और तेजी से तड़पा—“तुमने सोने के पहले अपने सिर काटकर हथेली पर क्यों नहीं रख लिये?”

दोनों विस्फारित नेत्रों से देखते रह गए।

“प्रहरी के लिए सोना दीपक के लिए अंधकार उगलना है।” प्रद्योत की आवाज और गंभीर हुई—“तुम सबके सब कर्तव्यच्युत हो। तुमने अपने कर्तव्यका निर्वाह ईमानदारी से नहीं किया। बस, महाराज को इसकी सूचना भर पर्याप्त है।”

दोनों काँपने लगे।

“जानते नहीं हो, कितनी सजगता बरती जा रही है! देवकी का आठवाँ शिशु जन्म ले रहा है। और तुम सो रहे हो!” प्रद्योत की ध्वनि नाटकीयता में डूबी थी—“शायद तुम आज का प्रभात नहीं देख पाओगे और सूली पर लटका दिए जाओगे।”

“त्राहि माम् नाथ! मेरे बच्चे भूखों मर जाएँगे!”

दोनों प्रद्योत के चरणों में गिर पड़े।

“क्षमा करना मेरे हाथ में तो है नहीं, क्षमा तो महाराज ही करेंगे!”

“यदि उनको सूचना मिल जाएगी तो वे कभी क्षमा नहीं करेंगे।”

“सूचना तो मुझे देनी ही होगी। मैं तुम लोगों की तरह कर्तव्यच्युत तो हो ही नहीं सकता। और न मैं तुम लोगों की तरह स्वप्न ही देख रहा हूँ!”

इस बार का व्यंग्य उनकी हताशा के ताप पर जल छिड़क गया। उन्हें लगा कि उनके सामने आशा की एक धुँधली किरण है। वे उसीके सहारे जीवन की पुनः भीख माँगने लगे।

“मान लो, मैं न कहूँ। पर कोई देख रहा होगा तो मेरी शिकायत हो जाएगी। तब मैं भी तुम लोगों के साथ मिला हुआ मान लिया जाऊँगा।”

“आप विश्वास करें, मेरी इस असावधानी की गंध भी यहाँ किसीको नहीं है।” उनमें से एक बोला।

“तुम झूठ बोलते हो!” प्रद्योत ने बड़ी तेजी से डाँटा—“अभी सुवासिनी तुम लोगों को जगा रही थी। क्या उसे तुम्हारी स्थिति का ज्ञान नहीं है?”

दोनों मौन हो गए।

“यदि सुवासिनी ने तुम लोगों की शिकायत की तब?”

“वह नहीं करेंगी!”

“क्यों नहीं करेंगी?”

बेचारे यह भी कहने की स्थिति में नहीं थे कि यह सारी करतूत तो उन्हींकी है। वह कहते भी तो किस मुख से। उन्हें सुवासिनी और अमात्य के संबंध का आभास था ही।

“यदि आप चाहेंगे तो कुछ नहीं होगा।” दबी जबान से वह बोला।

“मेरे चाहने से कुछ नहीं होगा।” प्रद्योत भीतर-भीतर मुसकराया—“अच्छा, तुम सुवासिनी को किसी तरह मनाओ!”

अब बेचारे हाथ जोड़कर सुवासिनी के पीछे पड़ गए। क्या राजनीति है! जो वचन सुवासिनी को प्रहरियों से लेना था, उसके लिए प्रहरी ही सुवासिनी की कृपा के लालायित हो गए।

“अच्छा भाई, तुम लोग इतने गिड़गिड़ा रहे हो तो मैं किसीसे कुछ नहीं कहूँगी। तुमने काम तो बड़ा खराब किया है। यदि मैंरेय तुम्हें इतनी लगती थी तो पीना ही नहीं चाहिए था। अब तुम्हीं समझो, तुम्हारी अचेतनावस्था में यदि किसीने द्वार खोलकर देवकी के आठवें शिशु को गायब कर दिया होता, तब हम लोग कहीं मुख दिखाने लायक ही न रहते।”

दोनों चुपचाप सुनते रहे। सुवासिनी उन्हें बरजती रही—“एक चिड़िया भी यदि तुम्हारी असावधानी से परिचित हुई, तो तुम्हारी कुशल नहीं।...और जानते हो, इस दीवार के भी कान उग आए हैं। भगवान् ही तुम्हारा कल्याण करें।”

सुवासिनी जब प्रहरियों से बातें करके लौटी तब प्रद्योत मुसकरा रहा था। सुवासिनी भी उसकी मुसकराहट में सम्मिलित हो गई।

□

वाह रे नियति, तू भी कितनी अद्भुत है! पैदा हुआ कारागार में और बधाई की दुंदुभी बजी नंद के द्वार पर। कितनी खुशी! कितनी प्रसन्नता! कितना आह्लाद! पर कौन जानता था कि इस आह्लाद के पीछे रहस्य क्या है। यशोदा की मनःस्थिति भी विचित्र थी। वह सबके सामने तो फूली नहीं समा रही थी, किंतु एकांत में गंभीर हो जाती थी। उसे लगता था कि उसका अपना शिशु तो मारा जा रहा है और एक दूसरा बालक उसका स्तनपान कर रहा है। वह दोहरी मानसिकता में जी रही है। प्रत्यक्ष हास बिखेरती हुई और भीतर से रोती हुई। जिसे उसने नौ मास तक गर्भ में पाला, उसे छोड़ना पड़ा था। इसकी व्यथा एक माँ का ही हृदय जान सकता है। बहुत बड़े होने पर मुझे पता चला था कि जब यशोदा को ज्ञात हुआ कि उसकी नवजात पुत्री की हत्या कर दी गई, तब वह अचेत हो चुकी थी; किंतु उसकी उस दिन की अचेतनावस्था का सही कारण आज तक कोई जान नहीं सका था।

फिर भी यशोदा को इस दोहरी मानसिकता को झेलने में जितनी परेशानी होनी चाहिए थी, उतनी नहीं हुई। एक तो वह पुत्री देकर पुत्र पाई थी—वह भी एक ऐसा पुत्र, जो पुत्र ही नहीं, भगवान् भी था। फिर उसकी गोद में किल्लोल करनेवाला पहला पुत्र। उस घर में मेरा एक बड़ा भाई और था—बलराम। किंतु वह यशोदा का पुत्र नहीं था। वह मेरे पिता वसुदेव की दूसरी पत्नी रोहिणी का पुत्र था। आपको जानकर आश्चर्य होगा कि मेरे जन्म की कथा रोहिणी से भी छिपाई गई। जिस समय मेरा जन्म हुआ, वह अपने पिता के घर थी।

कितना अद्भुत है, रोहिणी नहीं थी और मैं रोहिणी नक्षत्र में पैदा हुआ।

दूसरी बात यह भी थी, और जैसा मैंने पहले कहा भी है, कि नंद और यशोदा दोनों को यह विश्वास था कि हम एक पुत्र को ही नहीं वरन् एक चमत्कारी पुत्र को पाल रहे हैं—देवकी का आठवाँ बेटा। मेरा संभावित ईश्वरत्व मुझसे हर जगह पर चिपका था, इसलिए मैं दोनों का प्रिय ही नहीं, पूज्य भी था। यद्यपि प्रियता और पूज्यता—दोनों भावों का एक साथ निर्वाह करना दो नावों पर चढ़ना था। प्रियता में लगाव है, अपनत्व है; मेरा छोड़कर किसी और का न होने देने की अटूट अभिलाषा है तथा पूज्यता में समर्पण है, श्रद्धा का भाव है; औरों के लिए भी यह पूज्य हो, ऐसी ललक है। किंतु नंद और यशोदा ने इन दोनों भावों का निर्वाह बड़ी सहजता से किया।

बात कुछ मार्ग से हट गई।

□

क ने ख से कहा, ख ने ग से कहा और मथुरा में सवेरा होते-होते बात फैल गई कि देवकी को आठवाँ बेटा नहीं वरन् बेटी हुई है। छंदक सीधे राजभवन में पहुँचा और धड़धड़ाता हुआ कंस के प्रकोष्ठ में घुस गया।

“महाराज की जय हो!” छंदक जैसे चहक उठा हो—“देखिए, मेरी बात सत्य निकलीन!”

“कौन सी बात?”

“यही कि नारद ने हमारे साथ राजनीति की थी और उनकी राजनीति बिल्कुल काम नहीं आई।” इतना कहकर उसने विस्तार से बताया कि देवकी को आठवीं बेटी हुई है और नारद ने बेटे की बात कही थी। वे छिपा ले गए कि

सातवाँ बेटा ही सबकुछ है। उनको भी मालूम हो गया होगा कि मथुराधीश के गुप्तचर उड़ती चिड़िया के पंख पर हलदी लगा सकते हैं।

कहते हैं, इतना सुनते ही कंस उठा और छंदक को गले लगा लिया। आचार्यजी का कहना है कि मैंने इतना प्रसन्न कभी कंस को देखा नहीं था। ऐसा अहम्मन्य व्यक्ति किसीको गले लगाए, किसीकी कृतज्ञता स्वीकार करे; पर इस समय उसने वह सबकुछ किया, जो उसके लिए असंभव था। यदि छंदक चाहता तो इस समय कंस उसके चरण भी स्पर्श कर लेता।

मृत्यु को परास्त कर वह जीवन की ओर बढ़नेवाले व्यक्ति की तरह परम उत्साहित था। उसने व्यंग्य करते हुए कहा, “हो सकता है, मेरे हत्यारे का लिंग परिवर्तन हो गया हो!” और फिर इसके बाद कंस तथा छंदक का मिला-जुला अट्टहास पूरे अंतःपुर को कंपाया कर गया।

“मैं तुम्हारे उपकार को भूल नहीं सकता, छंदक!” कंस गद्गद कंठ से बोला।

“यह तो मेरा कर्तव्य था। एक आस्थावान् प्रजा का कर्तव्य है अपने राजा की रक्षा करना।” वैसी ही प्रसन्न मुद्रा में छंदक ने कहा।

“मैं चाहता हूँ कि तुम्हें कुछ पुरस्कार दूँ।” कंस बोला।

“ऐसा पुरस्कृत होने लायक तो मैंने कोई काम किया नहीं है।” छंदक विनम्रता से मुसकराया—“फिर भी जो कुछ आप देंगे, वह सिर-माथे पर।”

“अच्छा तो तुम्हीं कहो, क्या चाहते हो?”

“क्या मेरा चाहा आप दे सकेंगे?” छंदक की आवाज कुछ गंभीर हुई।

“क्यों नहीं दे सकूँगा?”

“तो अंधा क्या चाहे—दो आँखें।”

इतना सुनते ही कंस को लगा जैसे खींचकर एक चाँटा उसके गाल पर किसी ने जड़ दिया। कंस का फन काढ़कर खड़ा अहं चुपचाप पिटारे में बंद हो गया। वह बड़े निराश स्वर में बोला, “यही तो मैं नहीं दे सकता, छंदक।”

“जो कुछ आप नहीं दे सकते, उसे लेना भी नहीं चाहिए था।” यह क्या कह गया छंदक! वहाँ खड़े लोग अवाक् रह गए। आचार्य ने भी दाँतों तले अँगुली दबाई। इतनी जल्दी छंदक ने अपनी ध्वनि बदल दी! आखिर वह अपनी आँखों के संदर्भ में बोल रहा है या उन हत्याओं के संदर्भ में, जिनकी ओर कंस बराबर अग्रसर है!

□

ब्राह्म मुहूर्त में ही बालिका होने की सूचना कंस को दे दी गई थी और पौ फटते-फटते प्रद्योत के साथ सुवासिनी उस बालिका को लेकर प्रासाद में आ गई थी। वर्षा तो बंद थी, पर कभी-कभी आकाश पसीजने लगता था। इस बार मेरे पिताजी उस बालिका के साथ नहीं गए थे। वर्षा में लगातार भीगने और सिंधु जैसी यमुना को आर-पार करने में वे श्लथ हो चुके थे। उन्हें ज्वर हो आया था। सुवासिनी ने प्रचारित कर दिया कि बालिका को लाते समय वे अचेत होकर गिर पड़े हैं।

“क्यों नहीं अचेत होंगे? उन्हें आशा तो थी आठवें पुत्र की और हुई पुत्री!” कंस हँसा।

“...और देवकी का क्या हाल है?”

“महाराज, वह बहुत दुःखी है। पीड़ित होकर भी वह बता नहीं पा रही है कि पीड़ा कहाँ है?”

“उसकी पीड़ा मैं जानता हूँ।” कंस एक बार फिर हँसा—“उसको पीड़ित किया है नारद ने।...खैर, कोई बात नहीं। अब दोनों कारा से मुक्त कर दिए जाएँगे।”

धीरे-धीरे सवेरा गाढ़ा होता गया। बादल छँटने लगे। घनघोर वर्षा के बाद का सुहावना सूरज पूरब से झाँकने लगा। मरणोत्सव की मुनादी नगर में फिरने लगी—‘सभी प्रजाजनो को सूचित हो कि देवकी का आठवाँ शिशु, जो एक बालिका है, उसके अंतिम संस्कार का महोत्सव दो घड़ी दिन निकलने के बाद ही राजप्रासाद के प्रांगण में संपन्न होगा। सदा की भाँति जन साधारण के लिए भी प्रासाद के कपाट खुले रहेंगे।’

बालिका की सूचना से सामान्य जनता निराशा में डूबने लगी थी। उसके तारणहार के अवतरण की कल्पना टूटकर बिखर चुकी थी। गरम सूरज को जन्म देनेवाला नम सवेरा अधिकांश की आँखों में नमी बिखेरता आगे बढ़ता गया।

प्रासाद के प्रांगण में धीरे-धीरे लोग इकट्ठा होने लगे। शायद यह अग्रिम मरणोत्सव हो। जनता समय के पूर्व से ही जमने लगी। आज से दस-बारह वर्ष पूर्व जिन लोगों ने इस प्रकार का प्रथम उत्सव देखा था, उनके लिए आज का कार्यक्रम बीभत्सता एवं भयंकरता में कुछ नहीं था।

सभी सैन्य और राजकर्मचारियों के समक्ष प्रद्योत ने वह बालिका कंस को थमाई। विशाल और ऊँचे मंच पर खड़ा कंस अपनी भवितव्यता की खिल्ली उड़ते हुए उन्मत्त-सा हँस रहा था और थोड़ी ही देर बाद प्रजाजनों को संबोधित करते हुए पागलों-सा प्रलाप करने लगा।

गर्गाचार्य ने बहुत सी बातें बताई थीं; पर मुझे सभी याद नहीं हैं। बस इतना याद है कि उसने महामुनि नारद को बहुत बुरा-भला कहा था।

“प्रजाजनो, अब कौन ऋषि-मुनियों की बात का विश्वास करेगा? नारद ने कहा था कि तुम्हारी मृत्यु देवकी के आठवें पुत्र के हाथों होगी। उसे देख लीजिए, आप सब आँखें खोलकर देख लीजिए। देवकी को आठवाँ पुत्र नहीं वरन् पुत्री हुई है। मेरे संहारक के स्थान पर आठवीं पुत्री!” इतना कहते-कहते वह पागलों-सा अट्टहास करता हुआ उस बालिका को दिखाते हुए मंच के चारों ओर घूमा। इसी बीच अचानक वह बालिका उसके हाथों से छूटकर प्रांगण के विशाल शिलाखंड पर गिर पड़ी।

उसके गिरते ही वहाँ खड़े लगभग सभी के मुखों से आश्चर्य एवं वेदनामूलक एक ही ध्वनि निकली—‘आह!’ जो समवेत होकर एक भीषण चीत्कार में बदल गई। लगा जैसे धरती चीख उठी है। क्षण भर के लिए कंस भी स्तब्ध रह गया।

इसी बीच भीड़ के मध्य से एक वृद्ध की लड़खड़ाती आवाज बादलों की भाँति गहराई—“तेरा अहं सोचता है कि तूने मृत्यु को जीत लिया है? अब तू मरेगा नहीं; किंतु मृत्यु अवश्यंभावी है। तू हर क्षण मृत्यु के निकट पहुँच रहा है।”

लोगों की दृष्टि अचानक उस वृद्ध की ओर गई।

“कौन है यह?” कंस मंच से ही चीखा।

“मैं वही हूँ, जिसने सदा तुम्हें सावधान किया है। आज भी सावधान करने चला आया हूँ। तू समझता है कि तूने अपनी मृत्यु का नाश कर दिया है! पर मूर्ख, इसे जान ले कि तेरा संहारक जन्म ले चुका है। भगवान् पैदा हो चुका है! भगवान् पैदा हो चुका है!! भगवान् पैदा हो चुका है!!!” वह अंतिम वाक्य बार-बार दुहराता और पागलों की भाँति धूल की तरह अपनी हँसी उड़ाता रहा।

प्रद्योत पहले उसे सँभालने के लिए आगे बढ़ा; किंतु उसने देखा कि महाराज एकदम आगबबूला हैं, तब वह दूर से ही चिल्लाया, “निकाल बाहर करो इस पागल को यहाँ से!”

कई सैनिक एक साथ उस वृद्ध अंधक बाहुक की ओर बढ़े।



तीन

देवकी का आठवाँ शिशु मारा गया। अब नारद की भविष्यवाणी का क्या होगा? मथुरा की सामान्य जनता जिस आशा की डोर से लटक रही थी, वही कट चुकी थी। गहन अंधकार में धड़ाम से गिरने के अतिरिक्त अब उसकी कोई नियति नहीं थी।...कंस के उद्दाम अहंकार की ऊष्मा और जनता की ठंडी पड़ी आशा से उत्पन्न धुंध में लोगों को कुछ सूझ नहीं रहा था।

अंधक बाहुक ने तो भरी सभा में कहा था और यह बात उठाई भी जा रही थीकि कंस का संहारक जीवित है; पर लोगों को विश्वास नहीं था। कहाँ जीवित है? कैसे जीवित है? कारा की प्रौढ़ प्राचीरों को चीरकर वह कैसे निकल गया? ये सब ऐसे प्रश्न थे, जिनका उत्तर जनता चाहती थी; किंतु उत्तर दे भी तो कौन दे और कैसे दे?

सारी कथा प्रचारित करने पर तो अनेक लोग सूली पर चढ़ जाते। षड्यंत्र का उद्घाटन भी न हो और लोग विश्वास भी कर लें, यह कैसे संभव था? समस्या विकट थी।...क्योंकि जन-मन परिवर्तन चाहता था। मेरे पिता के बंदी बनाए जाने के बाद से ही यादवों को गहरा आघात लगा था। उनके तीन कुल—शूर, सात्वत तथा कुक्कुर—तो एकदम आगबबूला थे। स्वयं कंस के अंधक कुल के यादव भी कंस का विनाश ही चाहते थे। वे अब भी उग्रसेन को अपना नेता मानते थे। आपने देखा ही है कि अंधक बाहुक भरी सभा में कंस को कैसे ललकार आता था। इधर वृष्णि कुल पहले से ही अंधकों के विरुद्ध था। उसका नेता अक्रूर कुछ बोलता नहीं था, पर भीतर-ही-भीतर वह भी सुलग रहा था।

ब्राह्मणों से कंस का जन्मजात विरोध था। वह उन्हें फूटी आँखों भी न देख सकता था। इस संबंध में आचार्यजी ने ही मुझे विस्तार से बताया था कि व्रजभूमि की सीमा से लगा 'भौम' का राज्य पड़ता था और भौम की सीमा से सटा 'बाण' का राज्य था। तीनों की राज्य सीमाएँ ही नहीं मिलती थीं, मन भी मिलता था।

वस्तुतः कंस, भौम एवं बाण—तीनों बालसखा थे और बचपन के कुछ दिन तीनों ने गालव ऋषि के आश्रम में बिताए थे। तीनों दुर्विनीत थे। ऋषि की अवमानना करना उनका स्वभाव था। अंत में कंस की उद्दंडता से परेशान होकर गालव ऋषि ने उग्रसेन से सविनय आग्रह किया कि वे अपने पुत्र को आश्रम से हटा लें।

उग्रसेन ने पुत्र की उद्दंडता के लिए ऋषि से क्षमा माँगी और पुत्र को हटा भी लिया। इसपर कंस अपने पिता के साथ ही ब्राह्मणों से भी क्षुब्ध हो गया। अपने पिता के बार-बार मना करने पर भी उसने कई ब्राह्मणों की हत्या कर दी थी। पिता को बंदी बना लेने के बाद तो वह ब्राह्मणों के वध के लिए जैसे मुक्त ही हो गया था। यादवों से कहीं अधिक विरोध कंस का ब्राह्मणों में था।

आचार्यजी आदि के सामने समस्या थी कि इस विरोध को कैसे समवेत किया जाए, उसे कैसे जीवित रखा जाए। यदि जनमानस को नहीं सँभाला गया तो विरोधाग्नि राख हो जाएगी...और राख से ज्वालामुखी नहीं फूटता।

इसी बीच महामात्य बीमार पड़े। वृद्धता स्वयं में एक रोग है। और इधर लगातार पड़ रही कटकटाती शीत ने उनके पैरों के जोड़ पकड़ लिये। बेचारे शय्या पर पड़े रहने के लिए लाचार हो गए। राजवैद्य का उपचार चलता रहा। एक दिन पता नहीं किस मुद्रा में राजवैद्य ने प्रलंब की नाड़ी पकड़ते हुए कहा, “आश्चर्य है, मैं रोज महाराज की दृष्टि के सामने से गुजरता हूँ, पर किसी दिन भी उन्होंने आपके स्वास्थ्य के संबंध में नहीं पूछा।”

महामात्य पहले मौन ही रहे, फिर सोचते हुए बोले, “मेरे जैसे वृद्ध के स्वास्थ्य के संबंध में कुछ पूछना या न पूछना बराबर ही है, वैद्यजी।”

“स्वयं तो पधारे नहीं होंगे, अपनी ओर से आपको देखने के लिए किसीको भेजा या नहीं?”

“प्रद्योत कभी-कभी आ जाता है।”

“अपनी ओर से वे आते हैं या महाराज के भेजने पर?”

“यह तो मैंने पूछा नहीं।”

“पूछने की बात भी नहीं है।” वैद्यराज ने कहा, “वे आजकल बहुत परेशान-से लगते हैं।” किसलिए परेशान हैं? क्यों परेशान हैं? वैद्यराज ने ऐसा कुछ नहीं बताया। ओषधि देकर और अनुपान बताकर वे चले गए; किंतु प्रलंब के चिंतन के लिए प्रद्योत की परेशानी छोड़ गए।

जाड़े से सिकुड़ा हुआ पौष का दिन ढल चुका था। संध्या भी काँपती हुई बिस्तर पकड़ चुकी थी। रात घिरने लगी थी। आकाश में तारे ठिठुरे पड़े थे कि आचार्यजी महामात्य का कुशलक्षेम जानने के लिए पधारे। द्वारपाल ने सूचना दी कि महामात्य इस समय सो रहे हैं।

“अरे, इतनी जल्दी सो गए?” आचार्यजी बोले, “स्वास्थ्य तो ठीक है न?”

“हाँ, वैसा ही चल रहा है।” द्वारपाल बड़े अनमने भाव से बोला।

आचार्यजी ने समझ लिया कि यह मुझे पहचान नहीं रहा है।

“कितने दिन से यहाँ चाकरी में हो?” आचार्यजी ने पूछा।

“आज पाँचवाँ दिन चल रहा है।”

“तभी।” आचार्यजी मुसकराए—“मुझे पहचानते हो?”

“जी नहीं।” द्वारपाल अब थोड़ा गंभीर दिखा—“आपका परिचय?”

“मैं!” मुसकराते हुए आचार्यजी बोले, “मैं मथुराधीश का राजपुरोहित गर्गहूँ।”

“मेरी अनभिज्ञता के लिए आप मुझे क्षमा करें। देखूँ, यदि जाग रहे हों तो आपसे भेंट करा दूँ।” वह भीतर गया।

आचार्यजी का माथा ठनका। भीतर कुछ जरूर पक रहा है, उन्होंने सोचा। शीघ्र ही द्वारपाल आया और पुनः क्षमायाचना करते हुए उन्हें भीतर ले गया। छंदक वहाँ पहले से बैठा था।

“अब मैंने समझा कि मेरी इतनी जाँच-पड़ताल क्यों की गई!” आचार्यजी बोले। छंदक के सामने ही पीड़ा से कराहते हुए प्रलंब हँस पड़े।

“इसके पहले तो मैंने आपको बाहरी कक्ष में देखा था। आज इस अंतरंग कक्ष में शय्या क्यों बिछा ली?...अरे, आप कुछ अपनी अवस्था का तो विचार कीजिए। अब आपकी वय अंतःपुर में विश्राम करने की नहीं रही!” आचार्यजी के व्यंग्य पर एक बार फिर हँसी हुई।

“अरे, नहीं भाई, मुझे तो अपने पैरों की गाँठों को वाष्पस्नान कराने के लिए इस कक्ष में आना पड़ा।” सचमुच महामात्य खौलते जल में ओषधि डालकर अपने घुटनों को वाष्पस्नान करा रहे थे। वस्तुतः इतनी गोपनीयता और सावधानी छंदक के लिए ही उन्हें बरतनी पड़ी। छंदक नहीं चाहता था कि वह औरों की दृष्टि में महामात्य से मिले।

“इस समय आपकी बड़ी आवश्यकता थी।” छंदक ने आचार्यजी को देखते ही कहा, “प्रभु ने आपको भेजकर मेरा काम हलका कर दिया।”

“मुझसे मिलकर भला कौन सा काम हलका होगा?”

“अरे, यदि आप यहाँ न मिलते तो मुझे आपसे मिलना होता।” छंदक बोलता रहा—“महामात्य तो रुग्ण ही हैं और आपको संसार से कोई मतलब नहीं। बस अपने काम से काम।...इधर प्रद्योत व्यर्थ प्रताड़ित किया जा रहा है।”

“क्यों?”

“लगभग डेढ़ वर्ष तो चुप-चुप बीत गए। अब कंस को किसी तरह पता चल गया है कि देवकी की आठवीं संतान अभी जीवित है।”

“यह तुम्हें कैसे मालूम?”

“उन्होंने स्वयं मुझसे कहा है कि गुप्तचरों से उन्हें सूचना मिली है। प्रजा में भी इसकी चर्चा है।...कुशल यही है कि वह आठवीं संतान कहाँ है, इसका ठीक-ठीक पता उन्हें नहीं है। वे स्वयं आश्चर्य में हैं कि इतनी सावधानी और सजगता के होते हुए वह बालक बंदीगृह से निकल कैसे गया!”

“पर इस तरह की बात उन्होंने कभी मुझसे नहीं कही!” आचार्यजी ने कहा।

“जिससे कहना चाहिए उससे कह रहे हैं।” छंदक बोला।

“तुम्हारा तात्पर्य?”

“तात्पर्य यही कि प्रद्योत से रात-दिन पूछताछ हो रही है।”

“...और सुवासिनी?”

“वह लापता है।”

“गायब होने से तो संदेह और बढ़ेगा ही।”

“किंतु किया क्या जाए? उस कोमलांगी के लिए यातना सह पाना बड़ा कठिन था।” छंदक बोला और मुसकराया भी—“सुना है, जहाँ वह है, सकुशल है।”

मुसकराहट यह कह गई कि छंदक ने ही उसे अदृश्य स्थान में रखा है।

“हम यह नहीं जानना चाहते कि सुवासिनी कहाँ है। हमारे संतोष के लिए तो उसकी कुशलता का समाचार ही पर्याप्त है।” आचार्यजी अपनी ही ओर से नहीं वरन् प्रलंब की ओर से भी बोले, “अब प्रद्योत के संबंध में क्या कर रहे हो?”

“क्या करूँ?” छंदक बोला, “प्रतिदिन उससे मिलता हूँ, ढाढ़स बँधाता हूँ।...पर अब स्थिति बड़ी भयंकर आ गई है।”

“क्या?”

“एक दिन प्रद्योत को सपत्नीक कंस के सामने उपस्थित होने का आदेश हुआ था। उस दिन तो पत्नी की अस्वस्थता का बहाना बनाकर वह टाल गया। फिर कंस ने राजवैद्य को उसके घर भेज दिया।”

“इसलिए कि सत्यता का पता चले। वह सचमुच बीमार है या उसने बहाना बनाया है?” आचार्य बीच में ही बोल पड़े।

“हो सकता है, चिकित्सा की व्यवस्था करके वह सहानुभूति लेना चाहता हो।” बड़ी मुश्किल से करवट बदलते हुए प्रलंब बोला।

छंदक हँसने लगा—“आप भी बड़े सरल जीव हैं। हैं तो महामात्य, पर राजनीति का छल-छद्म आपको छू नहीं गया है। अरे, सहानुभूति और यातना तथा हिम और अग्नि कहीं साथ-साथ होते हैं!” कुछ देर तक वह प्रलंब की सहजता पर हँसता रहा।

“फिर क्या हुआ?” आचार्यजी ने बातों का सिलसिला पुनः जोड़ा।

“हुआ क्या, प्रद्योत को अपनी पत्नी को महाराज के समक्ष लाना पड़ा।” छंदक बोला, “कंस ने उसे देखते ही कहा, ‘जानती हो, मैंने तुम्हारे पति पर विश्वास किया था और उसने मेरे साथ विश्वासघात किया! देवकी का आठवाँ पुत्र इसकी देखरेख में हटाया गया।’ सुना है, प्रद्योत ने जब इसका विरोध किया तब कंस एकदम उबल

पड़ा—‘व्यर्थ बकवाद मत करो! मुझे सारी सूचनाएँ मिल रही हैं। वास्तविकता बहुत जल्दी स्पष्ट हो जाएगी। तुम कितने पानी में हो, इसकी थाह भी मुझे लग रही है।’...अब प्रद्योत क्या बोलता!’ छंदक ने विस्तार से बताया—‘कंस बड़े आवेश में था। प्रद्योत की पत्नी से उसने कहा, ‘अपने पति के विश्वासघात का प्रायश्चित्त तुम्हें करना पड़ेगा। यह बताना पड़ेगा कि देवकी का आठवाँ पुत्र कहाँ है, या उस अवस्था के इस राज्य के सारे बच्चों की तुम्हें हत्या करनी पड़ेगी।...यह कार्य तुम्हें अपने हाथों करना पड़ेगा।’ ”

“तब क्या कहा प्रद्योत की पत्नी ने?” प्रलंब ने पूछा।

“वह एकदम काँप उठी थी। ‘महाराज, मैं निरपराधिनी हूँ। इस संदर्भ में मेरा कोई हाथ नहीं है।’ ”

“ ‘मैं जानता हूँ कि तुम निरपराधिनी हो और इस संदर्भ में तुम्हारा कोई हाथ नहीं है; फिर भी तुम प्रद्योत की अर्द्धांगिनी हो। उसके पाप और पुण्य में तुम्हारा आधा भाग है। फिर तुम इसके किए अपराध के अर्ध भाग से कैसे मुक्त हो सकती हो?’ ”

“प्रद्योत की पत्नी झंझा में दीप की लौ की तरह काँपती रही और कभी-कभी बुझने के निकट भी आ जाती थी। उस समय उसकी व्यग्रता चरम बिंदु पर पहुँची जब कंस ने उसे फटकारते हुए कहा, ‘जिसका तुम अन्न खाते हो, उसीके विरुद्ध षड्यंत्र करते हो! तुम दोनों को लज्जा नहीं आती!’ ”

“ ‘महाराज, आप विश्वास करें, इस षड्यंत्र में हमारा हाथ नहीं है।’ दोनों ही कंस के चरणों पर गिर पड़े।

“ ‘तब तुम्हीं बताओ, किसका हाथ है?’ ”

“ ‘मैं कुछ कहने की स्थिति में नहीं हूँ।’ ”

“ ‘स्थिति में नहीं हो या जानते नहीं हो?’ ”

“ ‘जानता नहीं हूँ।’ ”

“ ‘तब तुमने स्थिति की बात क्यों की? अवश्य ही तुम सत्य को छिपा रहे हो।’ कंस इस समय काफी बौखलाया—‘इसका फल तुम्हें भोगना पड़ेगा। तुम्हारी पत्नी भी इससे मुक्त नहीं हो सकती। उसे सभी बालकों का वध करना पड़ेगा। याद रखो, सभी बालकों का।’ कंस पागलों-सा प्रद्योत की पत्नी को संबोधित कर चिल्लाया, ‘और जानती हो, पहले घर में दीप जलाकर फिर मंदिर में जलाया जाता है। सबसे पहले तुम्हें अपने दोनों बच्चों की हत्या करनी पड़ेगी—और मेरे सामने करनी पड़ेगी।’ इतना सुनते ही वह अचेत होकर गिर पड़ी।

“और सुना है, अचेतावस्था में ही उसे परिचारिकाओं द्वारा राजप्रासाद से घर ले जाया गया।”

“तो क्या वह कंस के सामने ही अपने पुत्र का वध करेगी?” इस क्रूरता की कल्पना से प्रलंब की आकृति की झुर्रियाँ और गहरी हो गईं।

“विचित्र स्थिति में प्रद्योत को डाल दिया है कंस ने, या तो वह अपने दोनों बच्चों का वध कराए या सत्य का उद्घाटन करे।” छंदक बोला।

“आखिर कंस को कैसे पता चला कि कारा से बच्चा बाहर चला गया?” आचार्य ने पूछा।

“यही तो उसे नहीं मालूम है। वह बस इतना जानता है कि देवकी का आठवाँ पुत्र जीवित है और वह हमारे ही राज्य में पल रहा है। वह कारा से कैसे गया, वह नहीं जानता। उसके मन में यह बैठ गया है कि इस सबके मूल में प्रद्योत है।”

“तब तो वह प्रद्योत का ही वध करा सकता है।”

“इससे उसे क्या मिलेगा, रहस्य रहस्य ही बना रह जाएगा।...मेरे विचार से वह उसे मारेगा नहीं, वरन् यातनाएँ देगा और सत्य उगलवाने की चेष्टा करेगा।” छंदक बोला।

“तब तो हमें प्रद्योत को ही सँभालना चाहिए।” आचार्य की धारणा थी।

“और यही तो कहने में यहाँ आया था।”

□

गोकुल गाँव में मैं यशोदा के पास पलता रहा। आचार्यजी ने बताया कि बचपन से ही मैं नटखट और सुंदर था। गाँव की सारी स्त्रियाँ मुझे प्यार करती थीं। लड़कियाँ तो मेरे पीछे लट्टू थीं। बचपन से ही मुझे मक्खन और दही अधिक प्रिय था। दूध मैं कभी नहीं पीता था। मेरी माँ यशोदा दूध पिलाने के लिए परेशान हो जाती थी। वह तरह-तरह का प्रलोभन देती थी।

गोकुल मुख्यतया ग्वालों का गाँव था। ग्वालों के बच्चे और बच्चियाँ मुझे बहुत प्रिय थे। बहुत छोटेपन से या यों कहिए, जब मैं चलने लगा, मैं अधिकतर उन्हीं ग्वालों के बीच में रहता था। मौका मिलते ही मैं घर से निकल जाता था। यह भी सत्य है कि वह स्वयं मुझे घर से निकाल ले जाते थे; यद्यपि यशोदा को यह पसंद नहीं था। वह मुझे घर की चहारदीवारी में ही बंद रखना चाहती थी। इसमें उसकी ममता भी हो सकती है और सुरक्षा की भावना भी।

रंग में श्याम होने के कारण मेरा नाम ‘कृष्ण’ पड़ गया। प्यार में मैं ‘कान्ह’ और ‘कन्हैया’ भी पुकारा जाने लगा। ग्वालबालों में मेरा यही नाम सबसे अधिक प्रचलित हुआ।

गोप और गोपियों के बीच ही मेरा मन रमता था। मैं उनके साथ दिन-दिन भर खेलता रहता। वे भी मेरे साथ खेलती रहती थीं।...गोपियों को तो मुझे नचाने में अधिक रुचि थी। जहाँ उन्होंने कहा, ‘कन्हैया, नाच तो जरा, मैं तुम्हें छछिया भर छाछ दूँगी।’ मैं ठुमुक-ठुमुक नाचने लगता। मेरी मेखला और पैजनियाँ के घुँघरू बजने लगते। आज तो मैं सुनी हुई बातें लिख रहा हूँ। मेरी कल्पना में मेरा जब बचपन नाचता है तब मैं आज भी लगभग उसमें खो जाता हूँ। कहते हैं, माँ की मानसिकता और आकांक्षा गर्भस्थ शिशु का निर्माण करती है। मेरे सुंदर नीलवर्णी व्यक्तित्व और बचपन से प्रस्फुटित होती मेरी कलाप्रियता में मेरी माँ की वह आकांक्षा प्रत्यक्ष होती थी, जिसने मुझे भगवान् के रूप में देखा था।

मैं ईश्वर का अवतार हूँ, इसे नंद और यशोदा के अतिरिक्त गोकुल गाँव के इक्के-दुक्के लोग ही जानते थे। वे आते ही मेरा चरण लेकर अपने मस्तक पर लगा लेते थे और दोनों आँखें मूँदकर परम संतोष का अनुभव करते थे।

मुझे अच्छी तरह याद है, एक दिन मेरे बालमन ने स्वयं से पूछा कि मेरा चरण मस्तक से लगाते ही लोगों की मुखमुद्रा ऐसी क्यों हो जाती है? इसका उत्तर मेरे पास नहीं था।...और पूछूँ तो किससे पूछूँ? कैसे पूछूँ? अपने पालने में लेटकर मैंने स्वयं अपने दाहिने पैर को उठाकर मस्तक पर लगा लिया। मुझे तो कोई अनुभूति नहीं हुई; पर मैंने यह अवश्य देखा कि यशोदा मुझे बड़े श्रद्धाभाव से देख रही है। मेरी इस क्रीड़ा को उसने नंद को भी दिखाया; क्योंकि उनकी दृष्टि में तो यह भगवान् की लीला थी।...वस्तुतः यह मेरा सहज बाल-चापल्य था।

मुझे भगवान् समझनेवाले मेरे माता-पिता की मनःस्थिति ने मुझे कभी भी असंतुष्ट और दुःखी होने नहीं दिया। मैंने जिसके लिए मुँह खोला, वह वस्तु उपस्थित की गई; जो चाहा, वह पाया। आखिर गोकुल के सामंत के घर पल रहा था, किस बात की कमी थी! फिर जो लोग मुझमें ईश्वरत्व का दर्शन कर रहे थे, वे सबकुछ न्योछावर करने को तैयार थे।

इन सारी परिस्थितियों ने मेरे मन की पटिया पर लिखी सहजता पर एक हठी बालक का चित्र बनाना आरंभ किया। सहजता तो नहीं मिटी, पर मेरा हठ बढ़ता गया। और एक स्थिति ऐसी भी आई कि मेरा बालहठ अन्यो के राजहठ से भी प्रबल हो गया।

मेरे बचपन की एक घटना लोग सुनाते हैं और खूब हँसते हैं।

उनके कथनानुसार, बचपन से ही मुझे आकाश का चंद्रमा बड़ा प्रिय था। मक्खन के गोले की तरह पूर्णिमा का चंद्रमा जब मैं देखता था, मुग्ध हो जाता था। आज भी चंद्रमा के प्रति मेरा स्वाभाविक आकर्षण है। शायद इसीलिए आज भी स्वर्ण के जड़ाऊ मुकुटों की अपेक्षा मुझे मोर मुकुट अधिक प्रिय है; क्योंकि उसमें जन्मजात चंद्रिकाएँ बनी रहती हैं। नील विराट् आकाश के बीच एक चंद्र की अपेक्षा नील स्निग्ध मोर पंखों पर अधिक चंद्रिकाएँ मेरे मस्तिष्क से कहीं अधिक मेरे मन के निकट हैं।

मैं बचपन से अचानक आज की स्थिति में आ गया। बात तो उन्हीं दिनों की चल रही थी।
जैसा आप जानते हैं, दूध से मुझे जन्मजात अनिच्छा थी; पर चंदा मामा को बुलाने का बहाना बनाकर माँ यशोदा मुझे बहुत अधिक दूध पिला देती थी। एक दिन हुआ, दो दिन हुआ, तीन दिन हुआ—आखिर रोज-रोज चंदा मामा के बुलाने का बहाना और रोज-रोज दूध पिलाना। अंत में मैं एक दिन छैला गया—“मैं चंदा मामा से मिलूँगा ही।”
“बेटा, वह बहुत दूर है। आकाश में देखो, वो रे—उतनी दूर। बहुत दूर।” यशोदा बोली।
“पर तुम तो उन्हें बुलाने के लिए कहती थीं। बुलाओ न अब!”
“बुला तो रही हूँ, पर वह आ नहीं रहे हैं।”
“तब तुम जाओ, उन्हें बुलाकर ले आओ।”
“बुला लाऊँ!” यशोदा जोर से हँस पड़ी, फिर कहने लगी, “जाऊँ तो जाऊँ कैसे? आकाश में जाने के लिए पंख चाहिए। मेरे पास पंख तो हैं नहीं।”
“तब तुम उन परियों को भेजकर बुलाओ।”
“किन परियों को?”
“जिनकी तुम कहानी सुनाया करती हो।”

मेरी बात पर यशोदा बहुत हँसी। वह बात को टाल जाना चाहती थी; किंतु मैं हठ पकड़ चुका था। चंदा मामा को लेकर रहूँगा। वह मेरे हठ पर मुग्ध भी थी और परेशान भी। अंत में उसने एक युक्ति निकाली। एक बड़े परात में पानी भरकर खुले आँगन में रख दिया। चंद्रमा का प्रतिबिंब जल में पड़ने लगा। अब चंद्रमा मेरे पास था। मैं ‘छप-छप’ पानी में उसे पकड़ने और खेलने लगा।

बहुधा गोप मुझे गोद में उठाकर गाय चराने भी ले जाते थे। इसी प्रसंग में वंशी मेरे हाथ लगी और ऐसी लगी कि आज तक नहीं छूटी। मैं उसके बिना नहीं रह सकता, वह मेरे बिना नहीं रह सकती। उसे देखते ही लोगों को सहज ही मेरी सुधि आ जाती है। अब तो वह मेरा प्रतीक बन चुकी है। आश्चर्य है, ‘गीता’ मेरा प्रतीक नहीं बनी। शायद इसलिए कि ‘गीता’ में हमारा चिंतन है, हमारी बौद्धिकता है; वंशी में हार्दिकता। ‘गीता’ दर्शन है और वंशी कला। ‘गीता’ हमारा मस्तिष्क है और वंशी हृदय। कला लोगों को जीना सिखाती है, जीवन को रस देती है; दर्शन जीवनेतर पर अधिक विचार करता है, जीवन पर कम।...वंशी में लोगों को मेरे जीवन की छवि अधिक दिखाई दी। मेरे नाम के कई पर्याय वंशी को देखकर बन गए—यथा वंशीधर, मुरलीधर आदि; किंतु ‘गीता’ के साथ मेरे नाम का कोई भी सार्थक पर्याय नहीं बन सका।

कला ‘सुंदरम्’ है, दर्शन ‘सत्यम्’। सुंदरम् की ओर हमारा सहज आकर्षण होता है, सत्यम् के प्रति तो अरुचि भी हो सकती है। आखिर अर्जुन का व्यामोह क्या था, वह सत्यम् की अरुचि ही तो था। इसलिए कला जीवन से अधिक चिपकी है, जीवन में रची-बसी है। दर्शन यदि बहुत समीप हुआ तो जीवन का सहयात्री ही बन सकता है। सहयात्री को तो कभी भी छोड़ा जा सकता है; पर जो चीज चिपकी है, उसे कैसे नोचकर फेंका जा सकता है। वंशी मुझसे कभी नहीं छूटी। मैं उसके रंघों में फूँकता रहा। उसकी धुन मेरे भीतर बैठे कलाकार में प्राण फूँकती रही।

धीरे-धीरे कंस को जब यह पता चला कि मुझे धोखा दिया गया है, देवकी का आठवाँ पुत्र कहीं जी रहा है, तब मुझपर आफत मँडराने की संभावना बढ़ी। यशोदा और नंद मुझे अपने विशाल भवन से बाहर निकलने नहीं देते थे। मैं खेलने के लिए मचलता तो वे वहीं गोपों को बुला लेते। गोपियाँ मेरे भवन में ही मुझे घेर लेतीं। गायों का आकर्षण मुझे अपनी ही गोशाला तक ले जाता। यशोदा स्वयं मुझे बहलाने के लिए बड़ा प्रयत्न करती। एक बार वह मेरे साथ ही गोशाला में गई। एक बड़ी सुंदर गाय के थन के पास मुझे खड़ा कर दिया और कहा, “कन्हैया, मुँह बाओ—और मुँह बाओ।”

मैंने पूरा मुँह खोलने में अपना सारा प्रयत्न लगा दिया, तब मेरी माँ ने थन से ऐसी दूध की धार निकाली कि वह सीधे मेरे मुँह में पड़ी। मुझे बड़ा अच्छा लगा।

दूध के प्रति सदा अरुचि रखनेवाला मैं अपनी माँ से ऐसा धारोष्ण से दूध पीने के लिए कहने लगा। माँ पिलाती भी, स्वयं भी प्रसन्न होती। एक ही प्रकार की प्रसन्नता की आवृत्ति भी आखिर कभी-न-कभी अरुचिकर हो जाती है।...और वह हो भी गई।

अब मुझे प्रासाद की प्राचीरों के बीच पड़ा रहना बोझिल हो गया था। जीवन की एकरसता से मैं ऊब चुका था। मुझे लग रहा था, बाहर का आकाश मुझे बुला रहा है। व्रज की हरी-भरी गोचर भूमि मुझे बुला रही है। मतवाली हवाओं से खेलते और झूमते अरण्य मुझे बुला रहे हैं। कालिंदी का कूल मुझे बुला रहा है। अब मैं चोरी-छिपे वंशी लेकर बाहर भी निकल जाता था।

इसका इतना फल तो हुआ कि मेरे माता-पिता को विश्वास हो गया कि मेरी चंचलता और मुक्त प्रकृति भवन की सीमाओं के भीतर बँधी रह नहीं सकती। अब मेरी देखरेख के लिए दो बलिष्ठ परिचारक रखे गए, जिनका काम केवल मेरी देखरेख करना और मुझे बाहर घुमाना था। उन्हें सावधान कर दिया गया था कि केवल कालिंदी के किनारे और गोकुल की गोचर भूमि के अतिरिक्त इसे कहीं मत ले जाना।

अब मैं सुबह का कलेवा करने के बाद ही बाहर निकल जाता और घंटों कालिंदी के कूल पर खेला करता। मुझे यमुना की लहरें अच्छी लगतीं। मन करता कि मैं उसमें कूद पड़ूँ। पर मेरे परिचारक जल का स्पर्श तक मुझे करने नहीं देते थे।

वहीं बहुत सारी गायें और गोपियाँ आ जाती थीं। वे मुझे खिलाते, मेरे साथ कल्लोल करते और जो कुछ मुझे खाने को देते उसमें से थोड़ा-बहुत खाता। शेष सीधे यमुना में फेंक देता। ढेर-के-ढेर कछुए किनारे की ओर दौड़ते। उनमें से कुछ तो रेत पर भी चले आते और अपनी लंबी गरदन निकालकर मेरी फेंकी हुई वस्तु बीनने लगते। जब मैं ढेले मारता तब वे अपनी गरदन खोल के भीतर कर लेते। यह सब मुझे बहुत अच्छा लगता।

मुझे सारी बातें ठीक से याद नहीं हैं; पर जब मस्तिष्क पर बहुत जोर देता हूँ तो धुँधला-धुँधला याद आता है; क्योंकि मैं उस समय बहुत छोटा था। शायद दो वर्ष के आसपास का रहा होऊँ।...पर मैं जहाँ भी रहता था, गोप और गोपियों से घिरा हुआ। इसका शायद एक कारण यह भी था कि मैं गोकुल के सामंत का बेटा था। सामंती वैभव में परिचारक और परिचारिकाओं के बीच पलता हुआ भी मेरा मन जन साधारण के बच्चों में ही घुलता-मिलता था।

यह एक असाधारण बात थी; क्योंकि उस समय की सामाजिक व्यवस्था में राजा तथा सामंतों और सामान्य जन-जीवन में बड़ा अंतर था। दोनों के बीच की दीवार अलंघ्य थी। उन पारदर्शी दीवारों के भीतर हँसते-खेलते, नाचते-गाते, वंशी बजाते एक नन्हे-मुन्ने खिलौने की तरह ही लोग मुझे ललचाई नजरों से देखा करते थे।

मैं बहुधा अलंकारों से सुसज्जित रहता था। राजघराने का बेटा जो था। हाथों में कलाइयों से सटे हुए कंगन, कंठ

में कटुला, पगों में पैजनियाँ और कटि में मेखला तो अवश्य ही रहती। ग्वालों के बच्चे इन्हें बड़े अचरज से देखते; क्योंकि गरीबी और अभावग्रस्त उनके जीवन में ऐसे अलंकारों की कोई संभावना नहीं थी। उनका सारा वैभव तो लकुटी और कमरिया तक ही सीमित था।

आरंभ में कुछ दिनों तक तो उनके और मेरे बीच पारदर्शी दीवार उन्हें मेरे पास आने नहीं देती थी। वे दूर से ही मुझे देखते और प्रसन्न होते थे। मैं ही ठुमक-ठुमक चलता हुआ उनके पास चला आता था। वे धन्य हो जाते थे। कोई-कोई मुझे छूकर धन्य होता। कोई प्यार से चुंबन लेता। किसी-किसीका दारिद्र्य ललचाई दृष्टि से हमारे अलंकारों को ही देखता रह जाता, जिनमें जटित रंग-बिरंगी मणियाँ आकाश के झिलमिलाते तारों जैसी थीं; जिन्हें वे देख सकते थे, पर जिनका पाना उनके लिए असंभव था।...कुछ मुझे गोद में उठाकर अपरिमित सुख का अनुभव करते।

बच्चों की इच्छा जब दबाई जाती है, तब कोई-न-कोई विकृति उनमें पैदा हो जाती है। यदि माता-पिता का स्नेह मुझे इतना न बाँधता तो शायद बहाना बनाने, झूठ बोलने और चोरी करने की विकृतियाँ मुझमें पैदा न होतीं। एक दिन गोप बच्चों के पीछे-पीछे मैं चल पड़ा। वे वंशी बजाते हुए गाय चराने जा रहे थे। उन्होंने पहले मुझे लौटाना चाहा; पर मैं नहीं लौटा, अपने हठ पर अड़ा रहा। तब उन्होंने मुझे गोद में उठा लिया। वे बारी-बारी से मुझे अपने कंधे पर उठाते और चलते रहे। मुझे बड़ा मजा आता। लगता, मैं इतना बड़ा हो गया हूँ।

इस प्रकार गोवर्धन पर्वत पर बहुत दूर निकल आया।

गरमी ढल चुकी थी। पिछली रात आर्द्रा के बादल बरसकर निकल चुके थे। मौसम सुहावना हो गया था। अमराई में पके हुए आम टपाटप चू रहे थे। ग्वालबाल उन्हें उठा-उठाकर चूस लेते थे; पर मैं तो उनके कंधे पर था, निचली डाल का आम तोड़ लेता था।

पंख लगाकर दिन देखते-देखते फुर्र से उड़ गया। संध्या हो गई। अब मुझे घर की सुधि आई। माँ आज अवश्य बिगड़ेगी। अब मैं घबराया। किंतु मैं क्या करता, स्वयं भागकर आ नहीं सकता था। ग्वालबालों के अधीन था। और वे वंशी बजा-बजाकर गायें इकट्ठा करने में लगे थे।

इसी बीच बादल घिरने लगे। रंगीन संध्या काली पड़ गई। अँधेरा मेरे भय को और अधिक गाढ़ा करने लगा। व्यग्रता कुछ और बढ़ी। तब तक देखता हूँ, मेरे दोनों परिचारक मेरी ओर लपके चले आ रहे हैं।

“हम लोग दोपहर से ही तुम्हें खोज रहे हैं और तुम इतनी दूर निकल आए!” उनमें से एक ने कुछ डाँटते हुए मुझसे कहा।

उसके कथन पर वहाँ खड़े ग्वालों ने कोई प्रतिक्रिया नहीं की। मैं भी चुप ही रह गया। वे मुझे गोद में उठाकर दौड़ते हुए चले। यों भी पहाड़ की ढाल पर उतरते समय स्वतः गति तेज हो जाती है। मुझे लगा, उड़ते घोड़े पर सवार हो मैं गोवर्धन से उतर रहा हूँ।

बाद में पता चला कि ये दो ही चाकर मुझे खोजने नहीं निकले हैं वरन् हमारे अधिकांश चाकर और गोकुल ग्राम के कुछ लोग भी यमुना के किनारे तथा अन्य स्थानों में मुझे खोजने निकले हैं। वे तरह-तरह की आशंकाओं से ग्रस्त थे। कहीं यमुना में मैं डूब तो नहीं गया। कंस का कोई चर या राक्षस मुझे उठा तो नहीं ले गया।

मुझे देखते ही मेरी माँ यशोदा की साँस में साँस आई। पिता नंद एकदम बिगड़ पड़े—“कहाँ चला गया था, दुष्ट?”

निश्चित ही मैं मार खाऊँगा। मैंने बहाना बनाया—“मैं नहीं गया था। ग्वालबाल मुझे उठा ले गए थे।”

“झूठ बोलता है! तू नहीं गया था क्या?” पिताजी तड़पे। बहुत से लोगों के बीच उन्होंने डाँटना शुरू किया। अब

मेरे पास रोने के अतिरिक्त कोई दूसरा चारा नहीं था। कितना विचित्र है! रोना ही बालकों का अस्त्र भी है और ढाल भी। उस समय वह ढाल का काम कर गया। मैं पिता नंद की सारी फटकार उसी पर सहता हुआ यशोदा के पैरों से लिपट गया। वह मुझे गोद में उठाकर पिताजी से यह कहती हुई भीतर चली—“अरे जाने भी दो, एक बार हो गया, हो गया। अब ऐसा नहीं करेगा।”

किंतु नंद को इतने से संतोष नहीं था। उन्हें लग रहा था कि जरा भी संदेह होते ही कंस अपने चरों को भेजेगा और इसकी यही हालत रही तो बड़ी सरलता से वह इसे उठा मँगवाएगा। दूसरे दिन सवेरे-सवेरे वे ग्वालबाल बुलाए गए, जिनके साथ मैं गोवर्धन पर्वत पर देखा गया था।

“तुम लोग कन्हैया को बिना मुझसे पूछे क्यों ले गए थे?” उन्हें देखते ही नंद ने बड़ी रुखाई से उनसे पूछा।

“हम लोग तो नहीं ले गए थे। कन्हैया स्वयं हमारे पीछे दौड़ता आया था।” गोपों में से एक के उत्तर के बाद उस पंचायत में मैं बुलाया गया।

“ये लोग कहते हैं कि ये तुम्हें नहीं ले गए थे।”

मैं भौंचक्का-सा उन सबके मुँह देखने लगा। फिर मैंने अपने ढाल से काम लिया और रोते हुए बोला, “ये झूठ कहते हैं।”

“कन्हैया स्वयं झूठ बोल रहा है। हम लोग बहुत आगे निकल गए थे, तब देखा कि यह दौड़ता हुआ पीछे आ रहा है।” उनमें से एक गोप बोला।

“क्यों? क्या कह रहे हैं ये लोग?” नंद ने आग्नेय नेत्रों से मुझे देखा।

अब मैं सिसक-सिसककर और रोने लगा।

“मेरे छोटे-छोटे पैर, मैं भला अपने से इतनी दूर कैसे जा सकता हूँ!” मेरे तर्क और कहने के ढंग पर लोगों को हँसी आ गई। और उसी हँसी में मुझपर लगाया गया सारा आक्षेप धूल की तरह उड़ गया।

कारण था कि मैं बहुत छोटा था। मेरी वाणी भी साफ नहीं थी। तुतली बोली में दिया गया यह तर्क मेरे बालसुलभ स्वभाव के अनुकूल था। इसीसे बहुत सही न होते हुए भी काम कर गया।

यशोदा मुझे भीतर ले गई और पूजागृह में लाकर कुलदेवता के चरणों में डाल दिया तथा मेरे मंगल के लिए प्रार्थना करने लगी।

आज सोचता हूँ तो हँसी आती है। यदि मैं उसकी दृष्टि में स्वयं भगवान् था तो भगवान् की मंगल कामना के लिए यह कुलदेवता कौन सा दूसरा भगवान् पैदा हो गया था!

वस्तुतः भगवान् कुछ और नहीं है, वह दुर्बल मन का आलंबन है। डूबते को तिनके का सहारा है। अभाव और व्यग्रता में एक भरोसा है। यशोदा भले ही सोचती रही हो कि मैं देवकी का आठवाँ पुत्र हूँ, भगवान् हूँ; पर स्वयं तो वह एक माँ थी। उसकी धड़कती छाती के भीतर नवनीत-सा स्निग्ध और जरा से ताप में पिघल जानेवाली ममता थी, जिसे मेरे कुशलक्षेम के लिए एक भगवान् की आवश्यकता थी, जिसकी कमी पूरी की कुलदेवता ने। शायद आज की स्थिति होती तो मैं उससे पूछता, ‘माँ, तू किसके चरणों में मुझे डाल रही है?’

‘भगवान् के।’ उसका उत्तर होता।

‘वह भगवान् मुझसे बहुत छोटा है।’ मैं कहता, ‘अन्यों के कुशलक्षेम का दायित्व तो मैं खुद निभा रहा हूँ—‘योगक्षेमं वहाम्यहम्’।’

तब शायद वह कहती, ‘मैं माँ हूँ—केवल माँ। यह बात दूसरी है कि मुझे भगवान् की माँ बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।’



इन्हीं दिनों एक विशेष बात हुई।

मेरे यहाँ मेरे ही पिता की अवस्था के एक व्यक्ति आया करते थे। वे बहुधा मुझे बड़े ममत्व से देखा करते थे, मुझे खिलाते, प्यार करते। गोद में लिये-लिये वे घंटों टहला करते; पर कुछ बोलते नहीं थे। केवल मेरी मंगल कामना करते ही उन्हें सुना था। कभी-कभी वे दिन-दिन भर मेरे यहाँ बिता देते थे।

आज जब वे मेरे यहाँ आए तब उनके साथ एक ऐसा भी व्यक्ति आया, जिसकी आँखों पर पट्टी बँधी थी। साथ ही एक स्त्री भी थी, मेरी माँ के वय से कुछ बड़ी।

आते ही वह स्त्री मेरी माँ का पैर छूने के लिए झुकी।

“अरे रे, यह क्या?” मेरी माँ ने उसे रोक दिया और स्वयं झुककर उसका अभिवादन किया—“हमारा सौभाग्य है कि हमारे महाराज की प्रिय बहन हमारे यहाँ पधारी हैं।”

वह कुछ बोली अवश्य, पर मेरी समझ में नहीं आया; पर उसने ऐसा कुछ जरूर कहा जैसे उसके ‘प्रिय’ शब्द पर उसे आपत्ति हो। मेरी माँ हँस पड़ी। अब उस स्त्री ने मुझे उठाया और अपनी छाती से लगा लिया। एक विचित्र अनुभूति हुई। यों तो रोज ही महिलाएँ मुझे वक्ष से लगाती रहीं। एक बार नहीं, दिन में अनेक बार मैं महिलाओं की गोद में जाता रहता हूँ; पर आज की अनुभूति कुछ और ही थी। उसकी धड़कन मेरी धड़कन से मिलकर एकाकार हो गई थी। उसका स्पर्श अद्भुत रोमांचकारी था।

वह कभी मुझे अपने वक्ष से लगाती, कभी मुझे चूमती और कभी बड़ी आत्मीयता से देखती। वह मुझे पाकर कितनी प्रसन्न थी, सो कैसे बताऊँ। उसे लग रहा था कि जैसे मैं बहुत दिनों से कहीं भटका हुआ था, आज अचानक मिला हूँ। उसकी पुलकन नेत्रों में नम हो गई थी।

“इन्हें पहचानते हो?” माता यशोदा ने पूछा।

मैं मुसकराता रहा।

“यह तुम्हारी माँ...” यशोदा के इतना कहते-कहते उसने एकदम उसके हाथ दबा दिए। जबान तक आया नाम मुख के भीतर ही रह गया।

फिर मुसकराते हुए वह स्त्री स्वयं बोली, “यहाँ गोकुल गाँव में जैसी तुम्हारी बहुत सी माताएँ हैं वैसी ही एक मैं भी हूँ।” निश्चित रूप से उसने बातों की धारा को दूसरी ओर ही मोड़ दिया था।

बहुत दिनों के बाद मुझे मालूम हुआ कि वह मेरी माँ देवकी थी। वह बहुत कम मुझसे मिलने आती थी। और जब आती थी, एकदम मुझसे हाहाकार करती हुई; जैसे बरसाती गंगा किसी वारि धारा को समेट लेने के लिए आ रही हो और मिलते ही जिसकी तरलता एकदम फैलकर शांत हो जाती है।

आज भी मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि मेरी असली माँ कौन थी? जिसने मुझे जन्म दिया वह थी या जिसने मुझे पाला-पोसा वह थी? जिसने गर्भाधान किया वह थी या जिसने स्तनपान कराया वह थी? जिसका संस्कार लेकर मैं पैदा हुआ वह थी या जिसने संस्कारों को परिमार्जित किया वह थी? सच कहूँ तो आज भी मैं किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाया। दोनों की जीवनी-शक्ति मुझमें ऐसी रच-बस गई है कि दोनों में से किसीको बड़ा-छोटा कहना मेरे बस का नहीं।

लोगों ने मुझे बताया कि उस दिन देवकी मेरे ही यहाँ रह गई थी और उस रात मैं उसीसे चिपककर सोया था।

उसके साथ आए दूसरे व्यक्ति मेरे पिता वसुदेव थे, जो बहुधा आते रहते थे, जिनका मेरे यहाँ खूब सम्मान होता था; पर जिन्हें मैं यह नहीं जानता था कि ये मेरे पिता हैं।...तीसरे आँखों पर पट्टी बाँधे व्यक्ति के संबंध में तो आपने

अनुमान लगा ही लिया होगा कि वह कौन था। कोई विशेष बात थी, तभी वह नंद से गंभीर मंत्रणा करने आए थे। मुझे बाद में उस रहस्य का पता चला।

“हो सकता है, कंस का पागलपन बालकों की हत्या की योजना बनाए।” छंदक ने शंका व्यक्त की।

“यह नहीं हो सकता।” नंद ने बड़े विश्वास के साथ कहा, “किसीके बच्चे की हत्या करने का उसे क्या अधिकार है? वह अपने बच्चे की हत्या कर सकता है। अपनी बहन के बच्चे की हत्या उसने की; किंतु कोई राजा प्रजा के बच्चों की हत्या करे, यह किस राजधर्म में लिखा है?”

“राजधर्म तो सामान्य मस्तिष्कवालों के लिए है, महाराज, पागलों के लिए नहीं है। जब से उसने यह सुना है कि देवकी का आठवाँ पुत्र जीवित है तब से वह विक्षिप्त जैसा ही है।”

“उसे यह बात मालूम कैसे हुई?” नंद ने पूछा।

“यह तो नहीं मालूम! इसके विषय में उसने कई बार मुझसे बातें की हैं।”

“तब आपने क्या कहा?” नंद ने पूछा।

“मैंने कहा, ‘मुझे विश्वास तो नहीं होता। हो सकता है, आपको आतंकित करने के लिए अफवाह फैलाई गई हो।’”

“फिर उसने क्या कहा?”

“उसने कहा, ‘नहीं, मेरे विरुद्ध एक गंभीर षड्यंत्र किया गया है। सुवासिनी और प्रद्योत उस षड्यंत्र में शामिल हैं। मैं शीघ्र ही उस षड्यंत्र का उद्घाटन करूँगा। हो सकता है, उसकी चिनगारी मेरे सिंहासन के नीचे ही सुलग रही हो।’ तब मैंने पूछा, ‘यदि ऐसा हुआ तो आप क्या करेंगे?’...उसका खौलता हुआ उत्तर था—‘मैं स्वयं अपना सिंहासन फूँक दूँगा।’” छंदक ने बताया।

“तब तो निश्चित ही वह विक्षिप्त हो चुका है।” नंद ने कहा और फिर वसुदेव से पूछा, “आपसे कभी उसने कुछ नहीं कहा?”

“पूछा था और बड़ी विषम स्थिति में। उसने मध्य रात्रि में ही मुझे सोते से जगवाया था। मैं घबराया। मैंने समझ लिया कि विपत्ति आसन्न है। क्या करता! चुपचाप। अभी उसके शयनकक्ष में पहुँचा नहीं था कि मैरेय में डूबी उसकी लड़खड़ाती आवाज सुनाई पड़ी—‘देखा मालिनी, अभी तक वह नहीं आया। वह मेरा सामना करना नहीं चाहता। अवश्य ही कोई रहस्य है।’ तब तक मैंने कक्ष में पैर रखा। वह उन्मत्तों-सा बड़बड़ाया—‘मुझे मालूम हो गया है, सब मालूम हो गया है।’ मैं मदिरा में डूबे कंस को चुपचाप देखता रहा; क्योंकि कुछ बोलना अग्नि को और प्रज्वलित करना था।

“उसने चषक से एक घूँट मदिरा और पी और फिर बोला, ‘मुझे मालूम है कि मेरे साथ षड्यंत्र किया गया है। देवकी का आठवाँ पुत्र अभी जीवित है। इस षड्यंत्र में तुम भी शामिल हो।’ मैंने कहा, ‘आप विश्वास कीजिए, ऐसा कोई षड्यंत्र नहीं है और न मेरा किसी षड्यंत्र से संबंध ही है।’”

“आप इतना झूठ बोल गए!” नंद ने वसुदेव की प्रकृति पर व्यंग्य किया।

“मैं क्या करता, ऐसे अवसरों पर शास्त्र भी झूठ बोलने की अनुमति देता है।”

नंद अब भी मुसकरा रहे थे।

“फिर क्या कहा उसने?” उन्होंने पूछा।

“उसने कहा, ‘तुम झूठ बोलते हो, वसुदेव! तुम झूठ बोलते हो। जानते हो, मेरी मृत्यु के पहले ही तुम सूली पर लटकते दिखाई दोगे—डाल से लटकते पके रसाल की तरह।’...और इतना कहने के बाद ही वह पागलों-सा हँसने

लगा।”

“निश्चित रूप से वह अपना संतुलन खो बैठा है।” नंद ने कहा।

“यदि ऐसा न होता तो प्रद्योत की पत्नी से वह कहता कि तुम्हें मेरे राज्य के सभी बच्चों की हत्या करनी पड़ेगी! और इसके लिए तुम सबसे पहले अपने दोनों बच्चों की हत्या मेरे सामने करो! वह काँप उठी थी इस आदेश को सुनकर। कंस पुनः तड़पा—‘क्या सोचती हो? अपने दोनों बच्चों की हत्या करके अपने पति के कुकृत्य का प्रायश्चित्त कर डालो, अन्यथा तुम्हारा पति भी सूली पर लटका दिया जाएगा—और तब तुम्हारे पुत्रों की हत्या मुझे ही स्वयं करनी पड़ेगी।’”

“हे भगवान्!” नंद ने अपने दोनों हाथ कानों पर रख लिये। मुख से एक ‘सी’ की ध्वनि निकली और उन्होंने आँखें बंद कर लीं। ऐसा लगा जैसे उनके भीतर कोई भूकंप आ गया हो—“सचमुच कितना निर्मम है कंस! माता द्वारा उसके ही पुत्रों की हत्या! सत्ता की लिप्सा मनुष्य को कितना निष्ठुर बना देती है!”

थोड़ी देर बाद ही नंद प्रकृतिस्थ हुए। तब उन्होंने कहा, “हो सकता है, ऐसी निर्ममता के पीछे उसकी चाल हो।”

“कैसी चाल?” छंदक ने पूछा।

“वह समझता तो है कि प्रद्योत सारे षड्यंत्र को जानता ही नहीं वरन् उसमें सम्मिलित भी है, इसीलिए वह इतनी क्रूरता बरत रहा है कि वह उसका उद्घाटन कर दे।” नंद ने कहा।

“इसी आशंका से तो मैं यहाँ आया हूँ।” छंदक बोला, “यदि उसने उद्घाटन किया तो कन्हैया की रक्षा की सबसे बड़ी समस्या उत्पन्न हो जाएगी।”

नंद गंभीर हो गए।

“यद्यपि अभी ऐसी संभावना है नहीं। प्रद्योत एकदम हम लोगों के विश्वास में है।” वसुदेव ने कहा।

“पर औरत को पिघलते देर नहीं लगेगी!” नंद बोले, “नारी के पेट में यों ही बात नहीं पचती और फिर पुत्रों की हत्या का दुःसह स्वप्न उसे पागल कर देता होगा।”

“यही तो विचित्र बात है कि प्रद्योत ने उसे कुछ नहीं बताया है। उसे इन सभी संदर्भों की गंध भी नहीं लगी है, वह बताएगी क्या!”

“प्रद्योत ने उसे कुछ नहीं बताया? आश्चर्य है!” नंद चकित रह गए—“और उसने अपने पति से पूछा भी नहीं?”

“पूछा क्यों नहीं, बार-बार पूछा; किंतु वह हर बार यही उत्तर देता रहा कि ऐसा कुछ नहीं है। महाराज किसी भ्रम में पड़ गए हैं।”

“तब तो विलक्षण है प्रद्योत! उसकी जितनी प्रशंसा की जाए, थोड़ी है।” नंद ने कहा।

“यह विलक्षणता अंत तक बनी रहे, तब तो!” वसुदेव का शंकाकुल मन चुप न रह सका।

“क्यों? आपके मन में ऐसी शंका क्यों पैदा हो रही है?”

“शंका का आधार है, छंदक!” वसुदेव और अधिक गंभीर हुए—“प्रद्योत कितना प्रहार सहेगा? कोई वज्र तो है नहीं। आखिर वह मनुष्य ही है और किसी भी क्षण टूट सकता है।”

“आशंका तो बनी ही है, इसीलिए तो हम लोग यहाँ आए हैं।” छंदक बोला, “किंतु संभावना कम दीखती है; क्योंकि वह मनुष्य होकर भी वज्र पर जड़ा हुआ है।”

वसुदेव और नंद दोनों ने छंदक को नहीं समझा। प्रश्नवाचक मुद्रा में उसे देखते रहे। तब छंदक ने स्वयं को स्पष्ट किया—“आप क्या समझते हैं? हमारे-आपके कहने से प्रद्योत में यह दृढ़ता आई है? अरे, इस दृढ़ता के पीछे है उसका पितामह बाहुक अंधक। उसने स्पष्ट कहा है कि नारद की भविष्यवाणी झूठी नहीं हो सकती। वह

बालक अवश्य कंस का विनाश करेगा। उसकी रक्षा करना तुम्हारा धर्म है।”

इस संबंध में छंदक ने एक बात और बताई—“कंस से जब-जब प्रद्योत प्रताड़ित होता है, घबराया हुआ वह सीधे अपने पितामह के यहाँ पहुँचता है। वह उसे ढाढ़स बँधाते हैं और वह शांत हो जाता है।...एक दिन प्रद्योत काफी घबरा गया था। उसने लाचार होकर अपने पितामह से पूछा, ‘आखिर इस स्थिति का अंत कब होगा?’

“उसने बड़ी शांति से तत्क्षण उत्तर दिया, ‘कंस के अंत के साथ।’

कुछ समय तक बातें इधर-उधर भटकती रहीं। बाद में छंदक ने इसी प्रसंग का एक और आयाम उद्घाटित किया—“हमारे सामने समस्या प्रद्योत की उतनी नहीं है जितनी सुवासिनी की। अभी तो मैंने उसे एक सुरक्षित स्थान पर छिपा रखा है।”

“कहाँ है?” वसुदेव की स्वाभाविक जिज्ञासा थी।

“इसे जानकर आप क्या करेंगे?” छंदक बोला। फिर उसे लगा जैसे वह मर्यादा का अतिक्रमण कर रहा है। उसने स्वयं में संशोधन किया—“आप क्षमा करें, इसलिए मैं बताना नहीं चाहता कि जहाँ एक कान से बात दूसरे कान में गई, वहाँ उसमें पंख उगने लगते हैं।...लेकिन गुप्तचर सुवासिनी के इतने पीछे पड़े हैं कि अब उसे मथुरा में छिपाया जाना असंभव-सा लगता है।”

फिर छंदक ने नंदजी को संबोधित करते हुए कहा, “क्या उसकी कोई व्यवस्था आपके यहाँ नहीं हो सकती?”

“मैं उसे जानता नहीं हूँ। और जब तक किसीको अच्छी तरह न जानूँ, अपनी राय नहीं दे सकता।”

अब छंदक ने नंद को सुवासिनी का विस्तार से परिचय कराया और जन्म के समय निबाही गई उसकी भूमिका, उसकी योग्यता और उसके आकर्षक व्यक्तित्व की चर्चा की।

नंद ने तत्क्षण अपना निष्कर्ष सुनाया—“छिपाया उसे जाता है, जो छिप सके। दीपक को अँधेरे में छिपाने का मतलब है, उसकी ओर औरों की दृष्टि को भी आमंत्रित करना।” उन्होंने स्वयं को और अधिक स्पष्ट किया—“आपके कथनानुसार, वह बहुचर्चित और बहुपरिचित महिला है। उसे बहुत से लोग जानते हैं। ऐसी महिला को अपने यहाँ रखना स्वयं खतरे को आमंत्रित करना है—कोई सामान्य महिला होती तो उसे कहीं भी रखा जा सकता था।...कहाँ मथुराधीश की व्यक्तिगत परिचारिका सुगंध बटोरने और बिखेरनेवाली। वह जहाँ भी रहेगी, सुगंध छोड़ती हुई और भौरों को बुलाती हुई।” कहते-कहते नंद हँसने लगे।

छंदक अधिक गंभीर हो गया; किंतु वसुदेव की आकृति पर कोई तनाव नहीं। शायद उन्हें मेरे ईश्वरत्व का अधिक भरोसा था और छंदक ईश्वर की सुरक्षा के लिए अधिक परेशान था। आज सोचता हूँ तो हँसी आती है। सोचते-सोचते अचानक नंदजी हँस पड़े।

“क्या कोई विशेष बात है क्या?” छंदक पूर्ववत् गंभीरता से बोला, “ऐसी प्रगल्भ हँसी क्यों?”

“सोचता हूँ, नारी से कहीं अधिक छिपने की गुंजाइश ईश्वर ने पुरुष को दी है।” नंद ने कहा।

“क्यों?”

“पुरुष दाढ़ी-मूँछों में अपने को बहुत कुछ छिपा सकता है, पर नारी इससे वंचित है।” नंद ने कहा और दोनों हँस पड़े।

“भाई, सब कर सकता हूँ, पर सुवासिनी को दाढ़ी-मूँछें तो नहीं उगा सकता।” छंदक के इस कथन पर एक बार फिर हँसी हुई।

“जिसे भगवान् नहीं कर सके, उसे तुम क्या करोगे?” इस बार का हास्य लाचारी और विवशता से भरा था।

□

आचार्यजी ने बताया कि वहाँ से निराश होकर छंदक और वसुदेव सीधे उनके यहाँ आए। वे देवकी को भी साथ ही लाना चाहते थे; किंतु उसे मेरे छटपटाते प्रेम ने ऐसा बाँधा कि वह रात भर मुझे छोड़ न सकी। लोग इस रहस्य को भी खुलने देना नहीं चाहते थे कि देवकी रात में नंदजी के यहाँ रह गई अथवा उसकी यशोदा से कोई आत्मीयता है।

वास्तव में नंदजी कंस के सामंत थे और उसे 'कर' देते थे। एक सामंत के यहाँ महाराज की बहन बिना किसी निश्चित कार्यक्रम के रात्रिवास करे, यह परंपरा नहीं थी। भले ही वह नंद की ही देखरेख में होती... फिर वह किसीकी जान में तो आई नहीं थी। छिपकर आई थी। छिपकर रही थी—और अब उसे छिपकर जाने की व्यवस्था करनी थी।... वस्तुतः हर व्यक्ति मेरे ऊपर पड़नेवाली छाया से सतर्क था।

आचार्यजी के यहाँ जब ये लोग पहुँचे तब रात्रि का प्रथम प्रहर चल रहा था। शीत काफी बढ़ गई थी। आचार्यजी भी रात्रि-पूजन से निवृत्त होकर विश्राम की योजना बना रहे थे।

आचार्यजी इन दोनों व्यक्तियों के अप्रत्याशित आगमन पर चौंक पड़े। अवश्य कोई नई बात पैदा हुई है। उन्होंने शीघ्र ही उन्हें अंतरंग कक्ष में बुलाया और खोद-विनोद आरंभ किया। सारी बातें जान लेने के बाद वे लगभग सामान्य मनःस्थिति में हुए। लगातार तनाव में जीने के बाद मनुष्य तनाव का अभ्यस्त हो जाता है। यही अभ्यस्तता मथुरा का जीवन हो गई थी। फिर आचार्यजी उससे अलग थोड़े ही थे।

“अब तो जो हो गया, सो हो गया। आप लोगों को नंद के यहाँ जाना नहीं चाहिए था।” आचार्यजी बोले।

“मेरे सामने दो काम थे—एक तो सुवासिनी की व्यवस्था करना...” छंदक बोला।

“इसके लिए तुम ही चले जाते, वसुदेव को ले जाने की क्या आवश्यकता थी?”

“वसुदेव तो कई बार उनके यहाँ हो आए हैं...”

“...पर अकेले।” आचार्यजी ने बीच में ही टोका—“आपके साथ नहीं। अकेले तो कोई भी मथुरा जा सकता है। और अकेले वसुदेव शून्य हैं। जहाँ आपके साथ लगते हैं, दस हो जाते हैं।” आचार्यजी हँसे—“वसुदेवजी का आपके साथ होना एक समाचार है। जो कोई सुनेगा, उसके कान खड़े होंगे।... अच्छा हुआ कि आप लोग अँधेरे में आए। यदि प्रकाश में आते तो शायद मैं ही आपसे न मिलता।”

“यदि मिलन का आधार अँधेरा ही है, तो उसे और बड़ा होना चाहिए!” छंदक ने व्यंग्य किया।

“जाड़े की रात तो यों ही लंबी होती है।” आचार्यजी के उत्तर पर सभी हँस पड़े।

किंतु आचार्यजी अब भी कहते ही रहे—“वसुदेवजी को ले जाकर आपने जो मूर्खता की वह तो की ही, आपको किसी स्थिति में देवकी को नहीं ले जाना चाहिए।”

“क्या करूँ, उन्होंने हठ पकड़ लिया!”

“राजहठ का सामना कर रहे हो और नारीहठ से परास्त हो रहे हो। अद्भुत हो, छंदक, तुम भी राजनीतिक!” आचार्यजी ने एक दूसरा व्यंग्य बाण मारा।

“आप समझते नहीं, आचार्यजी, एक माँ का हृदय था। अपने बच्चे के लिए मचल उठा।” छंदक बोला।

“अच्छा जी, देवकी का हृदय ही माँ का हृदय है। प्रद्योत की पत्नी का हृदय माँ का हृदय नहीं है, जिसे आप कंस के समक्ष अपने पुत्रों तक की हत्या करने के लिए तैयार कर रहे हैं!” आचार्यजी का यह प्रहार छंदक को मौन कर देने के लिए काफी था। उन्होंने पुनः छंदक को संबोधित करते हुए कहा, “लोहा को लोहा ही काटता है, छंदक! निष्ठुरता का विनाश करने के लिए आपको कितना निष्ठुर होना पड़ेगा, इसका अनुमान तो आप जैसे राजनीतिज्ञ को होना ही चाहिए।”

वसुदेवजी तो पहले से ही चुप थे। अब उनकी मूकता को छंदक ने भी ओढ़ लिया। वह आचार्यजी का मुख देखता रह गया। उसे लगा, उसने भूल ही नहीं की है, आज आचार्यजी से परास्त भी हुआ है।

थोड़ी देर बाद आचार्यजी वसुदेव से बोले, “आप सूर्योदय के पूर्व ही गोकुल ग्राम जाइए और देवकी को लिवा लाइए।...बहाना भी अच्छा है। कल मकर संक्रांति है। किसीसे भी आप कह सकते हैं कि गोवर्धन पर दर्शन-पूजन के लिए गया था।”

वसुदेवजी नितांत भाग्यवादी सरल व्यक्ति थे। सारी संभावनाओं और आशंकाओं को नियति की गोद में छोड़कर वे बेफिक्र रहते थे। इसीसे अत्यंत दुःखद स्थितियों में रहकर भी उन्हें दुःख की अनुभूति नहीं होती थी। राजभवन में रहने के बाद भी कंस के बंदीगृह के जीवन को उन्होंने बड़े सहजभाव से झेला था।

इस समय भी आचार्यजी के कहने पर उन्होंने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। मौन रूप से शिरोधार्य किया और वहीं बिछी शय्या पर ढुलक गए।

“कल महामात्य से मेरी बातें हुई थीं।” आचार्यजी ने वार्त्तालाप का नया क्रम चलाया—“उनका विचार है कि कंस इस समय लगभग विक्षिप्त हो चुका है। वह हर व्यक्ति से—और जब कोई नहीं मिलता तो प्रासाद की प्राचीरों तक से बस एक ही प्रश्न पूछता है—आखिर कारा से देवकी का आठवाँ पुत्र बाहर कैसे चला गया? मेरे विरुद्ध कोई नियोजित षड्यंत्र है न?

“‘आपसे भी उसने पूछा?’ मैंने महामात्य से पूछा।

“‘हाँ, मुझसे भी पूछा था। मैंने सधा-सधाया उत्तर दिया कि आपका भ्रम है। जब वह मानने के लिए तैयार नहीं हुआ, तब मैंने स्पष्ट कहा कि यदि नारद की भविष्यवाणी सत्य है, यदि देवकी के आठवें गर्भ से परमात्मा ने अवतार लिया होगा, तब परमात्मा के लिए कुछ भी असंभव नहीं है।...कारा की दीवारें उसे क्या रोक पाएँगी!’ महामात्य ने बताया।

“‘तब उसने क्या कहा?’ मैंने पूछा।

“‘कहता क्या! भयग्रस्त मौन उसकी आकृति पर फैल गया था। थोड़ी देर बाद बोला, ‘तो फिर यह दैवी चमत्कार है!’

“‘हो सकता है।’ महामात्य ने कहा।

“‘केवल कारागार से बाहर निकल जाने के लिए दैवी चमत्कार है या चमत्कार और कहीं भी दिखाई पड़ता है!’ एक उन्मत्त हँसी हँसते हुए कंस कहता गया—‘यदि चमत्कार है तो वह बैठे-बैठे भी मेरा प्राण ले सकता है।’ ”

“इसपर महामात्य ने क्या कहा?” इस बार छंदक ने आचार्यजी से पूछा।

“वे चुप रह गए होंगे! बेचारे क्या बोलते!”

“उनको कहना चाहिए कि पाप का घड़ा भर जाने पर ही उसे फोड़ने का भगवान् के यहाँ विधान है। इसके लिए ईश्वर को लंबी प्रतीक्षा करनी पड़ती है।” छंदक बोला।

“यदि महामात्य ने नहीं कहा तो तुम जाकर कह देना।” आचार्य हँसते हुए बोले।

आचार्यजी के कथनानुसार, बातें चल ही रही थीं कि मेरे पिता वसुदेवजी सो गए थे। उनकी नाक बोलने लगी। उन्होंने मुझे बताया कि वसुदेव के समान इतना सरल और तनावमुक्त व्यक्ति तो उन्होंने देखा भी नहीं। इतनी गंभीर बातें चल रही थीं और वह भी जिसके वे प्रमुख पात्र हैं, फिर भी उन्हें नींद आ जाए! अद्भुत थे वे भी।

महामात्य की बातों का सारांश मात्र इतना था कि कंस देवकी के आठवें पुत्र का चमत्कार देखना चाहता है।

“यह चमत्कार जहाँ एक ओर नारद की भविष्यवाणी की विश्वसनीयता स्थापित करेगा, वहीं कंस की व्यग्रता की

अग्नि में भी घी डालेगा।...व्यग्रता की चरम सीमा पर हो सकता है, वह अपना विनाश स्वयं कर ले।” आचार्य ने छंदक से कहा।

किंतु छंदक आचार्यजी से सहमत नहीं था—“कंस कभी भी अपना विनाश स्वयं नहीं कर सकता, वह अपने विनाश का उपकरण अवश्य जुटा सकता है।”

“जो भी हो, हमें इस तर्क-वितर्क में नहीं पड़ना चाहिए। हो सके तो उसके चमत्कारों के गंभीर समाचार कंस के कानों तक पहुँचने चाहिए। इससे लाभ ही होगा।” आचार्य ने कहा।

“किंतु इससे एक खतरा भी है।”

“क्या?”

“चमत्कारों के समाचार से देवकी के आठवें पुत्र तक पहुँचने में उसे सरलता हो जाएगी।”

“हो सकता है; किंतु चमत्कारों से उसकी व्यग्रता बढ़ेगी—और इस समय उसे एकदम पागल कर देना मथुरा के हित में है।”

चमत्कार! कुछ समय तक छंदक सोचता रहा। अचानक उछल पड़ा; जैसे उसे कोई अभीप्सित वस्तु मिल गई हो।

“कल एक बहुत बड़ा चमत्कार मथुरा देखेगी। आप विश्वास मानिए, कल एक बहुत बड़ा चमत्कार मथुरा देखेगी।” वह एकदम उठकर खड़ा हो गया; मानो खुशी के मारे अब नाचने ही लगेगा। वह अप्रत्याशित रूप से प्रसन्न था।

आचार्यजी ने व्यंग्य भी किया—“लगता है, अंधे के हाथ खंजन पड़ गया है!” बल्कि बाद में आचार्यजी ने सोचा कि आँखों पर बँधी पट्टी पर यह व्यंग्य आवश्यकता से अधिक तीखा हो गया।

किंतु छंदक हँसा—“आप विश्वास कीजिए। अब खंजन ही दिखाई देगा, अंधा नहीं।” इतना कहते-कहते वह कक्ष से बाहर निकल चुका था।

आचार्यजी ने उसे इस रात्रि में जाने से बहुत मना किया; पर अब वह छूटे हुए बाण की तरह रुकनेवाला नहीं था। मेरे पिताजी अब भी गहरी नींद में खर्राटे भर रहे थे।

□

चार

अनावृष्टि हुई। एक-एक बूंद के लिए धरती तरस गई। बूढ़े के तन पर झुर्रियों की तरह पृथ्वी की परत सिकुड़ती और फटती दिखाई दी। हाहाकार मच गया। लोग भूख-प्यास से व्याकुल गाँवों को छोड़कर नगर की ओर भागने लगे। यह घटना मुझे कुछ-कुछ याद आती है। विचित्र स्थिति है, विपत्ति गाँव झेलते हैं और वैभव का आनंद नगर लेते हैं। बात यह है कि उत्पादन का निर्झर बहता हुआ नगरों में चला आता है और गाँव की जिंदगी में केवल रेत रह जाती है।

ऐसी परिस्थिति में गर्गाचार्यजी नंद के यहाँ पधारे। ध्यातव्य है कि मेरे दोनों पिता—वसुदेव और नंद यादवों के शूर कुल के रत्न थे और गर्गाचार्य शूरो के परंपरागत आचार्य। कंस के यहाँ तो उनका आचार्यत्व स्वर्णखंडों पर खरीदा गया था। वह अंधक कुल के क्रीत आचार्य थे—और बहुत सम्मानपूर्वक कहूँ तो पुरोधा थे। वंश परंपरा का लगाव उन्हें नंद के यहाँ ही खींच लाता था।

उन्होंने आते ही नंद को सलाह दी—“अन्न का सुरक्षित भंडार आप गाँव के लोगों में बाँटते जाइए।”

“यही तो कर रहा हूँ।” नंद ने कहा, “किंतु यह कब तक चलेगा?”

“विश्वास कीजिए, कभी समाप्त नहीं होगा।...जिसके घर में स्वयं भगवान् हों उसके घर में अन्न की कमी पड़ जाए, यह नहीं हो सकता।” आचार्यजी बोले, “कल से यदि हो सके तो अनाज नौकरों से मत बाँटवाइए।”

“तब किससे बाँटवाऊँ?”

“कन्हैया से।”

आचार्य के कथन पर नंद हँस पड़े—“वह छोटा बच्चा कितना करेगा?”

“जितना करेगा, उतना करेगा।” आचार्यजी ने बताया—“इससे दो लाभ होंगे—एक तो लोगों को पता चलेगा कि मुझे साक्षात् भगवान् के हाथ से ही अन्न मिल रहा है, दूसरे कन्हैया के छोटे-छोटे हाथ हैं, वह तुम्हारे नौकरों से कम ही देगा और लोगों को संतुष्टि अधिक मिलेगी।”

नंद को आचार्य की बात समझ में आ गई। दूसरे दिन से मैं लोगों को सदाव्रत बाँटने लगा। मेरे परिचारक मेरे बगल में खड़े रहते। आवश्यकता पर वे मेरी सहायता करते। किंतु उनकी मुझे कोई विशेष आवश्यकता न पड़ती। ग्वालबालों का एक समूह मेरे साथ लगा रहता।

इस कार्य में मुझे बड़ा मजा आता। कुछ तो अन्न के साथ-साथ मेरा चुंबन भी लेते; कुछ दुलारते, मुझे गोद में उठाने की चेष्टा करते। इस अन्न-वितरण से लोगों में मैं बहुत प्रसिद्ध हो गया। उनकी ममता की बाढ़ अब मेरी ओर आने लगी थी।

एक दिन मेरी माँ के वय की एक औरत अन्न लेने आई। उसने पत्रों में लिपटी कोई चीज मुझे थमाई। मैंने खोलकर देखा, मक्खन का छोटा सा गोला था। देखते ही मैं उसे खाने लगा। परिचारकों ने मुझे मना किया; क्योंकि उन्हें सावधान कर दिया गया था कि कन्हैया को किसीकी दी हुई वस्तु कभी खाने मत देना। वह विषमय भी हो सकती है; क्योंकि एक मूल्यवान् जीवन का अंत इतनी सरलता से हो जाए, मेरे शुभचिंतक नहीं चाहते थे।

भगवान् को कौन विष दे सकता है! आज सोचता हूँ तो हँसी आती है। हँसी आती है उन भोलेभाले लोगों पर, जिनकी आस्था बड़ी सरलता से विभाजित हो जा सकती थी; जो एक ओर मुझे ईश्वर समझते थे और दूसरी ओर एक नादान शिशु भी।...पर मैं क्या कहूँ उस स्त्री को, जो मेरे लिए मक्खन लेकर आई थी। जब चारों ओर हाहाकार

हो, सूखा पड़ा हो, गायें दूध देना बंद कर चुकी हों तो बेचारी इतना मक्खन कहाँ से ले आई?

इतने दिनों बाद, आज भी उसकी सूखी आँखों में ममता के आँसू मुझे दिखाई दे रहे हैं। उन आँसुओं के देखने के बाद शायद कोई विष की कल्पना नहीं कर सकता; क्योंकि विष में सबकुछ हो सकता है, जीवन की संभावना भी हो सकती है, पर ममता नहीं हो सकती।

दोपहर से कुछ पहले ही अचानक मेरे परिचारक मुझे उठाकर भीतर ले गए। मैंने सोचा, भोजन का समय हो गया है। पर बात कुछ और थी।

लोगों ने सूचना दी कि राजपथ पर एक रथ दौड़ता चला आ रहा है। उसपर कुछ सैनिक अधिकारी सवार हैं।

औरों के लिए तरह-तरह की आशंकाओं की झाड़ियाँ उगने लगी थीं; पर मेरे लिए कोई बात नहीं थी। यशोदा मुझे अंतःपुर में—प्रासाद के ऐसे मध्य बिंदु में ले गई, जहाँ किसी बाहरी की छाया भी नहीं पड़ सकती थी।

माता अब मुझे खिलाने का प्रबंध करने लगी। मुझे भोजन कराना कोई आसान काम नहीं था। यों मैं दिन भर कुछ-न-कुछ खाता ही रहता था, फिर भूख कहाँ! फिर भी मुझे समय पर कुछ अवश्य खिलाया जाता था। मेरी चोटी बढ़ने से लेकर विवाह तक कर दिए जाने के आश्वासन दिए जाते थे और उन्हीं आश्वासनों के ढेर में उलझकर मैं दो-एक निवाले निगल लेता था। माँ बताती थी कि तुम इतने शरारती थे कि एक कौर मुँह में रखते ही मेरा हाथ छुड़ाकर भाग जाया करते थे। कभी झूले पर जाकर बैठ जाते थे और कभी अटारी पर जाकर छिप जाते थे। तुम्हें पकड़ना और फिर कुछ खिलाना कुत्ते की दुम सीधी करना था, जो छूटते ही फिर जैसी-की-तैसी।

थोड़ी देर में ही पूरे भवन में भाग-दौड़ मच गई। पता चला, मथुरा के सैनिक मेरे ही द्वार पर पधारे हैं। उनकी खूब आवभगत हुई। संध्या तक वे थे, तब तक मेरी माँ यशोदा मुझे लिये अंतःपुर में ही पड़ी रही। यहाँ परिचारकों का भी प्रवेश नहीं। हाँ, दो-एक परिचारिकाएँ मुझे अवश्य बहला रही थीं; पर मैं रह-रहकर बाहर जाने के लिए हठ करता और लोग अंतःपुर के प्रशस्त आँगन में ही मुझे रखना चाहते थे। जब वे मेरे हठ से तंग आ गए तब उन्होंने आँगन में रखी एक छोटी सी गाड़ी से मेरा एक पैर बाँध दिया।

धीरे-धीरे घसीटता अंतःपुर के बाहर तक उसे ले आया। देखा, एक कोने में खड़े होकर नंद और यशोदा कुछ गंभीर मंत्रणा कर रहे हैं। पहले नंद ने मुझे देखा और यशोदा को दिखाते हुए बोले, “वह देखो, वह तुम्हारे लाड़ले ने क्या तमाशा बना रखा है!”

यशोदा चकित-सी मुझे देखती रह गई। वे दोनों मुझपर मुग्ध भी थे।

“अब बताओ, इसे कैसे छिपाया जा सकता है?” यशोदा बोली।

“कहीं अग्नि आँचल से छिपती है!”

“तब कहाँ छिपती है?”

“राख के नीचे।” नंदजी के कहने का तात्पर्य था कि कन्हैया को तू गोपों के साथ खेलने के लिए छोड़ देती तो लोगों का ध्यान उसकी ओर न जाता। बहुत होता, अंगरक्षक लगा देती, जो दूर से देखते रहते। इस संदर्भ में उन्होंने एक बात बड़े महत्त्व की कही थी—“पिंजड़े में छिपाने से अच्छा है, पक्षी को मुक्त आकाश में पक्षियों के बीच छोड़ देना; क्योंकि पिंजड़ा तो गायब किया जा सकता है, पर आकाश को गायब करना असंभव है।”

मैं उसी समय मुक्त कर दिया गया और सीधे भवन के बाहर ग्वालों के बीच भागा।

नंद चिंतित थे कि कंस ने उन्हें बुलाया था।

“आखिर बुलाने का कारण क्या है?” यशोदा ने पूछा।

“यही तो नहीं मालूम।”

“क्या हो सकता है?”

“कुछ भी हो सकता है।” नंद ने कहा, “हो सकता है, देवकी के आठवें पुत्र की खोज के लिए ही मुझे बुलाया हो।...शायद कहे कि गोकुल का चप्पा-चप्पा खोजकर बताओ कि वह कहाँ है!”

“...और यह भी हो सकता है कि उसे मालूम हो गया हो कि वह तुम्हारे यहाँ पल रहा है!”

“हो सकता है।” नंद बोले, “कुछ भी हो सकता है।”

“यदि वह तुमसे कन्हैया को माँगे, तब क्या करोगे?”

“नहीं दूँगा! कहीं कोई अपना बच्चा देता है!” बताते हैं, नंद के स्वर में अद्भुत दृढ़ता थी—“पहले जो भी रहा हो; पर अब मैं उसका पिता हूँ, तुम उसकी माता हो। माता-पिता से पुत्र को छीनने का अधिकार सिवा परमात्मा के और किसी के पास नहीं है।”

□

भय, आशंका और अनिश्चय की मानसिकता में नंद अकेले नहीं गए। उन्होंने भी अपने कुछ विश्वस्त सचिवों, सैनिकों और चाकरों को साथ लिया। पता नहीं किस परिस्थिति का सामना करना पड़ जाए। मुझे ठीक याद है, मैंने देखा था, तीन रथों पर लदकर लोग गए थे।

आचार्य ने बताया था कि उस दिन कंस की मुद्रा कुछ अच्छी थी। लोगों का यथोचित सम्मान किया गया; पर वह मिला मेरे पिता केवल नंद से ही। बड़ी आत्मीयता और प्रेम के साथ।

“आपके साथ मेरी कोई शत्रुता तो नहीं है?” यह अजीब प्रश्न था, जिसे नंद के सामने पड़ते ही कंस ने किया।

नंद हक्का-बक्का रह गए।

“शत्रुता कैसी, महाराज? अरे, आप हमारे स्वामी हैं, हम आपके सेवक। शत्रुता करके रहा कहाँ जा सकता है?”

“वहीं रहा जा सकता है और वैसे ही रहा जा सकता है जैसे आज हमारी सारी प्रजा रह रही है। आप जानते हैं कि हमारी प्रजा ने आज हमसे शत्रुता कर ली है।”

नंद ने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। वे एकटक उसे देखते रहे और उसकी मनःस्थिति का अनुमान लगाते रहे। कंस कहता गया—“जानते हो, नंद! आज मेरी प्रजा ही मेरे साथ षड्यंत्र कर रही है। देवकी के आठवें पुत्र को वह हमसे छिपाकर पाल रही है। वह अभी जीवित है।”

“किंतु देवकी का आठवाँ शिशु तो पुत्री थी। वह मारी गई।” नंद ने जानबूझकर अभिनय किया।

“वह सब नाटक था।”

“नाटक!...आश्चर्य!...जिसके भय और आतंक से धरती थर्रा उठती हो, उसके विरुद्ध भी नाटक हो सकता है। बात कुछ समझ में नहीं आती।”

“न समझ में आनेवाली बात का नाम ही तो षड्यंत्र है।” कंस थोड़ा गंभीर हुआ।

“आपने देवकी से पूछा था? क्योंकि इस संबंध में सबसे विश्वस्त देवकी का ही कथन हो सकता है।”

कंस हँसा—“तुम क्या समझते हो कि मैंने पूछा नहीं होगा। एक बार नहीं, अनेक बार पूछा था। उसके पास बस एक ही उत्तर है, ‘प्रसव के समय मैं असाध्य पीड़ा से व्याकुल थी। पीड़ा-मुक्ति के लिए सुवासिनी ने मुझे मैरेय पिलाई और मैं बेसुध हो गई।’ इसके बाद वह नहीं जानती कि फिर क्या हुआ!”

“यह सुवासिनी कौन है?” जानबूझकर नंद ने कुरेदा।

“यही तो सारे षड्यंत्र के मूल में है।” इतना कहते-कहते कंस अपने ओठ चबाने लगा—“मेरी मृत्यु की साक्षात् भगिनी—और आश्चर्य है, मृत्यु के समान वह भी अदृश्य हो गई है।”

इसके बाद कुछ समय तक मौन अंतराल रहा। दोनों एक-दूसरे की ओर देखते रह गए।

“मैंने तुम्हें दो बातों के लिए बुलाया है।” अब कंस ने सीधी बातें आरंभ कीं—“एक तो तुम्हारे यहाँ से पिछले वर्ष का कर नहीं आया है...”

“आप तो जानते ही हैं, महाराज, कि गोकुल दुर्भिक्ष का सामना कर रहा है। सूर्य के ताप से धरती की परतें फट गई हैं; पर आसमान जरा भी नहीं पसीजा। एक बूँद वर्षा नहीं हुई। खेती होना तो दूर रहा, गायों का थन भी सूख गया। आज गोकुल अन्न के साथ-ही-साथ गोरस के लिए भी तरस रहा है।”

“पर मैंने तो सुना है, तुम मुक्तहस्त से अन्न बाँट रहे हो!”

“क्या करूँ, महाराज, भूखी प्रजा को तो जिलाना पड़ेगा ही। प्रजा नहीं रहेगी तब हम कहाँ रहेंगे!”

“तुम रहोगे, प्रजा रहे चाहे न रहे!” कंस का अहं अपने स्वाभाविक रूप में आया—“क्योंकि तुम भूपति हो, प्रजापति नहीं।” इस संदर्भ में उसने पृथ्वी से बने राजा के कई पर्यायों से नंद को संबोधित किया। बातों के क्रम में उसने यहाँ तक कहा, “दुर्भिक्ष हो या अकाल, यह प्रजा से संबंधित है, तुमसे नहीं। अन्न होने या न होने का तुमने क्या ठेका ले रखा है? अरे नंद! प्रजा और द्राक्षा को जितना निचोड़ोगे, वे उतना ही रस देंगे।”

नंद मौन रह गए। उत्तर देने की क्षमता न हो पाना मूर्खता है। क्षमता होने पर भी उत्तर न दे पाना दासता है। नंद ऐसी ही दासता का अनुभव कर रहे थे, अन्यथा अवश्य कहते कि प्रजा नहीं होगी तो क्या राजा मुरदा धरती पर शासन करेगा।

“चुप क्यों हो?” बात कंस ने ही आरंभ की।

“सोचता हूँ, निचोड़नेवाली बात द्राक्षा के संदर्भ में ठीक हो सकती है, पर प्रजा...” वह कहते-कहते अचानक रुक गए।

“यही न कि प्रजा दबाई नहीं जा सकती!” कंस बोला और हँसने लगा—“जो राजा प्रजा को दबाकर नहीं रख सकता, उसे शासन करने का अधिकार नहीं है।”

“प्रजा दबाई जा सकती है, ऐसा कभी मैंने सोचा भी नहीं है।” बड़े संकोच से नंद बोलते गए—“प्रजा को दबाना शासन करना नहीं वरन् राज्य को श्मशान बनाना है—और मैं श्मशान का ठेकेदार होना नहीं चाहता।” नंद को लगा कि वे मर्यादा के काफी बाहर जा चुके हैं। वे बड़ी विनम्रता से पुनः बोले, “यदि मैंने कुछ अनुचित कहा हो तो आप क्षमा करें।”

“उचित-अनुचित क्या! ठीक ही कहा तुमने कि मैं श्मशान का ठेकेदार हूँ।” स्पष्ट लगा कि कंस अपना क्रोध पी गया—“जब उसी श्मशान पर एक-न-एक दिन भस्मीभूत होना है, तब क्यों नहीं ठेकेदारी आरंभ कर दूँ!” अब उसकी मानसिकता अचानक दूसरी ओर बहक गई—“मुझे कुछ उड़ती-उड़ती सूचना मिली है कि देवकी का आठवाँ पुत्र तुम्हारे ही क्षेत्र में कहीं पल रहा है।”

“मेरे क्षेत्र में!” नंद ने आश्चर्य व्यक्त किया—“मुझे तो इसका पता ही नहीं।”

“हो सकता है, तुम्हें पता न हो।”

“ऐसा तो नहीं कि किसीने भ्रम में डालने के लिए यह अफवाह उड़ाई हो?”

“भ्रम! भ्रम!! भ्रम!!!” कंस झुँझलाया—“चारों ओर भ्रम, फिर यथार्थ कहाँ है?”

नंद चुप ही रह गए। क्षण में कंस ने स्वयं अपने पर नियंत्रण किया और उसने अपनी व्यग्रता को समेटा। बड़ी सहजता से बोला, “नंद, मैंने तुम्हें अपनी सहायता के लिए बुलवाया था।”

“आज्ञा कीजिए, महाराज, मैं तत्पर हूँ।”

“पहले तो तुम पता लगाओ कि देवकी का आठवाँ पुत्र कहाँ पल रहा है!”

“चेष्टा करूँगा; पर मेरे गोकुल में अभी तक ऐसा कोई समाचार नहीं है।” नंद ने अपनी ध्वनि पर और अधिक गंभीरता चढ़ाई—“हो सकता है, किसी गोप के घर पल रहा हो।”

“वह छिपा नहीं रहेगा। यदि वह देवकी का आठवाँ पुत्र होगा तो अवश्य दैवी चमत्कारों से युक्त होगा। उसे खोजना नहीं पड़ेगा। वह स्वयं दिखाई पड़ने लगेगा।” कंस ने कहा।

‘तब तो आप भी चुपचाप बैठे रहिए। वह स्वयं आपको भी दिखाई पड़ने लगेगा।’ नंद यह कहना चाहते थे, पर वह चुप ही रह गए। बातों का सिलसिला प्रत्यक्षतः तो टूट गया।

थोड़ी देर बाद पता नहीं क्या सोचते हुए कंस ने पूछा, “सुना है, अब तुम नहीं, तुम्हारे यहाँ एक बच्चा सदाव्रत बाँटता है?”

“जी हाँ, है।”

“वह किसका बच्चा है?”

“अपना ही समझिए।”

“अपना ही समझूँ!” कंस चिंता में डूब गया—“यही तो सबसे बड़ी विडंबना है, नंद, कि कंस अब भी निस्संतान है। उसके न कोई ‘अस्ति’ को पुत्र हुआ और न ‘प्राप्ति’ को।” जैसे अंतर्मन से टकराकर यह ध्वनि निकली हो। कंस पुनः गंभीर हो गया।

कदाचित् पुत्र का अभाव ही दूसरे के पुत्रों के प्रति कंस को इतना निर्मम बना बैठा था। आखिर ममता का अभाव ही तो निर्ममता है। जब ममत्व का अधिकार ही नहीं मिला तब निर्ममता को ही उसने वक्ष से लगाया और मनुष्य से राक्षस हो गया।

फिर कंस का चिंतन चलता रहा। उसने नितांत सामान्य भाव से पूछा, “तुम्हें पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई और तुमने मुझे बुलाया नहीं। पगले! बड़े भाग्य से पुत्र पैदा होता है!” लगा, अभावग्रस्त उसके भीतर की कोई बेचैनी बोली थी।

नंद चुप ही रहे।

“बोलो, ऐसा दुराव क्यों?”

“दुराव नहीं, महाराज! यदि आप मेरे यहाँ पधारते तो यह मेरा सौभाग्य ही होता; किंतु आप उस दिन खाली नहीं थे।”

“क्या था मेरे यहाँ, जो मैं खाली नहीं था?”

“देवकी के आठवें शिशु का मरणोत्सव!” नंद के मुँह से यह कैसे निकल गया? वह स्वयं अपने पर चकित थे। पर अब छूटे हुए बाण की तरह उसपर सोचना व्यर्थ था।

“तो तुम्हारा पुत्र उसी दिन पैदा हुआ जिस दिन देवकी को प्रसव हुआ था?” कंस ने पूछा और एकटक नंद को देखता रह गया। उसे लगा कि वह गहरे अंधकार में हो। उसी तमाच्छन्न माहौल में कोई चीज उससे टकरा रही है और फिर एकदम अदृश्य हो जा रही है।

कंस विस्मय में डूबता-उतराता रहा—“इसे मैं संयोग कहूँ या कुछ और?”

‘कुछ और?’ नंद को लगा कि उसने जानबूझकर स्वयं को अग्नि में झोंक दिया है। अब उसे बुझाना असंभव है। हाँ, उसपर राख फेंकी जा सकती है। उसे दबाया जा सकता है।

“हाँ, यह एक संयोग ही है। अन्यथा देवकी के प्रसव के दूसरे दिन ही उसे पैदा होना था।...आप मेरे यहाँ उपस्थित

न हो सके, यह मेरा दुर्भाग्य था।”

“और तुम भी मेरे यहाँ उपस्थित न हो सके, यह मेरा दुर्भाग्य था।” कंस बोला और एक रहस्यमय हँसी हँसने लगा—“मैं तुम्हारे उत्सव में सम्मिलित नहीं हुआ और तुम मेरे उत्सव में सम्मिलित नहीं हुए; पर दोनों उत्सवों में महान् अंतर था। एक मरणोत्सव था और दूसरा जन्मोत्सव। एक सूर्यास्त और दूसरा सूर्योदय।”

□

उस रात नंदजी के ठहरने की व्यवस्था राजभवन में ही की गई—सारी सुख-सुविधाओं के साथ। किंतु उनकी आज की मनःस्थिति बड़ी उलझी-उलझी थी। उनके मुख से कैसे यह बात निकल गई, जो नहीं निकलनी चाहिए थी। उन्हें राजकीय षट्स व्यंजन में भी कोई रस नहीं मिला। जब वह सोने बिस्तर पर गए तब नींद दूर ही खड़ी मुद्राएँ बदलती रही। उनके सहयोगी सामान्य अतिथिगृह में ठहराए गए थे। उस कक्ष में नंद अकेले थे।

रात्रि का प्रथम प्रहर करवटें बदलते बीत गया। इस बीच नंद कई बार लघुशंका के लिए उठे। बाहर खड़े मुख्य प्रहरी को आभास हुआ कि उनके मुख्य अतिथि सो नहीं पा रहे हैं। उसने तत्क्षण प्रधान व्यवस्थापक को सूचना दी।

“आप कुछ अस्वस्थ हैं क्या?” राजभवन के प्रधान व्यवस्थापक ने निवेदन किया।

“नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है।”

“आप सोने के पूर्व मैरेय लेते हैं क्या?”

“नहीं, ऐसी भी बात नहीं है।” नंद ने स्वयं पर सामान्यता का आस्तरण चढ़ाया—“नया स्थान है, और नए स्थान पर नींद मुझे कम आती है।... फिर महाराज की चिंता के संबंध में सोचता हूँ, जिसे हर क्षण अपने सम्मुख मृत्यु ही खड़ी दिखाई देती है।”

“अरे महाराज, आप आज देख रहे हैं। हम प्रतिदिन और प्रतिक्षण इसीमें परेशान हैं। किस समय क्या हो जाएगा, कुछ कहा नहीं जा सकता।”

“ऐसे अनिश्चय और आशंका में आप लोग कैसे सो पाते होंगे?”

“...जैसे युद्धस्थल पर सैनिक सोते हैं।” फिर वह हँसने लगा—“हम लोग आपस में बाँटकर सोते हैं। कुछ लोग जागते हैं और कुछ लोग सोते हैं।”

राजभवन के उस प्रधान निरीक्षक से ज्ञात हुआ कि महाराज की भी अभी-अभी आँखें लगी हैं—और वह भी चार-पाँच चषक कंठ से नीचे उतार लेने के बाद।

फिर वह चला गया। सिरहाने टहलते-टहलते नींद ने कब नंद की आँखों पर हाथ रख दिया, पता नहीं। वे सो गए।

कितनी घड़ी रात बीती, ज्ञात नहीं। अचानक नंद को एक परिचर ने जगाया—“सुनिए-सुनिए! आपको महाराज ने बुलाया है।”

इस अप्रत्याशित आमंत्रण पर उन्हें बहुत हैरानी नहीं हुई; क्योंकि ऐसी कई घटनाओं की वे चर्चा सुन चुके थे। फिर भी मनःस्थिति का असामान्य होना स्वाभाविक था। वे सोचने लगे कि अपने मुख से निकला सत्य और नदी का उद्गम कभी अविश्वस्त नहीं होता। हो सकता है, वह उसी संबंध में कुछ बातें करें।

उन्होंने उठकर खुले वातायन से झाँका। शिशिर की हिमानी हवा से रात काँप रही थी। पूरब के आकाश में शुक्र ठिठुरा पड़ा था। लगता है, ब्राह्म मुहूर्त हो गया है। पर मंदिरों में अर्चना की ध्वनि नहीं, शंखनाद नहीं, अग्निहोम नहीं।... उन्हें क्या पता था कि मथुरा में अब यह सब बंद हो चुका है। ब्राह्म मुहूर्त की ध्वनियों का गला घोट दिया गया है।

“चलिए, जल्दी चलिए। आपको बुला रहे हैं।” इस बार परिचर काफी व्यग्र दिखाई दिया।

नंद ने दूर से देखा। कंस के शयनकक्ष के सभी द्वार खुले थे। बाढ़ की नदी में झाड़-झंखाड़ की तरह कंस अपने आवेग में अनियंत्रित अवस्था में टहल रहा था। वह नंद को देखते ही चीख पड़ा—“आपने देखा, मैं मारा गया। मेरे कटे मुंड से दो बालक खेल रहे थे और मैं निस्सहाय, निरुपाय-सा उन्हें देख रहा था। कहाँ गया मेरा पुरुषार्थ? कहाँ गई मेरी असिधार? और कहाँ गया मेरा अहं, जो महत्वाकांक्षा के सिंहासन पर दहाड़ता था? लगता है, सब झूठा था, सब भ्रम था!” कंस की व्यग्रता चरम बिंदु पर थी।

नंद पहले कुछ समझ नहीं पाए। चुपचाप उसका मुँह देखते रहे। बाद में उन्होंने उसके मानसिक असंतुलन का थोड़ा अनुमान लगाया और उसे शांत किया। तब उन्हें पता चला कि कंस ने आज एक भयानक सपना देखा है।

सामान्य स्थिति में आते-आते उसने अपना दुःस्वप्न बताना आरंभ किया—“मैंने स्वप्न में देखा कि मैं कारागार में गंगी तलवार लिये देवकी के पास गया हूँ। उसके पास दो बड़े सुंदर बालक खेल रहे थे। मैं उन नीलकमल जैसे आकर्षक शिशुओं को देखता रह गया। वे मुझे देखकर मुसकराते हैं; मानो व्यंग्य कर रहे हों—यही तुम्हारी शक्ति है? यही तुम्हारा सामर्थ्य है? अपनी तलवार की ओर देखता हूँ। वह मोम की तरह गलती जा रही है। वे मुसकराते जा रहे हैं। तब तक एक चक्र उनके हाथ से छूटता है, जो मेरा गला काटता हुआ फिर उनके पास लौट जाता है। वे दोनों खिलखिला पड़ते हैं। मेरे कटे मुंड को कंदुक की तरह खेलते हैं। पैरों से मार रहे हैं। मैं देख रहा हूँ—असहाय-सा, निरुपाय-सा। और वे कहते हैं, चलो, अंत हो गया एक आततायी का!” इतना कहते-कहते कंस एकदम रुका। उसने नंद की गरदन हिलाते हुए पूछा, “क्या मैं सचमुच आततायी हूँ?”

कंस नंद को झकझोरता रहा। वह कुछ बोल नहीं पा रहे थे। तूफान में थपेड़े खाती नाव की भाँति वे बुद्धि की पतवार भी छोड़ बैठे थे।

यह स्थिति काफी देर तक रही। रात लड़खड़ाने लगी थी। सामने दीवारों पर जल रहे दीपों की लौ भी लड़खड़ा रही थी। आखिर हर लड़खड़ाहट कहीं-न-कहीं ठहरती है। कंस भी थमा।

“आप स्वप्न से इतने विचलित हो उठे?” नंद बोले, “अरे, स्वप्न तो अस्थिर मन की एक अभिव्यक्ति मात्र हैं।”

“नहीं! यह भयंकर भविष्य की भी सूचना देते हैं।”

“पर मेरा ऐसा विश्वास नहीं।”

“आपका विश्वास भले न हो, पर मेरा विश्वास तो है। और इतिहास इस बात का साक्षी भी है।” कंस ने कहा, “स्वप्न में ही त्रिजटा ने देखी थी जली हुई लंका, मिट्टी में मिली हुई लंका; और कुछ ही दिनों बाद लंका जला दी गई। स्वप्न में ही हरिश्चंद्र ने दान दिया था और वह यथार्थ ही हुआ।”

“किंतु हम लोग तो रोज ही स्वप्न देखते हैं।” नंद ने गंभीरता से समझाया—“पर कुछ नहीं होता। आपके अवचेतन में जो भय है, वह स्वप्न उसीकी प्रतिक्रिया है।”

“भय! भय!! नहीं, नहीं! मुझे किसीका भय नहीं। मृत्यु का भी भय नहीं। मैं निर्भय हूँ, परम निर्भय।” कंस उन्मत्तों-सा चीखा और फिर बड़बड़ाने लगा।

मालिनी चषक भरकर ले आई। कंस को थमाया। उसने मुख से लगाया। अचानक पता नहीं क्या उसके मन में आया कि उसने खींचकर चषक को दीवार पर दे मारा। दीपदान की मणियों के साथ ही मैरेय की बूँदें भी धरती पर बिखर गईं।

नंद इस विक्षिप्त मनःस्थिति का सामना न कर सके। वह धीरे से उठे और अपने कक्ष में चले आए। वातायन पर बैठा एक पक्षी प्रातःकाल की रागिनी धीरे-धीरे गा रहा था; मानो उसे भी वातावरण की गंभीरता का आभास लग

गया हो।

उधर कंस अपने पर्यंक पर ढुलका पड़ा था। उसे नींद कहाँ! उसके पास तो थी चिंता, दुश्चिंता। वह बार-बार शय्या पर आता और बार-बार टहलने लगता। धीरे-धीरे सवेरा हो चला था। वह शयनकक्ष से निकलकर उद्यान की ओर गया। आकाश में फैली लालिमा ने सूर्योदय के आसन्न की सूचना दी।

प्रासाद के एक छोर पर खड़े होकर उसने मुक्त प्रकृति की ओर देखा। सामने प्रशस्त जंगल था। पक्षियों के कोलाहल से वातावरण स्पंदित और प्रफुल्लित। अचानक कंस की दृष्टि एक बहेलिए पर पड़ी। उन्मुक्त विहार करनेवाले पक्षियों को वह बड़ी सरलता से फँसा लेता और बड़ी निर्ममता से अपने पिंजड़े में डाल लेता था। अचानक कंस के मन में एक बिजली चमकी—यह पक्षियों को इतनी कुशलता और निर्ममता से फँसा लेता है, तब तो बालकों को भी फँसा सकता है। मेरे काम का आदमी है। इसमें कुशलता भी है और निर्ममता भी। कुशलता से परिवेष्टित होकर निर्ममता मधुर भी हो जाती है और विषाक्त भी।...वह सोचता रहा, सोचता रहा। अचानक उसने ताली बजाई। कई परिचारक एक साथ दौड़े हुए आए।

“तुम उस बहेलिए को देखते हो?” उसने परिचारकों से पूछा।

“जी हाँ।” कई ने एक साथ ही उत्तर दिया।

“उसे तत्क्षण मेरे सामने उपस्थित करो।”

सबके सब दूर जंगल की ओर दौड़े।

इतने राजकर्मचारियों को एक साथ अपनी ओर आते हुए देखकर बहेलिया घबराया। अपना पिंजड़ा छोड़कर भागने को हुआ; पर भागकर जा कहाँ सकता था! पकड़ा गया। विपत्ति के बादलों के बीच से उसे अचानक एक कड़क सुनाई पड़ी—“तुम्हें अभी महाराज के समक्ष उपस्थित होना है।”

“किंतु मेरा अपराध क्या है?” उसने काँपते हुए पूछा।

“इसे तो महाराज ही बताएँगे।”

“मैंने पक्षियों को पकड़कर कोई भूल तो नहीं की!” वह पुनः गिड़गिड़ाया।

“इसका भी निर्णय महाराज ही करेंगे।”

“यह मेरे पूर्वजों का दिया हुआ कर्म है। मेरे बाप-दादे करते आए हैं। मेरा व्यवसाय है।” उसने हाथ जोड़ते हुए विनीत निवेदन किया—“यही मेरी उदरपूर्ति का साधन है। और महाराज के इस कृपा-राज्य में हर एक को अपना व्यवसाय करने का अधिकार है।”

“इसे भी तुम महाराज से कहना।”

“यदि आप कहें तो इन पक्षियों को छोड़ दूँ! अब ऐसा नहीं करूँगा।”

“यह कहने का भी हमें अधिकार नहीं है।”

लाचार वह राजकर्मचारियों के साथ चल पड़ा। पर पिंजड़ा और पक्षी फँसाने का उपकरण उसने जंगल में ही छोड़ दिया। थोड़ा आगे बढ़ा होगा कि उनमें से एक कर्मचारी ने कहा, “ये सारी वस्तुएँ भी लेते चलो।”

वह ठिठक-सा गया। मृत्यु के समक्ष जाते हुए मनुष्य की मानसिकता कुछ बोल पाने की नहीं होती, अन्यथा वह पूछ सकता था—‘मुझे बुलाया गया है या फँसाए गए इन पक्षियों को भी?’

वह बड़े दुःखी मन से पिंजड़े की ओर झुका। तब तक एक कर्मचारी ने रहस्य खोल दिया—“वस्तुतः हम यह नहीं जानते कि तुम्हें क्यों और किसलिए बुलाया गया है।”

स्पष्ट लगा कि इतना सुनते ही उसका तनाव कुछ ढीला पड़ा। मैं ही नहीं, यह सब अनिश्चय की स्थिति में हैं।

वह अपना सर-सामान उठाकर चल पड़ा।

प्रासाद में आते ही उसका सामान मुख्य द्वार पर ही रखवा लिया गया। पिंजड़े में चिड़ियाँ चहचहाती रहीं और बहेलिए को लेकर लोग महाराज के कक्ष की ओर चल पड़े।

अज्ञात अपराध की भयंकरता ज्ञात अपराध से अधिक होती है। पहुँचते ही वह कंस के चरणों पर गिर पड़ा।

“खड़े हो! तुम्हारा अभिवादन स्वीकार हुआ।”

इतना सुनना था कि बहेलिए के शरीर का कंपन थमने लगा। कल्पना का वह दर्पण मन से छूटकर चूर हो गया, जिसमें उसकी ही आकृति एक भयानक अपराधी जैसी दिखाई दे रही थी।

“तुम्हारा नाम क्या है?” कंस ने पूछा।

“तृणावर्त।”

“तुम कितने दिनों से पक्षियों के फँसाने का काम कर रहे हो?”

“जन्म से।”

“अरे मूर्ख! क्या लासा और जाल लेकर ही माँ के गर्भ से तू पैदा हुआ था?” कंस ने एक मधुर डाँट पिलाई।

वह कुछ बोल न सका। कंस ने ही उसे सँभाला—“तुम्हारे कहने का मतलब है कि तुम्हारे पूर्वज भी यही काम करते थे।”

“जी, महाराज।”

“तुम जब चिड़ियों को फँसाते हो तो तुम्हें कैसा लगता है?”

“अच्छा लगता है।”

“यदि वह फँसते समय मर जाएँ तो कैसा लगेगा?”

“तब भी अच्छा लगेगा, क्योंकि मैं उसे भूनकर खाऊँगा। मेरा परिवार ही उन्हीं पक्षियों के जीवन पर निर्भर है।”

“इतने सुकोमल पक्षियों को मारते समय तुम्हें दया नहीं आती?”

“दया कैसी? मृत्यु तो जीवधर्म है—और यहाँ तो पेट का सवाल है, महाराज!”

कंस ने प्रसन्नता में उसके पेट पर एक हाथ मारा।

“सचमुच बड़े काम के आदमी हो, पेट के लिए कुछ भी कर सकते हो।” इतना कहकर उसने अपने परिचरों को हटा दिया और उसे लेकर अपने कक्ष में गया—“अच्छा तृणावर्त, यदि तुम्हारे पेट की समस्या हल कर दी जाए तो क्या तुम हमारा काम कर सकोगे?”

“क्यों नहीं, महाराज, अवश्य कर सकूँगा।” उसे क्या मालूम था कि पक्षियों को फँसानेवाला आज एक नादान कपोत-सा स्वयं फँस रहा है। “पर मुझे करना क्या होगा?” तृणावर्त ने बड़े संकोच के साथ पूछा।

“करना वही होगा, जो तुम करते हो।” कंस की आवाज धीरे-धीरे गंभीर होती गई—“अंतर यही है कि तुम अब तक चिड़ियों को फँसाते हो और अब बालकों को फँसाना होगा।”

अब भी तृणावर्त कुछ विशेष समझ नहीं पाया। कंस ने उसे विस्तार से समझाया और बताया—“दो-ढाई साल से लेकर पाँच साल तक के बच्चों को तुम्हें पकड़कर लाना होगा।”

“फिर क्या चिड़ियों की तरह उन्हें बेचना भी पड़ेगा?”

तृणावर्त की सहजता पर कंस हँस पड़ा—“पगले, तुझे व्यवसाय नहीं करना है! मेरी चाकरी करनी है। मैं जो कुछ कहूँगा, उसे करना पड़ेगा।”

“समझ गया, समझ गया।” उसी क्षण से तृणावर्त राजकीय चाकर हो गया। उसने वस्त्र प्रासाद में ही बदलकर

राजकीय भूषा पहन ली। नहीं, वरन् उसे पहना दी गई। उसके राजकीय कर्मचारी होने के शुभ संवाद के साथ ही उसके वस्त्रादि भी घर भेज दिए गए।

मध्याह्न के बाद अपने विश्वस्त कर्मचारी कुंभक के साथ मिलने की आज्ञा देकर कंस ने उसे कक्ष के बाहर किया।

क्षण के बाद क्षण ढुलकते चले गए।

मध्याह्न के बाद जब वह आया, कंस सो रहा था। पिछली रात का जागा भी था और आज जैसी निश्चिंतता भी उसे कई दिनों बाद मिली थी। उन दोनों ने कक्ष में झाँककर देखा, कंस के चिंतामुक्त खर्चाटों का आरोह-अवरोह उसकी प्रगाढ़ निद्रा का संगीत सुना रहा था। पादपक्ष की ओर पलंग से कुछ दूरी पर मालिनी चुपचाप एक मंचक पर बैठी थी। उसने इन दोनों को मौन रहने का संकेत किया। वे लौट पड़े।

एक घड़ी बाद ही दोनों के आने पर कंस जाग चुका था। वह तनावमुक्त दिखा। उसने दोनों के प्रति अपेक्षा से अधिक आत्मीयता दिखाई और कुंभक से बोला, “यह तृणावर्त है न काम का आदमी?” फिर उसका परिचय देते हुए उसने कहा, “गोकुल के सामंत नंद आज यहाँ से जाने वाले हैं। तुम्हें उनके साथ जाना होगा—उनका चाकर बनकर।...और जानते हो, क्या करना होगा?”

“उनकी सेवा!” तृणावर्त बड़ी सहजता से बोला।

कंस को उसकी सरलता पर हैसी आ गई—“तुम्हें उनकी सेवा नहीं, सेवा का नाटक करना है।” तृणावर्त कहना चाहता था कि मैं अभिनेता नहीं हूँ; किंतु वह सहमा-सहमा सा चुप ही रह गया और कंस को सुनता रहा।

“नंद के यहाँ रहना होगा चाकर का नाटक करते हुए। उसके यहाँ एक बालक है। रात-बिरात अवसर देखकर उसे उठा लाना होगा या वहीं समाप्त कर देना होगा।”

तृणावर्त को लगा कि वह कुछ अकल्पित सुन रहा है। उसकी मानसिकता उस स्वप्निल यथार्थ को पकड़ने में असमर्थता का अनुभव करने लगी।

“क्या सोचने लगे?” कंस ने पूछा।

“कुछ नहीं।” उसने घबराहट में ही उत्तर दिया।

“यह कर सकोगे?”

“क्यों नहीं करूँगा! जरूर करूँगा।” नहीं करने का तात्पर्य होता, कंस का कोपभाजन बनना—और चाकरी से हाथ धोने के पहले प्राणों से हाथ धोना।

अब कंस ने कुंभक को संबोधित करते हुए कहा, “इसे ले जाओ और इसे मेरी मंशा के अनुसार प्रशिक्षित करो।”

तृणावर्त को लेकर कुंभक चल पड़ा।

आकाश ताम्रवर्णी होने लगा था। संध्या पसरने लगी थी।...और शायद घड़ी भर के भीतर नंद प्रस्थान भी करेंगे। समय कम है। तृणावर्त को सीधे कुंभक अपने कमरे में ले आया और समझाया—“तुम्हें छाया की तरह नंद के साथ लगे रहना पड़ेगा और उसे विश्वास दिला देना होगा कि तुम उसके विश्वस्त और आज्ञाकारी चाकर हो। तभी तुम उस बालक के समीप पहुँच सकोगे।”

“क्यों, उस बालक के समीप पहुँचने में ऐसी कौन सी बाधा है?” इस बार तृणावर्त की ध्वनि में अनुभव से कहीं अधिक उसका अज्ञान मुखरित हुआ था।

“मूर्खाधिराज!” कुंभक हँसा—“तुम उस बालक के पास आसानी से जा नहीं सकोगे। नंद और यशोदा की सदैव उसपर दृष्टि तो रहती ही है, साथ ही उसकी सुरक्षा के लिए कई परिचर भी रहते हैं।...वह बालक उनकी आँखों से एक क्षण के लिए भी ओझल नहीं हो सकता।”

“मैं परिचरों से समझ लूँगा।” तृणावर्त की सरलता एक बार फिर उभरी।

“तुम्हें युद्ध के लिए थोड़े ही भेजा जा रहा है, मूर्ख! गोकुल में युद्ध करके तुम कभी बीस पड़ सकते हो?...और युद्ध के लिए ही भेजना होता तो हमारे पास अच्छे योद्धा नहीं हैं क्या! हम एक बहेलिए को क्यों भेजते?”

वह चुपचाप मौन हो सोचने लगा। एक बहेलिए का सोचना इस छल-छद्म से बहुत दूर था—“तब मुझे क्यों भेजा जा रहा है?”

“चिड़ियों की तरह उस बालक को फुसलाकर फँसाने के लिए।”

तृणावर्त फिर कुछ सोचने लगा। फिर बच्चे की तरह अपने बताए हुए निर्देशों को दुहराते हुए बोला, “तो फिर पहले मैं नंद का विश्वासपात्र बनूँगा। और फिर उस बच्चे के निकट पहुँचूँगा। मान लीजिए, गोकुल पहुँचने के बाद यदि नंद ने कहा कि अब तुम जाओ, तुम्हारी आवश्यकता नहीं है, तब मैं क्या करूँगा?”

“यही तो तुम्हें अपनी बुद्धि से सोचना है।”

तृणावर्त सिर खुजलाने लगा—“मेरी बुद्धि तो कहेगी, चुपचाप लौट चलो।”

“बस इसी बुद्धि पर राजकीय चाकरी करोगे!” कुंभक हँसा—“यदि बिना कुछ किए लौट आए तो सूली पर चढ़ा दिए जाओगे।”

‘ऐसी राजकीय चाकरी से बाज आया।’ एक बार उसके हृदय में आवाज उठी—‘बिना शिकार के जब मैं घर लौटता हूँ तब तो मैं सूली पर नहीं लटकाया जाता।’ मन की बातें मन में ही रहीं, वह कुछ बोला नहीं। किंतु उसकी आकृति पर ऐसा सन्नाटा चिपक गया जैसे वह सोचने लगा हो कि उसने चाकरी स्वीकार कर बड़ी भूल की।

कुंभक को तृणावर्त को समझते देर न लगी। उसने एक बनावटी मुसकान अधरों पर उगाई और बोला, “मैं समझ रहा हूँ कि तुम असमंजस में पड़ गए; क्योंकि तुम मनुष्य हो और यह काम राक्षसों का है।...तुम मांस तो खाते ही हो?”

तृणावर्त ने स्वीकृति में सिर हिलाया।

“मदिरा पीते हो या नहीं?”

“पीता हूँ।”

“तब क्या! तब तुम्हें राक्षस बनने में कोई परेशानी नहीं होगी।” कुंभक हँसा—“इतनी मदिरा पीना कि तुम्हारा विवेक उसमें डूब जाए। बस तुम राक्षस हो जाओगे और सबकुछ कर सकोगे, जिसे कंस ने तुम्हें सौंपा है।” कुंभक ने उसकी पीठ ठोंकी—“राक्षस तृणावर्त—झंझावात और वात्याचक्रों जैसा भयानक नाम!”

तृणावर्त बड़े सहजभाव से हँसने लगा।

□

अपनी उड़ती धूल से संध्या को और अधिक गाढ़ा करता हुआ नंद का रथ चला जा रहा था। पीछे-पीछे नंद के सहयोगियों के भी रथ थे और उन्हींमें से एक पर तृणावर्त भी सवार था। उन सभी को आश्चर्य था कि हम तो थे ही, फिर भी नंदजी की सेवा के लिए कंस ने एक चाकर क्यों भेज दिया।

अँधेरा घिरने लगा था। झुंड-की-झुंड गाये लेकर गोप जंगल से लौट रहे थे। गोपदों की धूल में दिवस श्लथ हो ढुलक गया था। उनकी वंशी की धुन में संध्या डूबने लगी थी। पर नंद का मस्तिष्क इन सबसे दूर तृणावर्त से उलझ

रहा था—‘आखिर उसको भेजने की आवश्यकता क्या थी? मेरे पास तो इतने आदमी थे।...हो सकता है, उन्होंने राजकीय सदाचार का निर्वाह किया हो; क्योंकि स्वागत-सत्कार में भी कोई कमी नहीं की। फिर तृणावर्त तो देखने में भी बड़ा सरल दिखाई देता है।’ उनके विचार फिर एक पलटा और खाते हैं—‘देखने से क्या होता है। कनक घट का ढक्कन खोलने पर असलियत दिखाई पड़ेगी।...कहीं ऐसा न हो कि वह विष से भरा हो।’ इतना सोचते ही नंद उस विष के दाह का अनुभव करने लगे—‘क्यों नहीं, गोकुल में एक रात रहने के बाद ही कंस के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने के बाद उसे छुट्टी दे दी जाए।’

होने वाला भी ऐसा ही था। नंद ने सवेरे उठते ही तृणावर्त को बुलाया; पर वह कहीं मिला नहीं। जहाँ सोया था वहाँ केवल खाट बिछी थी, उसका आस्तरण भी गायब था। आखिर कहाँ चला गया? कोई रहस्य अवश्य है। एक घड़ी दिन चढ़े तक खोज होती रही; फिर वह दूर से ही आता दिखाई दिया। उसके आस्तरण की झोली में बहुत सारे पक्षी कुलबुला रहे थे। आते ही उसे नंद के समक्ष उपस्थित किया गया। वह पक्षियों से भरी झोली लेकर मुसकरा रहा था।

“इतने सवेरे-सवेरे यही करने गए थे?” नंद ने कहा।

वह अब भी झोली लिये बड़े सहजभाव से मुसकरा रहा था। पक्षी उसकी झोली में कुलबुला रहे थे।

“आखिर तुमने इन्हें क्यों पकड़ा?”

“कन्हैया को उपहार देने के लिए।” वह बोला। लोग बताते हैं, तब तक मैं पहुँच चुका था और झोली में हाथ मैंने डाल ही दिया। दो-तीन पक्षी उसमें से निकलकर उड़ गए। मैं आकाश की ओर देखता और उनके उड़ जाने पर भी मुग्ध होता रहा। मेरा प्रयत्न था कि वह पूरी झोली ही मुझे दे दे।

पर इस समय वह पिताजी के सामने झोली पकड़े खड़ा था। मैं अपने प्रयत्न में सफल नहीं हो पाया।

“...तो तुम क्या चिड़िया फँसाना जानते हो?”

“यही तो मेरा पुश्तैनी पेशा है।”

“तब तुम राजकीय चाकरी में कैसे आए?”

अब उसे धक्का-सा लगा। कुंभक ने बताया था कि अपने संबंध में अधिक मत खुलना; पर अब तो कुछ-न-कुछ उत्तर देना ही होगा। वह सोचने लगा।

“क्या सोच रहे हो? लगता है, तुम झूठ बोलना चाहते हो; क्योंकि सत्य बोलने में व्यक्ति को सोचना नहीं पड़ता।”

अब वह संकोच में पड़ा।

“नहीं-नहीं, ऐसी बात नहीं है।” उसने कहा, “सोचता हूँ कि सारी बातें आपको कैसे बताऊँ!”

“जैसे भी चाहो वैसे बताओ और यदि न भी चाहो तो कोई बात नहीं।” मेरे पिताजी ने सोचा कि बहुत अधिक दबाव देने से यह और अधिक सजग हो जाएगा।

उसने मात्र इतना बताया कि वह बहेलिया है। चिड़ियों को फँसाता है। पैतृक परंपरा से यह कौशल उसे प्राप्त है। वह पक्षियों की प्रकृति और उसके व्यवहार से भी परिचित है, इसलिए वह बिना किसी उपकरण के भी उन्हें पकड़ लेता है।

“किंतु तुम राजकीय चाकरी में कैसे आए?”

“यही तो बता रहा था। ऐसे ही एक सुखद प्रभात में मैं पक्षियों को पकड़ रहा था। महाराज कंस उद्यान भ्रमण में थे। उन्होंने मुझे देख लिया।”

“इसका तात्पर्य है कि तुम राजकीय उद्यान में भी पक्षी पकड़ते थे। चाकरी के पूर्व ही राजकीय उद्यान में तुम्हारा

प्रवेश हो गया था।”

तृणावर्त को लगा कि वह गड़बड़ा गया। जहाँ उसे समझ-बूझकर पैर रखने थे वहीं वह फिसल गया। उसकी धराशायी बुद्धि फिर धूल झाड़कर खड़ी हो गई—“नहीं, मैं राजकीय उद्यान के बाहर पक्षी पकड़ रहा था और उन्होंने प्रासाद के ऊपरी भाग से देखा था।”

“तुम अभी कह रहे थे कि वे उद्यान भ्रमण में थे!”

“उद्यान भ्रमण में थे नहीं, पर निकलने वाले थे।” नंदजी ने समझ लिया कि तृणावर्त बहुत सी बातें छिपा रहा है। पर उन्होंने अधिक खोद-विनोद नहीं किया। आखिर आज ही तो उसे मुक्त कर देना है। व्यर्थ की बातें बढ़ाने से फायदा क्या!

उस समय मुसकराते हुए नंदजी ने उसे छोड़ दिया और लोगों से उसपर दृष्टि रखने का गोपनीय आदेश दिया।...किंतु लोगों ने देखा कि वह मुझसे ही अपने पकड़े गए पक्षियों के माध्यम से खेल रहा है।

मेरा बाल व्यक्तित्व कभी उन पक्षियों से डरता था, कभी मैं उसकी झोली में हाथ डालता था। किसी पक्षी को पकड़कर निकालता भी था। पक्षी पंख फड़फड़ाता और मैं उसे हड़बड़ाकर छोड़ देता। मेरी माँ यशोदा यह सब देखकर बड़ी प्रसन्न हो रही थी। उसने शीघ्र ही एक पिंजड़ा मँगावाया और छाँटकर कुछ पक्षी उसमें रख दिए गए।

“गोवर्धन पर्वत पर तो बड़े रंग-बिरंगे पक्षी दिखाई देते हैं।” यशोदा बोली।

“हाँ, हैं तो!”

“तुम उन्हें नहीं पकड़ सकते?”

“क्यों नहीं पकड़ सकता हूँ! आखिर मेरा काम क्या है! उन्हें पकड़ने के लिए तो लासे और जाल की आवश्यकता पड़ेगी। इन सबको तो मैंने हाथ से ही पकड़ लिया है।...फिर मेरे पास पिंजड़ा भी तो नहीं था।”

यशोदा ने पक्षी पकड़ने के लिए आवश्यक उपकरण मँगाने का आदेश दिया; क्योंकि पक्षियों से खेलना मुझे बहुत अच्छा लगता था।

उत्तर अपराह्न में नंद ने तृणावर्त को पुनः बुलवाया। वह बड़े विनीतभाव से उपस्थित हुआ।

“मैं तुम्हारी सेवा से बड़ा प्रसन्न हूँ, तृणावर्त! मैं तुम्हें उपहार देकर बिदा करना चाहता हूँ।”

“आप हमें उपहार दें या न दें, पर हमें बिदा न करें, महाराज!” वह गिड़गिड़ाते हुए नंद के चरणों पर गिर पड़ा—“मुझे यहाँ से जाने को न कहें।”

“क्यों?”

“मैं अब मथुरा जाना नहीं चाहता, वरन् और कहीं भेज दें।”

“आखिर जाना क्यों नहीं चाहते?”

“वहाँ की स्थिति विचित्र है। हर क्षण प्राण सूली पर टँगा रहता है।” वह पुनः नंद के चरण पकड़कर बैठ गया—“मैं इन्हें छोड़कर अब जाऊँगा ही नहीं। आप हमसे चाहे जो कार्य लें।...अरे, आपके इतने चाकर हैं, उनमें एक मैं ही भार रहुँगा?”

पिताजी ने ‘हाँ-नहीं’ कुछ नहीं कहा; पर बात उस समय टल गई। तृणावर्त बिदा नहीं हुआ। वह मेरी सेवा में रहने लगा। किंतु मैं उसके साथ कभी अकेला छोड़ा नहीं जाता। उसका काम था वृंदावन से तरह-तरह के रंग-बिरंगे और आकर्षक पक्षियों को पकड़कर लाना।

मेरे लिए उसने एक छोटा सा चिड़ियाखाना-सा बना रखा था। मुझे वह बहुत अच्छा लगता। मैं उसमें से बहुत से पक्षियों को पकड़ने की चेष्टा करता। उनमें से कुछ मुझे पंजे मारते और कुछ मुझे काट भी लेते। अँगुलियों से रक्त

की धार बह निकलती। माँ नाराज होती।

“ये पक्षी मुझे काटते क्यों हैं, माँ?” मैंने माँ से पूछा।

“तुम इन्हें बंद करके क्यों रखते हो? इन्हें छोड़ दो। मुक्त आकाश में विचरने दो।”

“तब तुम मुझे बंद करके क्यों रखती हो? मुझे भी मुक्त धरती पर विचरने दो। नहीं तो...” मैं कहते-कहते रुक गया।

“नहीं तो क्या? कह, क्या कह रहा था?” यशोदा माँ ने बड़े प्यार से मुझे चपत लगाते हुए गोद में उठा लिया—“हाँ, बोल, क्या कह रहा था?”

“नहीं तो मैं भी तुम्हें काटूँगा।” मेरी सहजता पर वहाँ खड़े सभी लोग हँस पड़े। उनमें तृणावर्त भी था।

न वे पक्षी छोड़े गए और न हमारे यहाँ से तृणावर्त ही मुक्त किया गया।

धीरे-धीरे समय का रथ आगे बढ़ता गया। एक दिन अचानक एक कुहराम मचा—कल संध्या वृंदावन के तमालकुंज में बैठकर तृणावर्त कुछ लोगों के साथ विचार-विमर्श कर रहा था। क्या बातें हो रही थीं, किसीको पता नहीं। पता बस इतना था कि वे लोग एक रथ में बैठकर सीधे मथुरा से यहाँ आए थे।

मेरे प्रासाद में सनसनी-सी फैल गई। हर आशंकित दृष्टि तृणावर्त का पीछा करने लगी; पर तृणावर्त को नहीं मालूम था कि मथुरा से आए लोगों का रहस्य उद्घाटित हो चुका है। अचानक वह बुलाया गया।

“लगता है, तुम कोई विशेष पक्षी फँसाने की योजना बना रहे हो!” नंद ने कहा। तृणावर्त ने कुछ समझा नहीं। केवल स्वीकृति में सिर हिला दिया।

“जाल तो मथुरा से आ गया होगा?”

“नहीं तो!”

“तब कैसे फँसाओगे?”

“जाल बनाऊँगा।” वह अब भी नहीं समझ पाया कि बातें किस संदर्भ में हो रही हैं।

“तुम मेरे यहाँ ही रहकर जाल रचोगे! बड़े होशियार मालूम होते हो।” इस बार के नंद के कहने के ढंग से लगा कि संदर्भ कहीं और है—और बात भी सीधे अपने लक्ष्य पर आई—“सुना है, कल तुम वृंदावन के तमाल वृक्ष के नीचे मथुरा से आए सैनिकों से बातें कर रहे थे?”

निश्चित रूप से तृणावर्त के पैर के नीचे की धरती खिसक गई। पर उसने बड़े साहस से काम लिया—“हाँ, बातें हुई थीं।”

“क्या बातें हुई थीं?”

“महाराज ने बुलाया है।”

“तो चले जाओ।”

“पर अब मैं मथुरा जाना नहीं चाहता।” उसने वही पुराना उत्तर दुहराया।

“लगता है, तुम कुछ करके ही जाना चाहते हो।” नंद की ध्वनि आवश्यकता से अधिक गंभीर थी।

एक क्षण के लिए वह चुप हुआ, फिर उसने स्वयं को सँभाला—“मुझे यहाँ करना ही क्या है—केवल आपकी सेवा।”

“किंतु मेरी सेवा में तो काफी लोग हैं। अब किसी और की मुझे सेवा नहीं चाहिए।”

“निश्चित रूप से आपको सेवक नहीं चाहिए; पर मुझे तो ऐसा व्यक्ति चाहिए, जिसकी सेवा में मैं लगा रहूँ और मथुरा न जा सकूँ।”

“आखिर तुम क्यों मथुरा नहीं जाना चाहते?”

उत्तर में वह कुछ बोला नहीं, केवल उसकी नाटकीयता आँखों से रिसने लगी। नंद को लगा कि वह बड़ा दुःखी है।

“जब तुम्हें इतना दुःख है तब तुम महाराज कंस की चाकरी छोड़ क्यों नहीं देते?”

“वह मुझे छोड़ने नहीं देंगे।”

“तब क्या करोगे?”

“उनका कहना है कि तुमसे मुझे एक बहुत महत्वपूर्ण काम लेना है।”

उसके मुख से इतना निकलना था कि नंदजी के कान खड़े हो गए। उनके मन में उसके लिए करुणा उगने के पहले ही मुसकरा गई—“तब तो जाओ, भाई, उन्हींकी सेवा करो। मेरे यहाँ तुम्हारा गुजारा नहीं।”

उसी शाम तृणावर्त की हमारे यहाँ से छुट्टी हो गई। फिर भी वह गया नहीं, मेरे साथ लगा रहा। इसके दूसरे ही दिन एक विचित्र घटना घटी। मैं प्रासाद उद्यान में खेल रहा था कि अचानक एक काला नाग मेरे सामने फन काढ़कर खड़ा हो गया। मैं उससे भी खेलने लगा और वह भी बड़े सहजभाव से मुझसे खेलता रहा। वस्तुतः बालक की निर्दोष सहजता इतनी निष्कलुष होती है कि वह विषधर को ही नहीं, हिंस्र-से-हिंस्र पशु को भी सहज बना देती है। वह मेरे समान ही बालक हो गया था। हम दोनों खेल रहे थे। वहाँ कोई नहीं था। थोड़ी देर बाद मेरे परिचर मुझे खोजते हुए आए और यह लीला देखकर पहले तो स्तंभित रह गए, बाद में शोर मचाना आरंभ किया। फिर सभी ने उसे घेरकर मार डाला।

सूचना पाते ही मेरे माता-पिता भी दौड़े हुए आए और मारे गए सर्प की विशालता देखकर चकित रह गए। यशोदा मुझे गोद में उठाकर कुलदेवता के प्रकोष्ठ की ओर भागी और उसने अपने भगवान् के समक्ष मेरा मस्तक झुका दिया। साथ ही वह यह भी सोचने लगी कि अवश्य ही इस बालक में कोई चमत्कार है, अन्यथा यह जीवित न बचता। मुझपर ईश्वरत्व की एक तह और जम गई।

नंदजी ने सर्प को देखते ही पूछा, “तृणावर्त कहाँ है?”

तृणावर्त कहीं हो तब न दिखाई पड़े।

“अभी घड़ी भर पहले वह अपने पक्षियों का पिंजड़ा लेकर आते दिखाई दिया था।”

“देखो, उसका पिंजड़ा है या नहीं!” नंद ने कहा।

लोग उस स्थान की ओर दौड़े, जहाँ पिंजड़ा वह रखता था।

लोगों ने देखा, पिंजड़ा तो है, पर सभी पक्षी मरे पड़े हैं। तृणावर्त गायब है। नंद अब इसके सिवा कुछ और सोच नहीं सकते थे कि तृणावर्त ही पिंजड़े में यह नाग ले आया था और उसे जानबूझकर कन्हैया के सामने छोड़कर चला गया। इन सबके पीछे उन्हें कंस के षड्यंत्र की गंध लगी। अब तृणावर्त को घर में घुसने नहीं दिया जाएगा। उन्होंने दृढ़ निश्चय किया।

लगभग एक घड़ी बाद ही नंद के चर उसे यमुना के किनारे से पकड़ लाए। उनका कहना था कि यह यमुना के किनारे एक तमालकुंज में पड़ा सो रहा था। यों वह बातें तो ठीक ही कर रहा था; पर उसकी आँखें लाल थीं। अवश्य उसने मदिरा पी थी। राक्षसता उसकी मानसिकता पर सवार थी।

उसे देखते ही नंद चीख उठे—“कहाँ चले गए थे, नीच?”

“यमुना के किनारे कुंज में लेट गया था, नींद आ गई थी।” बड़े सहजभाव से वह बोला।

“रोज कन्हैया के साथ रहते थे। आज तुम्हें नींद आ गई—और वह भी यमुना के किनारे जाकर सो गए!” नंद का क्रोध उफान मारने लगा—“यह क्यों नहीं कहते कि मेरे बच्चे के सामने मृत्यु को छोड़कर चले गए थे?”

तृणावर्त की नाटकीयता से स्पष्ट लगा कि इस सारे संदर्भ से उसका कोई लगाव नहीं है; यद्यपि वह संदर्भ से अनभिज्ञ भी नहीं दिखा। नंद के चरों ने उसे सारी बातें बता दी थीं। उसने अपने बचाव में जो कुछ कहा, वह इस प्रकार था—“आज चिड़ियाँ फँसाते समय मुझे कई सहकर्मी मिल गए थे। वे मुझे अपने घर ले गए। वहीं लोगों ने खाना भी खिलाया और मदिरा भी पिलाई। हो सकता है, उसी समय मेरे पिंजड़े में वह नाग घुस आया हो।...आप विश्वास कीजिए, मैंने जानबूझकर ऐसा कुछ नहीं किया।”

“यदि तुमने जानबूझकर न किया होता तो तुम यमुना के किनारे न निकल जाते।” नंद ने कहा, “तुम्हारी आत्मा अपराधी थी और वह तुम्हें यहाँ से छिपाने की नीयत से दूर खींच ले गई।”

“हाँ, अपराधी तो मैं अवश्य हूँ और छिपने की नीयत से यहाँ से गया भी।” नंद के आक्रोश के होते हुए भी तृणावर्त ने अपनी सहजता नहीं छोड़ी—“पर मेरा अपराध कन्हैया के लिए नाग लाने का नहीं है, मात्र मदिरा पीने का है। मैं मदिरा पीकर महल में कैसे रह सकता था, आप ही समझें।”

“देखो, मेरे सामने बात अधिक मत बनाओ।” नंद का क्रोध और भभका—“तुम यदि चाकर होते तो आज सूली पर अवश्य चढ़ा दिए जाते। मैं तुमसे बात करना भी पसंद नहीं करता; पर तुम मेरे महाराज कंस के भेजे हुए चाकर हो। मैं तुम्हें छोड़ता हूँ। तुम इसी समय मेरी आँखों से ओझल हो जाओ। चले जाओ मेरे सामने से।”

तृणावर्त ने अब भी कुछ कहना चाहा; पर नंदजी ने और तेजी से उसे डाँटा—“मैं इस समय कुछ भी सुनना नहीं चाहता। मैं कहता हूँ, तुम अभी गोकुल छोड़ दो।”

तृणावर्त चुपचाप बीमार सर्प की तरह रेंगता चला गया।

□

इसके बाद तृणावर्त हमारे यहाँ नहीं आया। वृंदावन में वह अपनी जातिवालों के परिवार के साथ ही रहने लगा। जब मैं यमुना किनारे जाता था, वह कुछ लोगों के साथ बहुधा दिखाई पड़ता था और मुझे बड़ी विचित्र दृष्टि से देखता था। मेरे परिचारक उससे आशंकित रहते थे; पर मुझे उससे कभी भय नहीं लगा।

भय मनुष्य को खतरे से दूर रखता है, इसलिए मेरे परिचारक मुझे उससे बहुधा दूर ही रखते थे। फिर भी वह मेरे पास आता था। मेरी-उसकी बातें होती थीं। वह तरह-तरह के पक्षियों को मुझको भेंट करता और अपने संबंध बनाए रखता था।

मेरे परिचारकों ने इसकी चर्चा एक दिन मेरे पिताजी से की। वे बड़े सरल व्यक्ति थे।

“हो सकता है, वह कंस के पास न जाना चाहता हो, इसलिए वह वृंदावन में पड़ा हो।...खैर, जो मेरे यहाँ नहीं है, उसके संबंध में सोचने से क्या लाभ! तुम लोग सावधान रहो, वह क्या कर लेगा!”

निश्चित रूप से मेरे परिचारक आवश्यकता से अधिक सावधान रहते थे और कभी भी मुझे अपनी दृष्टि से ओझल होने देना नहीं चाहते थे। मेरे लिए सबसे अप्रिय बात यह हुई कि अब मैं गोपबालों के साथ गोचारण के लिए नहीं जा सकता था, जहाँ मेरा सबसे अधिक मन लगता था।

अचानक एक दिन हल्ला मचा कि कुछ लोग मथुरा से और आए हैं और वे अचानक मेरा हरण करने वाले हैं। इस बीच गोकुल के कुछ छोटे बच्चे भी गायब हो गए। उनके माता-पिता चिल्लाते मेरे यहाँ आए।

“महाराज, कंस छोटे बच्चों को मरवा रहा है।” उनकी मूल शिकायत थी।

“पर उसे इससे क्या लाभ मिलेगा?”

“वह कहता है कि यदि लोग देवकी के आठवें बच्चे को छिपाकर पाल रहे हैं तो इसके सिवा कोई रास्ता नहीं है कि उस उम्र के सभी बच्चों का वध करा दिया जाए।”

“पर नारद की भविष्यवाणी का वध कैसे हो सकता है?” मेरे पिताजी बोले और सोचते रहे। कुछ क्षण मौन रहकर उन्होंने लोगों को सलाह दी—“आप सब अपने बच्चों से सावधान रहें और किसीको भी किसी बच्चे का हरण या अहित करते देखें, तो सब लोग उसकी पिटाई करें।”

“इस पिटाई में यदि कहीं वह मर गया तो?”

“तो मर जाने दें।...जो तुम्हारे बालक का वध करने की नीयत रखे, उसका वध कर डालना शास्त्र-विहित नहीं है।”

मेरे पिता के इस आदेश के बाद गोकुल जाग उठा। उसके वातावरण में एकजुटता आई और मानसिकता संघर्ष के लिए बनने लगी। अब गोकुल का बच्चा हर व्यक्ति का था। अब मेरे परिचरों की ही नहीं, हर गोप की दृष्टि मेरी ओर लगी रहती थी।

इससे मेरे बंधन को थोड़ी मुक्ति भी मिली। मेरी कारा की अदृश्य दीवारें बहुत दूर तक फैल गईं। इसमें गोकुल और वृंदावन सबकुछ सिमट गया। अब मैं गोपों के साथ गाय चराने भी जाता। जंगलों में वंशी भी बजाता। उसी समय से वंशी का मेरा अभ्यास जो चला, वह आज तक नहीं छूटा।

एक दिन एक विशेष घटना घटी।

मध्याह्न ढल रहा था। तपते हुए सूर्य को बादलों के चीथड़ों ने ढकने की असफल चेष्टा आरंभ कर दी थी। मैं यमुना के किनारे एक पीपल की डाल पर बैठकर वंशी बजा रहा था। वह डाल जल के प्रवाह के ऊपर तक चली गई थी। सुर की मस्ती मन को घेर बैठी थी। धीरे-धीरे मेघों के ढेर-के-ढेर आते दिखाई दिए और ठंडी हवा बहने लगी।

तापमान की विषमता ने आँधी का रूप लिया। लहर उछलने लगी। वृक्ष झूमने लगे। मुझे लगा कि मैं जिस डाल पर बैठा हूँ, उसे कोई पेंग मार रहा है। मैं अपनी वंशी की धुन में और भी मस्त हो चला। अचानक किसीने मुझे पीछे से ढकेला और मैं यमुना की तरंगायित गोद में चला गया।...मुझे बस इतना ही ज्ञात है।

लगता है, इसके बाद मैं संज्ञाशून्य हो गया था।

धीरे-धीरे तूफान थमा। जब मेरी चेतना लौटी तब मैंने स्वयं को एक वयस्क गोप की गोद में पाया। चारों ओर से गोपों ने मुझे घेर रखा था। मेरी पीठ पर रक्त के धब्बे जमे थे। लगता है, रक्तस्राव हुआ था, जो अब बंद था। लोगों का कहना था कि किसी विषाक्त बाण का प्रहार है। लोग देवताओं से अनुगृहीत हो रहे थे कि उनकी कृपा ने मुझे बचा लिया, अन्यथा मेरा समाप्त हो जाना निश्चित था।

मैंने उठकर देखा, थोड़ी ही दूरी पर तृणवर्त का शव पड़ा था। लगा, पक्षी उड़ गया, पिंजड़ा धरा-का-धरा रह गया। जो आता, उसके शव पर ही थूकता—नीच, कमीना—कंस का भेजा राक्षस था। कन्हैया का प्राण लेने आया था।



पाँच

तृणावर्त की मृत्यु गोकुल और मथुरा के बीच शीतयुद्ध का उद्घाटन थी। गर्गाचार्य ने बताया कि ज्यों ही कंस को उसकी मृत्यु की सूचना मिली, वह स्तब्ध रह गया। उसकी शंका नंद और विशेषकर मुझपर केंद्रित हो गई। निश्चित ही यह बालक देवकी का आठवाँ शिशु हो सकता है, अन्यथा तृणावर्त मारा न जाता। आश्चर्य है, उसके शव पर कहीं किसी आघात का चिह्न नहीं था। केवल उसकी जीभ उसके मुख से काफी बाहर निकल आई थी। निश्चित रूप से गला दबाकर उसकी हत्या की गई थी।

उसने सारी बातें छंदक को बताई और बिना उसकी राय की प्रतीक्षा किए बोल पड़ा—“अब मेरा दृढ़ निश्चय है कि गोकुल और विशेषकर नंद पर गुप्तचरों को अधिक लगाया जाए।”

“आपका निश्चय उचित है।” छंदक ने व्यर्थ में इसका विरोध कर संदेह पैदा करना नहीं चाहा; किंतु इतना अवश्य कहा, “बहुत घबराना नहीं चाहिए। हो सकता है, तृणावर्त की मौत स्वाभाविक ही हो।”

“तुम मूर्ख के मूर्ख ही रह गए!” कंस झुंझलाया—“तुम्हारी आँखों पर तो पट्टी बँधी है। तुम असलियत देख नहीं सकते।”

“पट्टी तो भगवान् ने ही बाँध दी है।” छंदक गंभीर हुआ—“किंतु मैं असलियत देख नहीं सकता, ऐसा नहीं है। मैं तो चाहता हूँ कि मैं स्वयं गोकुल चला जाऊँ।”

“जाओ। तुम्हें रोकता कौन है! किंतु सावधान रहना, कहीं तुम्हारी भी स्थिति तृणावर्त जैसी न हो।”

“वह बहेलिया था। चिड़ियाँ फँसाने गया था। मैं उन चिड़ियों से खेलने जा रहा हूँ।” छंदक ने हँसते हुए कहा।

उसी रात छंदक गर्गाचार्य से मिला और अपनी योजना बताई। उसने स्पष्ट किया कि मैंने जानबूझकर स्वयं को बीच में डाला है, जिससे नंद के लिए सेतु और कंस के लिए अग्निसेतु बन सकूँ।

“कहीं सेतु और कहीं अग्निसेतु! तुम्हारा ही व्यक्तित्व ऐसा कर सकता है।” गर्गाचार्य हँसे। फिर कुछ सोचते हुए बोले, “तुमने कंस से बातें करते समय एक बात पर अवश्य ध्यान दिया होगा।”

“किस बात पर?”

“यही कि कंस तृणावर्त की मृत्यु से उतना परेशान नहीं है जितना कृष्ण के चमत्कार से। उसने मुझसे कहा था कि अवश्य ही वह चमत्कारी बालक है।”

“मैं भी यही चाहता हूँ कि उस बालक के चमत्कारी होने का कुछ ऐसा प्रमाण प्रस्तुत करूँ कि कंस पागल हो जाए।”

“यदि होता तो बड़ा अच्छा था! पर किसी बालक को चमत्कारी सिद्ध करना—और वह भी ऐसा, जो हमारे महाराज को विक्षिप्त कर दे, आसान नहीं है।”

“मेरे लिए यह कठिन भी नहीं है।” छंदक बड़े विश्वास से बोला, “उसे चमत्कारी सिद्ध करना तो दूर रहा, जिस क्षण चाहूँगा, स्वयं चमत्कार कर दूँगा।” लगा जैसे सबकुछ उसकी मुट्ठी में है। उसका अहं बोलता चला जा रहा था—“मेरे सामने चमत्कार का इतना प्रश्न नहीं है जितना उस बालक की सुरक्षा का प्रश्न है—और सबसे बड़ी समस्या है सुवासिनी की।”

“क्यों? सुवासिनी के संदर्भ में तुम्हारा चमत्कार असफल हो रहा है!” आचार्य मुसकराए।

“क्या करूँ? कुछ समझ नहीं पाता।”

“यदि तुम नहीं समझ पाते तो आश्चर्य है!” आचार्य पुनः मुसकराए—“लगता है, मुझे कोई रास्ता निकालना पड़ेगा।” कुछ देर तक उनके अधरों पर रहस्यात्मक मुसकराहट बनी रही। फिर बोले, “सुना है, वेदव्यासजी वसुदेव और देवकी को हस्तिनापुर ले जाना चाहते हैं?”

“सुना तो मैंने भी है।” छंदक बोला, “कदाचित् पितामह ने उन्हें बुलाया है।...किंतु कंस उन्हें न भेजकर अक्रूर को भेजना चाहता है।” छंदक ने कहा।

“इसीलिए तो मैं तुमसे कह रहा हूँ कि तुम कोई ऐसी युक्ति लगाओ कि कंस अक्रूर को न भेजकर उन्हें ही भेज दे और तुम उन्हींके साथ चुपचाप सुवासिनी को भी लगा दो।”

डूबते को जैसे तिनका मिल गया। अँधेरे में हाथ मारते-मारते वह डोर स्वयं छंदक के हाथ से छू गई, जिसका सहारा लेकर वह समाधान का शिखर छू सकता है, इसका विश्वास उसे हो गया।

“पर क्या वह हस्तिनापुर में सुरक्षित रह सकेगी?” सुवासिनी के लिए अब भी छंदक के मन में शंका बनी थी।

“किसकी हिम्मत है कि वह हस्तिनापुर की ओर आँखें उठाए! भीष्म के पौरुष और तेज के समक्ष उधर देखने का उसे साहस भी नहीं हो सकता।”

“ऐसा तो मैं नहीं मानता, महाराज के लिए कुछ भी संभव है।...आपने देखा नहीं, व्यासजी की नौकाएँ जब मथुरा के किनारे लगीं तब उनकी अगवानी के लिए वसुदेव और देवकी के सिवा कोई नहीं था।...इसके पूर्व भी वे एक बार आए थे, तब महाराज उग्रसेन स्वयं उनके स्वागत में उपस्थित हुए थे।...इस बार कंस को कौन कहे, एक राज्याधिकारी भी नहीं था।” छंदक बोला।

“यही बात तो प्रलंब ने भी मुझसे कही थी।” गर्गाचार्य ने कहा, “पर उनका संदर्भ दूसरा था। वे कह रहे थे कि कंस अब अपने अमात्यों और महामात्य का भी विश्वास नहीं करता। उसने अक्रूर को अपनी ओर से स्वागत के लिए भेजा था।”

“अक्रूर के साथ मैं भी गया था।” छंदक ने मुसकराते हुए कहा।

“तुम क्यों गए थे?”

“महाराज का विश्वासपात्र जो हूँ!” अब उसकी मुसकराहट हँसी में फूट पड़ी।

उसके कथन के ढंग पर आचार्यजी को भी हँसी आ गई।

“मैंने व्यासजी के चरण छुए। उन्होंने खुले हृदय से आशीर्वाद दिया।” छंदक बोला।

“क्या आशीर्वाद दिया व्यासजी ने?”

“कहा कि शीघ्र ही तुम्हारी ज्योति तुम्हें मिल जाए।”

“इसका तात्पर्य है कि यह पट्टी अब खुल जाएगी?”

“अवश्य खुलेगी, सिद्ध पुरुषों की वाणी कभी झूठी नहीं होती।” छंदक अप्रत्याशित रूप से प्रसन्न था।

जिस समय गर्गाचार्य के निवास से छंदक निकला, सूर्य अस्ताचलगामी हो चुका था। रंगीन आँचल समेटती संध्या धुँधली पड़ चुकी थी। किंतु वह सीधे राजप्रासाद में आया और कंस से मिला। प्रद्योत के साथ मंत्रणा कर रहे कंस से बोला, “मैं कुछ पल आपका एकांत में चाहता हूँ।” कंस ने उसी क्षण प्रद्योत को हटा दिया; क्योंकि छंदक से बड़ा हितैषी मथुरा में कंस का इस समय कौन था!

“क्या आपको विश्वास है कि देवकी का आठवाँ पुत्र गोकुल में पल रहा है?” उसने प्रद्योत के हटते ही पूछा।

“इसमें भी संदेह है!” कंस को लगा कि छंदक कैसी मूर्खतापूर्ण शंका कर रहा है—“क्यों, तुम्हें विश्वास नहीं हो रहा है? अरे, नंद ने स्वयं स्वीकार किया है कि उसका पुत्र उसी दिन पैदा हुआ है, जिस दिन देवकी के आठवें

शिशु ने जन्म लिया था। और फिर तृणावर्त की मृत्यु! वह कुछ सोचने के लिए हमें विवश नहीं करती?...तुम सबकुछ समझते हुए ऐसा प्रश्न क्यों कर रहे हो?"

"मैंने ऐसा प्रश्न इस समय मात्र इसलिए किया था कि यदि यह निश्चित है कि हमारा शत्रु गोकुल में है, तो वसुदेव और देवकी को हस्तिनापुर क्यों नहीं भेज दिया जाता! उनको यहाँ रखकर अकारण एक बाधा को सिर पर लादे रखना कहाँ की बुद्धिमानी है?"

"पर मैं तो अक्रूर को भेजना चाहता था।"

"उसके भेजने से क्या लाभ?"

"वह जरा हस्तिनापुर की वर्तमान राजनीति समझकर आता।"

"राजनीति!...राजनीति बस इस समय एक ही है—अपने शत्रु का विनाश। मन को एकाग्र कीजिए और लक्ष्य निश्चित कीजिए। अनिश्चित कोई गंतव्य नहीं होता—और यदि होता भी है तो वह उन बादलों की तरह व्यर्थ होता है, जो समुद्र से उठकर समुद्र पर ही बरसते हैं।"

गर्गाचार्य ने बताया कि वसुदेव और देवकी को हस्तिनापुर भेज देने के बाद मथुरा की गतिविधि बड़ी तेज हो गई। छंदक सीधे गोकुल पहुँचा। उसने नंद को बताया कि अब लक्ष्य निश्चित हो गया है।

"तुम्हारा तात्पर्य?"

"तात्पर्य यही कि कंस की दृष्टि अब सीधे तुम्हारे कन्हैया पर ही लगी है।"

"वह तो बहुत पहले से लगी है; पर किया क्या जाए?"

"सावधान रहा जाए!"

"स्वयं भगवान् के लिए सावधान रहूँ! तारणहार के लिए सचेत रहूँ? और रहूँ भी तो कितना सचेत रहूँ? बात कुछ समझ में नहीं आती!" आज नंद कुछ अन्यमनस्क-से जान पड़े।

"हमें अपना कर्म तो करना ही चाहिए, केवल फल भगवान् पर छोड़ना चाहिए।" छंदक दार्शनिकों-सा बोला। उसके इस कथन को आचार्यजी ने जब मुझे सुनाया था तब मुझे हँसी आ गई थी। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'—यह तो मैंने बहुत बाद में कहा था। छंदक अभी से मेरी भाषा बोल रहा था।

वस्तुतः 'गीता' में मैंने ऐसा कुछ नया नहीं कहा है, जो पहले कह न दिया गया हो। केवल नया यही है कि मैंने हर जगह अपने को भगवान् स्वीकार किया है।...और स्वीकार किया ही नहीं है, लोगों से कराया भी है। यदि ऐसा न करता तो शायद अर्जुन की उस मोह की काली रात पर मैं सूर्य की तरह न तपता। खैर, इसे यहीं छोड़िए। मैं अनुभव कर रहा हूँ कि चिंतन के स्तर पर अपने कर्म के स्तर की अपेक्षा अधिक चंचल हूँ। मेरे अतीत पर वर्तमान बार-बार हावी होता जा रहा है; क्योंकि मैं वर्तमान जी रहा हूँ। अतीत को एक मोहक वस्तु की तरह मस्तिष्क में सँजोए हूँ—और इस समय उसीकी चर्चा कर रहा हूँ।

छंदक ने मेरे पिता को सावधान कर दिया और मेरे साथ यमुना के किनारे आया। सदा की भाँति अन्य ग्वालबाल भी पीछे लगे थे। आँखों पर पट्टी बाँधे इस विचित्र व्यक्ति पर सबकी दृष्टि लगी थी।

गोपबालों की बालसहज बुद्धि ने सोचा, यह आँखों पर पट्टी बाँधे 'छूआछूत' खेलने मेरे साथ चल रहा है।

"क्या तुम छूआछूत खेलोगे?" उनमें से एक ने पूछा।

"खेल सकता हूँ।" छंदक बोला।

"तुमको खेलना आता है?"

"संसार के साथ छूआछूत ही तो खेल रहा हूँ।" छंदक बड़े रहस्यमय ढंग से मुसकराया।

“कब से खेल रहे हो?” मैंने पूछा।

“तुम्हारे जन्म के पहले से, कन्हैया।” इतना कहते हुए छंदक ने मुझे अपनी गोद में उठा लिया।

“इतने दिनों से तुम आँखों पर पट्टी बाँधे हो!” मुझे आश्चर्य हुआ—“लगातार बाँधे रहते हो?”

“हाँ।”

“आखिर क्यों?”

“छूआछूत खेलने के लिए।” छंदक कुछ और कहना चाहता था, पर वह हिचकिचाया। इस हिचकिचाहट के पीछे मेरे प्रति उसका श्रद्धाभाव था या नारद की भविष्यवाणी या कोई और बात थी, मैं कुछ कह नहीं सकता। पर इतना निश्चित है कि वह पूरा साहस जुटा नहीं पाया।

“तो कब तक पट्टी बाँधे रहोगे?” किसी गोप ने पूछा और उसके साथ ही मैंने उसकी पट्टी नोच ली। मुझे तो उसकी आँखें ठीक दिखाई दीं।

वह मुझे गोद में लेकर पागलों-सा नाचने लगा—“अरे, मेरी आँखें ठीक हो गईं! मुझे प्रकाश मिल गया!”

हम लोग कुछ समझ नहीं पाए। वह कूदता रहा, नाचता रहा। सिंधु में उठे ज्वार की तरह उसका सारा शरीर तरंगायित हो उठा था। उसकी यह असाधारण स्थिति देखकर मेरे परिचर और साथी घबरा गए। कहीं ऐसा न हो कि मित्र के रूप में आया यह शत्रु हो और इसी तरह की चेष्टाएँ करते हुए वह कन्हैया को यमुना में फेंक दे। लोगों ने बड़ी मुश्किल से मुझे उसकी गोद से उतारा। वह पागलों-सा ‘मेरी आँखें मिल गईं! मैं प्रकाश पा गया!’—यह वाक्य दुहराता वहाँ से भागा और सीधे पिताजी के पास आया। उन्हें आँखें दिखाकर सारी बातें बताईं। इसी बीच जो भी दिखाई दिया, विक्षिप्तों-सा उसे अपनी आँखें दिखाता और बताता—“यह कन्हैया साधारण लड़का नहीं है, चमत्कारी है। इसने मेरी आँखों को ज्योति दी है।”

मेरे पिताजी ने बताया था कि इसके बाद छंदक एक क्षण के लिए भी गोकुल में नहीं रुका। वह सीधे मथुरा के लिए भागा। पिताजी ने उसके लिए रथ की व्यवस्था करनी चाही थी, किंतु उसने कुछ नहीं सुना; क्योंकि उसकी मंशा तो कुछ और थी। वह हर व्यक्ति को अपना चमत्कार दिखाना चाहता था।

अब वह राजपथ से दौड़ता हुआ एक योजन निकल जाएगा। मार्ग के हर व्यक्ति को अपनी आँखें दिखाएगा और कहेगा, ‘भाइयो! देखो, मागधी सैनिकों ने जिन आँखों की ज्योति छीन ली थी, उस बाल कृष्ण ने उसे लौटा दिया। अब मैं प्रकाश के संसार में आ गया हूँ।...कृष्ण कोई साधारण बालक नहीं है; असाधारण है, चमत्कारी है!’

जो भी व्यक्ति दिखाई देता, उसे वह अपनी आँखें दिखाता। पागलों-सा खुशी में चिल्लाता और पसीने से तर-ब-तर भागता जाता।

बहुत सारे लोग इस चमत्कार को देखने के लिए इकट्ठे होते गए। जब वह मथुरा में पहुँचा, उसके पीछे अच्छी-खासी भीड़ चल रही थी।

वह सीधे राजप्रासाद में घुस गया। प्रतिहारी भी उसे देखकर चकित थे। किसी को विश्वास ही नहीं हो रहा था कि फूटी आँखों में एक बालक ने ज्योति डाल दी। जो रात-दिन नेत्रों पर पट्टी बाँधे घूम रहा था, पट्टी के अभाव में उसकी आकृति ही विचित्र लग रही थी।

सबसे पहले वह महामात्य के कक्ष में गया। प्रलंब चुपचाप कुछ सोचते हुए एकांतवास कर रहा था। छंदक को देखकर और उसकी बड़बड़ाहट सुनकर वह स्तब्ध रह गया।

“चमत्कार! सचमुच चमत्कार!!” उस बूढ़े की प्रत्येक झुर्री से प्रसन्नता फूट पड़ी—“अरे, वह छोटा सा बालक, नन्हा सा दीप तुम्हारी आँखों का सारा अँधेरा पी गया। सचमुच तुम धन्य हो!”

छंदक मुसकराता हुआ महामात्य को सुनता रहा।

प्रलंब इसलिए तो प्रसन्न था ही कि छंदक की आँखों में प्रकाश लौट आया, इससे भी अधिक प्रसन्नता इस बात की थी कि चमत्कार के समाचार से मथुरा की डूबी जनता एकाएक उतरा आएगी। उसकी निराशा के धुँधलके में सूरज निकल आएगा।

लगभग यही प्रतिक्रिया आचार्यजी की भी थी।

प्रद्योत तो देखते ही अवाक् रह गया—“अरे, यह क्या!”

“यह उसी बालक का चमत्कार है!” छंदक बोला, “घबराओ नहीं, तारणहार जन्म ले चुका है।” सांत्वना की दो-चार बूँदें छिड़ककर वह सीधे आगे बढ़ गया और कंस के प्रकोष्ठ में पहुँचा। अपनी आह्लादपूर्ण वाणी के साथ ही कुछ मुद्राओं का और कुछ संकेतों का उलटा-सीधा सहारा लेते हुए उसने कंस को सारी बातें बताईं—“महाराज, अद्भुत है वह बालक! उसने स्वयं मेरी आँखों की पट्टी नोच ली।”

“और तुम्हारी आँखें प्रकाश उगलने लगीं!” कंस चीख उठा—“झूठ, एकदम झूठ! कोरा झूठ!”

इस चीख में उसकी झुँझलाहट, व्यग्रता और आक्रोश की त्रिवेणी थी।

“यह सत्य है, महाराज! आपके मागधी सैनिकों ने जिन नेत्रों की ज्योति हमेशा-हमेशा के लिए छीन ली थी, उसे उस चमत्कारी बालक ने लौटा दी।”

कंस झल्लाया—“निकल जाओ प्रासाद से! मुझे आँखोंवाले छंदक की नहीं, मुझे अंधे छंदक की आवश्यकता है—आँखों पर पट्टी बाँधे लाचार और अपाहिज छंदक की!”

छंदक भी उसी प्रकार तप्त वायु के झोंके-सा बड़बड़ाता हुआ लौट पड़ा—“छंदक न कभी लाचार और अपाहिज रहा है और न रहेगा।”

उसके उत्तरीय का दोनों छोर घायल बाज के पंखों की तरह फड़फड़ा रहा था।

□

गर्गाचार्य ने बताया कि छंदक की कूटनीतिज्ञता ने केवल उसकी आँखों से पट्टी ही नहीं हटाई वरन् इतने दिनों से रचे गए एक गोपनीय नाटक की यवनिका भी उठा दी। सारी मथुरा इस चमत्कार से थिरक उठी थी। उसे विश्वास हो गया था कि अवश्य ही हमारा तारणहार इस पृथ्वी पर पल रहा है।

दूसरी ओर कंस की व्यग्रता अपनी चरम सीमा का स्पर्श कर रही थी। वह लगभग पागल हो चुका था। उसका विश्वास उसे सत्य दिखाई दे रहा था। देवकी के आठवें पुत्र को अब वह अपने सामने सजीव खड़ा देखता था। ऐसी स्थिति में उसके आदेश भी बड़े असामान्य होने लगे थे। कभी असमय ही प्रद्योत को बुलाकर वह बुरा-भला कहता, गालियाँ देता। कभी महामात्य को आदेश देता—“प्रजा से कहो कि उस वय के सभी बालकों को मेरे समक्ष उपस्थित करे।”

किंतु ऐसी विषम स्थिति में कंस की दोनों पत्नियों—अस्ति और प्राप्ति में बड़ा संयम था। उन्होंने बड़े साहस का परिचय दिया। दोनों ने कंस को सांत्वना दी—“जो भी परिस्थिति होगी, उसे देखा जाएगा। आप इतना घबराते क्यों हैं?”

बार-बार दुहराए गए वाक्य को कंस ने फिर दुहराया—“देवकी का आठवाँ पुत्र जीवित है।”

“...तो वह मारा जाएगा!” अस्ति बोली, “जिसके पास इतनी विशाल सेना हो, मेरे पिता (जरासंध) जिसकी सहायता के लिए तत्पर हों, उसे भय कैसा!”

यह सारी सांत्वना कंस की मानसिकता को महज सहलाकर रह जाती थी। थपकी दे-देकर एक हठी बालक को

सुला दिया जाता था; पर दुःस्वप्न उसे क्षण भर में ही जगा देते थे। उसके मन में दैवी चमत्कार की भयंकरता फन काढ़कर खड़ी हो जाती थी, जिसके फुफकारते ही कंस अपनी संपूर्ण सैनिक शक्ति को मोम-सा गलते हुए देखता था।

इसी बीच एक बात और हुई। कंस की व्यक्तिगत परिचारिका मालिनी भयंकर रूप से बीमार पड़ी। वह अनिच्छा सुंदरी कंस की प्रकृति को समझती थी। उससे कंस को अधिक शांति भी मिलती थी; पर अब वह भी अनुपस्थित होने के लिए विवश थी। कंस ने इस घटना को भी चमत्कार के संदर्भ में देखा; क्योंकि उसके चिंतन के चारों ओर चमत्कार का भूत विषैले बर्रे की तरह भनभना रहा था, जो कभी-कभी डस भी लेता था। उसका मन उस चमत्कार से मुक्त नहीं हो पा रहा था।

कंस की पत्नियों ने दो-एक दिन इस स्थिति को बड़े सहजभाव से लिया। बाद में उन्हें भी मालिनी की अस्वस्थता में षड्यंत्र की दुर्गंध आने लगी थी।

ज्ञातव्य है कि मालिनी परंपरा से राजसेवा में थी। उसकी माँ भी महाराज उग्रसेन की व्यक्तिगत परिचारिका थी। जब मरने लगी थी, तभी से अपनी पुत्री को राजसेवा में छोड़ा था। उस समय उसकी अवस्था मात्र बारह वर्ष की थी। अपने सेवाभाव के कारण वह बड़ी विश्वस्त प्रमाणित हुई थी। उसका ऐसी कठिन परिस्थिति में अनुपस्थित रह जाना कुछ सोचने के लिए विवश करता था।

‘अरे ज्वर रहा होगा। दो-चार-छः दिनों में ठीक हो गई होगी। फिर तो उसे आना चाहिए था।’ पर वह नहीं आई।

उसका पति अंगारक कंस के मुख्य हस्तिपाल का पुत्र था। कंस-पत्नियों ने पहले प्रद्योत को मुख्य हस्तिपाल को बुलाने का आदेश दिया।

हस्तिपाल हाजिर हुआ।

“आजकल मालिनी नहीं आ रही है?” प्राप्ति ने उसे देखते ही सीधा प्रश्न किया।

“पट्टमहिषी, वह बीमार है।”

“क्या हो गया है?”

“उसे ज्वर है और साथ ही अंग-अंग में पीड़ा है।” मुख्य हस्तिपाल ने कहा, “मेरा बेटा उसे लेकर बहुत परेशान है।”

“चिकित्सा किसकी चल रही है?”

“यह तो मैं नहीं बता सकता।”

अब प्राप्ति की शंका आश्रय पा गई। वह तड़पी—“तुम्हारी पुत्रवधू बीमार है और तुम नहीं बता सकते कि चिकित्सा किसकी चल रही है!”

हस्तिपाल कुछ क्षणों तक मौन रहा, फिर कुछ सोचते हुए बोला, “कल मैं पूछकर विस्तार से सूचना दूँगा।”

“विस्तार से सूचना देने की आवश्यकता नहीं है।” इस बार अस्ति ने कहा, “कल तुम अपने पुत्र को बुला लाओ।...कल से मालिनी की चिकित्सा राजवैद्य करेंगे।”

“बड़ी कृपा, पट्टमहिषी, बड़ी कृपा! आपका अनुगृहीत हुआ।” हस्तिपाल उनके चरणों पर गिर पड़ा और छूटते ही अपने आवास की ओर दौड़ा।

मालिनी का पति अंगारक लगातार अपनी पत्नी की शुश्रूषा में लगा रहा। जब उसे ज्ञात हुआ कि अब उसकी चिकित्सा राजवैद्य द्वारा होगी तब उसे संतोष भी हुआ और पश्चात्ताप भी। संतोष इस बात का कि वह चिकित्सा के झंझट से मुक्त हो जाएगा और पश्चात्ताप इस बात का कि पहले से ही यदि अपनी पत्नी से एक प्रार्थना पत्र महाराज

के यहाँ भिजवा देता तो राजवैद्य की व्यवस्था और पहले हो जाती तथा रोग इतना न बढ़ता; किंतु अब इस पश्चात्ताप का कोई अर्थ नहीं था।

राजवैद्य ने उसे देखते ही बता दिया—“यह असाध्य संधिवात है। यह बड़ा भयंकर रोग है। ओषधि से बस इतना होगा कि ज्वर उतर जाएगा। पीड़ा भी समाप्त हो जाएगी; पर हाथ-पैर की गाँठें और मेरुदंड—जो टेढ़े हो चुके हैं, वे सीधे नहीं हो सकते। हाँ, उनका शोथ समाप्त अवश्य हो जाएगा।”

“इसकी गाँठें टेढ़ी ही रहेंगी! यह त्रिवक्रा ही रह जाएगी!” अंगारक ने माथा ठोंका।

“मुझे तो यही लगता है।” वैद्यराज के यह कहने पर मालिनी भी सिसकने लगी थी।

यही सूचना वैद्यराज ने महाराज को भी दी। सुनते ही कंस का शंकाकुल मन स्वयं में ही उलझने लगा—“इसका कारण क्या हो सकता है, वैद्यराज?”

“इसका कारण क्या बताऊँ, महाराजजी!” वैद्यराज ने निवेदन किया—“प्रभु की कृपा ही समझिए।”

“प्रभु! प्रभु! प्रभु! सुनते-सुनते तो मेरे कान पक गए!” कंस झल्लाया—“तुम सब पागल हो गए हो। तुम्हें प्रभु के सिवा और कहीं कुछ दिखाई ही नहीं देता। क्या प्रकृति किसी कार्य का कारण नहीं हो सकती? जो कुछ होता है, उस सबके मूल में प्रभु ही है?”

अपने पर से विश्वास खोनेवाला व्यक्ति ईश्वर में क्या विश्वास करता। नास्तिक के लिए अनीतिरत और कदाचारी होना आवश्यक नहीं; पर हर अनीतिरत और कदाचारी व्यक्ति का नास्तिक होना अनिवार्य है। कंस इसी स्थिति में पहुँच चुका था।

वैद्यराज मौन निरुत्तर खड़े रहे और कंस की दूसरी फटकार में वहाँ से चलते बने।

उसकी नास्तिकता के नीचे फैल रही कंस के पापों के विषैले धुएँ की विभीषिका ही कंस की अनास्था थी। अब स्थिति ऐसी थी कि वह अपनी अनास्था से ही डर रहा था। इसी अनास्था के अंधकार में उसे नारद की भविष्यवाणी की आस्था की चमक रह-रहकर दिखाई पड़ जाती थी और वह काँप उठता था।...वह हर घटना के संदर्भ में देवकी के आठवें बेटे का चमत्कार ही देखता था।

उसने अपनी पत्नी से भी कुछ इसी मनःस्थिति में कहा, “ऐसा तो नहीं कि मालिनी के इस रोग के पीछे भी कोई चमत्कार हो?”

“कैसा चमत्कार?”

“जैसा चमत्कार छंदक की आँखों में प्रकाश के लौटने के पीछे था!” कंस की व्याकुलता बड़ी गंभीरता से व्यक्त हुई थी—“ऐसा तो नहीं कि मेरे संहारक के चमत्कार ने मेरी सेविका को मुझसे अलग करना चाहा हो।...कहीं ऐसा न हो कि तुम लोग भी मेरे काम की न रह जाओ।”

दोनों पत्नियों ने उसे आश्वस्त किया कि आप व्यर्थ शंका कर रहे हैं। अरे शरीर व्याधि मंदिर है। किसी भी समय, किसीको भी, कोई भी रोग हो सकता है।

“पर वैद्यराज कहता है कि मालिनी के रोग के मूल में प्रभु की कृपा है।”

“यह उनका विश्वास हो सकता है; पर मुझे इसमें कोई विशेष बात नहीं लगती।”

तनाव और घुटन में जीनेवाला कंस का प्रासाद अब शंकाओं और आशंकाओं में झुलसने लगा था। एक रात छंदक आचार्यजी से शिव मंदिर के पास की अमराई में मिला। आचार्यजी ने उसे देखा भी नहीं था। वह पीछे से आकर उनके कंधे पर हाथ रखते हुए बोला, “देखा, मैंने आप लोगों की आज्ञाओं का पालन कर दिया।”

“किस आज्ञा का?” उन्होंने पीछे मुड़कर चौंकते हुए पूछा।

“चमत्कार उत्पन्न कर देने की आज्ञा का।” इतना कहकर वह हँसने लगा। उसे लगा कि आचार्यजी शायद मेरी बात का संदर्भ समझ नहीं पा रहे हैं। उसने याद दिलाते हुए कहा, “आप ही ने कहा था कि उस बालक के किसी ऐसे चमत्कार की चर्चा करो कि कंस की विक्षिप्तता और अधिक बढ़ जाए।...क्या मेरी आँखों में प्रकाश लौट आने के पीछे कोई चमत्कार नहीं है?” वह हँसता रहा।

आचार्यजी ने मुझे बताया कि उसका पट्टी बाँधना जितना रहस्यमय लगा था उतना ही उसकी पट्टी का हटाया जाना भी रहस्यमय लगा।

रहस्य का जीवन ही उसकी गोपनीयता है और उसकी अस्मिता है चमत्कार। छंदक तो ऐसे चमत्कारों का मूर्त रूप था।

□

आज का प्रभात इस कुसमाचार से काँप उठा कि प्रद्योत के दोनों बच्चे कहीं गायब हो गए। कल संध्या लोगों ने उन्हें राजकीय उद्यान में खेलते देखा था। इसके बाद उनका कहीं पता नहीं। रात भर प्रद्योत और उसकी पत्नी व्यग्र रही। दूसरे दिन सवेरे से ही राजकीय सैनिकों ने खोज आरंभ की; पर व्यर्थ। कहीं पता नहीं चला।

दिन भर बिना खाए-पिए रात को महादेवी जब अपनी शय्या पर निढाल हो गई तब सिसकते हुए उसने अपने पति से कहा, “अब मेरे दुलारे नहीं मिलेंगे।” इतना कहते-कहते वह फूट-फूटकर रोने लगी। प्रद्योत समझाता रह गया। “मेरी शंका रह-रहकर पता नहीं क्यों कंस की ओर जाती है।” महादेवी के सिसकने से उसकी शंका उभरी—“हो न हो, उसने ही हमारे बच्चों को छिपाया हो या मरवा डाला हो।” बोलते-बोलते वह अप्रत्याशित रूप से चुप हो गई।...और फिर वह अचानक फूट-फूटकर रोने लगी।

अब उसकी यही स्थिति थी। जब वह दुश्चिंताओं में उलझती तब चुप रहती, अन्यथा दहाड़ मारकर रोने लगती। अशुभ आशंकाओं के विषाक्त धूम से आच्छादित महादेवी की मानसिकता उन पागलों जैसी हो गई थी, जो सिर पटक-पटककर अपना ही अशुभ करती हैं।...वह रोती, बड़बड़ाती और असामान्य से मौन हो जाती। रात्रि का सन्नाटा उसकी मनःस्थिति का यही क्रम झेलता रहा।

बच्चों का गायब होना और पत्नी की यह दशा! प्रद्योत विषम स्थिति में था। वह व्याकुलता की पहाड़ी के उस छोर तक पहुँच चुका था, जिसके आगे कोई राह नहीं होती। केवल गूँजती रह जाती हैं सुनसान घाटी में व्यग्रता की मौन चीखें।

उसे लगा कि कंस के समक्ष नाक रगड़ने के अतिरिक्त अब दूसरा रास्ता नहीं है। किसी तरह रात बीती। पक्षियों के कंठों से चहचहाता सवेरा दिखने लगा। प्रद्योत ने एक बार अपनी पत्नी को फिर समझाया और महाराज के समक्ष संयम रखने की सलाह ही नहीं दी वरन् बार-बार सावधान भी किया।

जब वे दोनों प्रासाद में पहुँचे, दिन घड़ी भर चढ़ आया था। कंस का एक अंगरक्षक बीच में ही मिल गया। प्रद्योत को सपत्नीक देखकर वह घबराया और अभिवादन करते ही पूछ पड़ा, “बालक मिले क्या?”

“अभी नहीं।” प्रद्योत बोला; किंतु महादेवी बड़े असामान्य भाव से आगे बढ़ गई। उसके बाल बिखरे और आँचल धरती को चूमता चल रहा था।

“महाराज की मनःस्थिति कैसी है?” प्रद्योत ने अंगरक्षक से पूछा।

“रात सो नहीं पाए थे। किसी प्रकार आँखें लगीं; किंतु सूर्य की पहली किरण के साथ जग पड़े। इस समय अपने कक्ष में टहल रहे हैं।”

कक्ष में घुसते ही दोनों कंस के चरणों पर गिर पड़े—“महाराज, हम तो आपकी हर आज्ञा मानने को तैयार थे, फिर

हमारे दोनों बच्चे क्यों गायब कर दिए गए?"

“गायब कर दिए गए! हा-हा-हा!” कंस का उन्मुक्त अट्टहास दोनों के सिर पर से निकल गया। फिर कंस की तयोरियाँ चढ़ने लगीं। वह एकदम बौखला उठा—“किसने गायब किया? कहाँ गायब किया? मैं जानता हूँ। तुम सब नाटक करते हो। तुमने स्वयं अपने बच्चों को छिपा रखा है; क्योंकि मैंने उन बच्चों की हत्या की बात कही थी। अब मैं किसी बच्चे को देखना नहीं चाहता हूँ; क्योंकि हर बच्चे के अधर पर मुसकराती मुझे अपनी मौत दिखाई देती है।...तुम क्या समझती हो कि मैं बच्चों को छिपा रखूँगा! अरे, उन्हें काटकर फेंक दूँगा। मैं स्वयं निपूता हूँ, संसार को भी निपूता ही रहने दूँगा।”

आचार्यजी ने बताया कि इतना सुनते ही महादेवी संज्ञाशून्य होकर गिर पड़ी। अद्भुत स्थिति थी। शरणागत की व्यग्रता की चरम सीमा पर और शरण्य की व्यग्रता की चरम सीमा पर। शरणागत अपने बच्चों की मृत्यु से चिंतित और शरण्य स्वयं अपनी मृत्यु से चिंतित। दोनों का चिंतन मृत्यु पर टँगा और टिका।

परिचारिकाओं द्वारा उठाकर महादेवी कंस के कक्ष के बाहर लाई गई। घड़ी भर तक उसके सचेत होने की प्रतीक्षा की गई। फिर भी जब उसकी चेतना नहीं लौटी तब प्रद्योत ने एक प्रतिहारी को वैद्यराज को बुलाकर अपने घर भेजने का आदेश दिया।

प्रासाद के द्वार तक तो परिचारिकाएँ संज्ञाशून्य महादेवी को उठा लाई; किंतु जब राजभवन के बाहर रथ पर लिटाने के लिए प्रतिहारी आगे बढ़े, तब प्रद्योत की बिजली-सी गड़गड़ाती आवाज छूटी—“खबरदार, हाथ मत लगाना! अभी मैं जीवित हूँ।” इतना कहते ही प्रद्योत अचेत पत्नी को अपने कंधे पर उठाकर आगे बढ़ा। कहते हैं, लोगों ने उस समय प्रद्योत को नहीं वरन् क्रोधाग्नि में जलते हुए एक शिव को सती का शव उठाए देखा।

आवास पर आने के बाद घंटों वैद्यराज ने उसकी चिकित्सा की, तब कहीं चेतना लौटी। अचेतन से चेतन अवस्था में आती हुई वह बड़बड़ाती रही—“मैं उन्हें काटकर फेंक दूँगा! मैं निपूता हूँ, संसार को निपूता ही रहने दूँगा।”

प्रद्योत घबराया। उसने वैद्यराज से पूछा, “ऐसा तो नहीं कि यह विक्षिप्त हो जाए?”

वैद्यराज गंभीर हो गए। लगा कि प्रश्न गंभीर है। उन्होंने पुनः उसकी नाड़ी पकड़ी। कुछ देर तक सोचते रहे, फिर बोले, “वायु का अधिक प्रकोप है और मन पर भी गहरा आघात लगा है। ओषधि देते रहिए। प्रभु चाहेगा तो सब ठीक हो जाएगा।”

प्रद्योत की व्यग्रता कुछ शांत हुई; पर वह वैद्यराज का मुख देखता रह गया। सोचने लगा कि यह भी विचित्र है। जिस मथुरा में भगवान् का अस्तित्व ही खतरे में है वहाँ यह बूढ़ा प्रभु को अभी भी अपनी वाणी से लगाए है।

वैद्यराज ओषधि देकर चले गए। संध्या तक वह धीरे-धीरे सामान्य भी हुई; किंतु घड़ी-डेढ़ घड़ी बाद उसे दौरा-सा आने लगा—“मैं खा जाऊँगी! मैं उसे चबा जाऊँगी। मैं किसी भी बच्चे को जीवित नहीं छोड़ूँगी। निपूती रहूँगी और संसार को पुत्रविहीन कर दूँगी।”

वह उस समय स्वस्थ तो हो गई, पर दौरे ने उसका पीछा नहीं छोड़ा। कभी-कभी वह इसी प्रकार चिल्लाती हुई गलियों में निकल जाती। लोग पकड़कर उसे घर ले आते। देर तक बड़बड़ाती रहती। बाद में वह आपसे आप शांत हो जाती।

□

छंदक की आँखों पर बँधी पट्टी खुलने के बाद मैं ओर मेरा परिवार आकर्षण का केंद्र हो गया। एक ओर कंस ने मेरे पीछे गुप्तचर बढ़ा दिए और दूसरी ओर मथुरा के लोग मेरे दर्शन के लिए आने लगे। यशोदा का छोरा उन्हें

अद्भुत दिखाई देने लगा। उनकी आँखें मुझमें देवत्व खोजने लगीं—और आप विश्वास करें, मुझमें वे देवत्व पाने भी लगीं।

लोग बताते हैं कि इतना सब होने पर भी अवस्था अधिक नहीं हुई थी। आप समझते होंगे कि मैं बड़ा हो गया होऊँगा; पर आप विश्वास करें, अब भी मेरी अवस्था मात्र दो-तीन साल की थी। अब भी मैं यशोदा का स्तनपान करता था। हृष्ट-पुष्ट था। अपने वय से अधिक का मालूम पड़ता था। गोपों के साथ गाय चराने जाने के लिए भी मचल उठता था—और बहुधा चला भी जाता था।

मुझे ठीक याद नहीं है; किंतु लोगों ने बताया था कि एक दिन विषम स्थिति में नंदजी ने कहा था—“देखते नहीं हो, तुम्हारे पीछे इतने लोग लगे हैं और तुम अपने मन का करते हो!”

उस समय मैंने उनकी बात नहीं समझी थी।

हाथ का संकेत करके उन्होंने मुझे अपने पास बुलाया और मेरे कान में धीरे से कहा, “लोग तुम्हें मार डालने के फेर में हैं।”

“जो मुझे मारने आएगा, मैं उसे जान से मार डालूँगा।” मैंने बड़े सहजभाव से कहा था। मेरी अभिव्यक्ति में बालमन की सरलता थी; किंतु लोगों को मेरी ध्वनि कुछ विचित्र-सी लगी। लोग इसे एक बालक का सहज विश्वास न समझकर भविष्यवाणी समझ बैठे। नंदजी ने बड़े पूज्यभाव से मुझे देखा। मैं अपनी बाँस की बँसुरिया लिये और सिर पर मोर मुकुट पहने बड़ी मस्ती से मुसकरा रहा था।

मुझमें ईश्वरत्व देखनेवालों की दृष्टि में मेरा बचपन भगवान् के बाल रूप में ही उभरने लगा। इससे इतना तो अवश्य लाभ हुआ कि प्रासाद में रहने के लिए मेरा विवश किया जाना कम हो गया। मैं अपनी वंशी उठाता और ग्वालों के कंधों पर बैठकर गाय चराने यमुना के किनारे निकल जाता। इतना होने पर भी मेरी सुरक्षा के लिए लगाए गए परिचरों में कोई कमी नहीं की गई। वे छाया की तरह मेरे पीछे लगे रहते थे।

इधर मथुरा में प्रद्योत की विचित्र स्थिति थी।

महादेवी का पागलपन बढ़ता चला जा रहा था। अब उसे रह-रहकर पड़नेवाले उन्माद के दौरों बढ़ गए थे। वैद्यराज का कहना था कि ओषधि देते चलिए, सब ठीक हो जाएगा। पर ज्यों-ज्यों उपचार हुआ, रोग बढ़ता गया। अधिकतर उसे ऐसी ओषधि दी जाती थी कि वह सोई पड़ी रहती थी।

एक दिन वह दोपहर को भोजन के बाद सोई। कई घंटे सोती रही। सूर्य पश्चिम में ढुलक चुका था। शायद उसने कोई सपना देखा। वह अचानक उठी और वैसे ही लस्त-पस्त बाल बिखरे हुए और उन्हीं वस्त्रों में अपने आवास से भाग निकली। असामान्य स्थिति थी। लोगों ने उसे भागते देखा भी; पर तड़ित तरंग की तरह हर दृष्टि से क्षण भर में वह लुप्त होती चली गई। लोग अवाक्, ठगे-से रह गए।

वह बाल उद्यान में पहुँची और संध्या के रंगीन आँचल में खेल रहे कई बच्चों की हत्या गला दबाकर कर बैठी। अचानक नादान शिशुओं का जीवन मृत्यु के प्रकोष्ठ में ढकेल दिया गया।

“मैं इनमें से एक को भी जिंदा नहीं छोड़ूँगी! स्वयं निपूती हूँ और संसार को निपूता कर दूँगी।” वह बड़बड़ाती, फुफकारती, बच्चों के पीछे दौड़ती जा रही थी; मानो चिड़ियों के घोंसले में घुसी नागिन को देखते ही सारे पक्षी चहचहा उठे। बच्चे चिल्लाते हुए भागे। अभिभावक दौड़े। महादेवी की चेतना जैसे लौटी हो। वह एकदम उद्यान से उड़ चली; पर उसे पकड़ने और कुछ कहने का किसीमें साहस नहीं हुआ।...अमात्य पत्नी है। किसकी हिम्मत है कि उसे पकड़े।

वह सीधे अपने शयनकक्ष में आई और आस्तरण ओढ़कर पुनः शय्या पर ढुलक गई।

विवशता और सत्ता के समक्ष मनुष्य कितना असहाय है! बच्चों की हत्या हो गई और अभिभावक कुछ कर न सके। कौन कंस के यहाँ गुहार लेकर जाता और कौन उसके उन्माद की बलि चढ़ता। प्रद्योत से भी कुछ कहना उसके क्रोध का भाजन बनना था। जनता भीतर-ही-भीतर कुड़बुड़ाकर रह गई। असामान्य स्थिति थी। अंगारे ने स्वयं राख की चादर ओढ़ ली; किंतु उसका ताप रेंगता हुआ कंस तक पहुँच ही गया। दुःखी होने को कौन कहे, वह प्रसन्न हो उठा—“आखिर उसने वही किया, जो मैं चाहता था!”

उसने शीघ्र ही प्रद्योत को बुलाया।...सारी बातें मुझे आचार्यजी ने बताई थीं। उन्हींसे पता चला था कि यह आमंत्रण कुसमय था। जाड़े की कटकटाती रात का द्वितीय प्रहर आरंभ हो चुका था। मेघाच्छन्न आकाश निरपराध बच्चों की मृत्यु पर आठ-आठ आँसू रोता और बीच-बीच में तड़प उठता था।

‘अवश्य ही मृत बच्चों के माता-पिता के करुण क्रंदन से कंस द्रवीभूत हो चुका है। तभी उसने मुझे इस समय बुलाया है।’ प्रद्योत सोचता रहा, ‘अब मैं अवश्य दंड का भागी होऊँगा।’

यह नई परिस्थिति, दूसरे पत्नी विक्षिप्त, तीसरे दोनों बच्चों का पिछले कई दिनों से पता न चलना—तीनों ओर से थपेड़े खाती उसकी मानसिकता की तरणी लगभग डूबने की स्थिति में थी। आचार्यजी ने बताया कि उस थरथराती रात में वह दौड़ा हुआ उनके यहाँ आया।

उनसे मिलते ही वह बुझनेवाली दीपशिखा की तरह भभक पड़ा। आचार्यजी ने कहा कि उन्होंने कभी उसे इस तरह रोते नहीं देखा था।

उसने आचार्यजी को रोकर ही सारी कथा सुनाई।

“मुझसे महाराज यों ही अप्रसन्न रहते हैं। अब तो उन्हें मौका ही मिल गया। निश्चय ही प्राणदंड के द्वार मेरे लिए खुल गए हैं।” प्रद्योत बोला।

“नहीं, ऐसी बात नहीं है।” आचार्यजी ने उसे समझाया—“वह तो बच्चों की हत्या स्वयं करना चाहता था। यह तो उसके मन के अनुकूल हुआ।”

“किंतु जनता में भयंकर आक्रोश है।”

“रहा करे आक्रोश।” आचार्यजी बोले, “एक निरंकुश शासक जनता के आक्रोश की परवाह नहीं करता।...और वह भी कंस, जिसकी महत्वाकांक्षा जनाक्रोश के तरंगों पर ही तैरती है।”

फिर भी प्रद्योत की मनःस्थिति सामान्य हो नहीं पा रही थी। सबसे बड़ा दुःख तो उसे यह था कि इस विषम स्थिति के समय पितामह अंधक बाहुक भी मथुरा में नहीं हैं। आखिर रोए तो किसके सामने रोए। आचार्यजी के अतिरिक्त किसीके सामने उसके आँसू ढुलक भी तो नहीं सकते। कुछ भी हो, वह अमात्य है। हताशा उसके पद की मर्यादा के प्रतिकूल है। और आँसू? शायद उसकी पद की गरिमा को डुबो देने के लिए काफी हैं। अब उसके पास आचार्यजी की बात मानने के सिवा दूसरा चारा नहीं था। हो सकता है, बच्चों की हत्या कंस की आकांक्षा के प्रतिकूल न हो। फिर भी प्रद्योत की व्यग्रता शांत न हुई। वह आगा-पीछा करती रही। अंत में आचार्यजी को कहना पड़ा—“आप मेरी बात मानिए, आपको प्राणदंड नहीं वरन् पुरस्कार मिलेगा।”

“पुरस्कार!” प्रद्योत को आश्चर्य हुआ—“यह आप तर्क के आधार पर कह रहे हैं या ज्योतिष के अनुसार भविष्यवाणी कर रहे हैं?”

आचार्यजी ने बताया कि उन्होंने उसी समय ध्यान किया। उनकी दक्षिण नासिका चल रही थी और गणना के अनुसार नक्षत्रों की गति भी अनुकूल लगी। उन्होंने कहा, “तर्क के अनुसार तो है ही, हो सकता है, यह मेरी भविष्यवाणी भी हो।”

प्रद्योत कुछ प्रकृतिस्थ हुआ।

“किंतु तुम जाते ही कंस के चरणों पर गिर पड़ना और कहना—पत्नी ने विक्षिप्तावस्था में जो कुछ किया है, उसे क्षमा करें।”

ज्योतिष की गणना के बावजूद आचार्यजी के मन में तो शंका थी ही; क्योंकि कंस की प्रकृति और व्यवहार झंझा में उड़ रहे पीपल के पत्ते से कम अस्थिर नहीं थे। भगवान् जाने ऊँट किस करवट बैठे।

प्रद्योत सीधे राजभवन पहुँचा। द्वारपाल से अंगरक्षक तक ने बस एक ही बात की—‘आपको महाराज कब से याद कर रहे हैं!’

आचार्यजी के कथनानुसार, कंस के कक्ष में पहुँचते ही प्रद्योत हड़बड़ाकर कंस के चरणों पर गिर पड़ा—“महाराज, आप क्षमा करें, मेरी पत्नी ने विक्षिप्तावस्था में ही यह सब कर डाला।”

“भगवान् करे, उसकी विक्षिप्तता बनी रहे!” कंस की आवाज गंभीर थी। ‘भगवान्’ शब्द का उच्चारण भी उसने बड़े व्यंग्यात्मक ढंग से किया था। बिल्कुल तनावमुक्त कंस को प्रद्योत देखता रह गया। उसके अधरों से मुसकराहट टपकती रही।

“...क्योंकि तुम्हारी पत्नी की विक्षिप्तता ही मेरे काम की है।” कंस कुछ सोचते हुए बोलता रहा—“मुझे असामान्य कार्य के लिए असामान्य व्यक्तित्व चाहिए—तुम्हारे जैसा गधा नहीं।...एक दिन अपनी पत्नी को मेरे पास ले आओ।”

वह ‘नहीं’ नहीं कह सका। यद्यपि वह कहना चाहता था कि वह अस्वस्थ है। वह चुपचाप भूमि से उठकर किनारे खड़ा हो गया और सोचने लगा—‘न दंड, न पुरस्कार—यह तो नितांत तीसरी स्थिति है। इसकी तो उसे पूर्व कल्पना ही नहीं थी।’ उसने सोचा, ‘हो सकता है, महादेवी ही उसके दंड और पुरस्कार की अधिकारिणी हो।’

“क्या सोचने लगे?”

“सोचता हूँ कि मैं कितना अभागा हूँ!”

“अभागे हो नहीं, थे। अब भाग्यवान् हो जाओगे। शीघ्रातिशीघ्र अपनी पत्नी को मेरे समक्ष उपस्थित करो।” कंस फिर मुसकराया। फिर कुछ सोचकर हँसने लगा। बड़ी रहस्यमय थी उसकी हँसी।

प्रद्योत उसे देखता रहा, देखता रहा और ज्यों ही कंस कक्ष से निकलकर अंतःपुर की ओर बढ़ा, प्रद्योत चुपचाप वहाँ से चलता बना।

थोड़ी देर बाद राजपथ पर जब उसका रथ घरघराता चला जा रहा था तब जाड़े की रात का सन्नाटा साँय-साँय कर रहा था।

लौटते हुए प्रद्योत ने पुनः राजप्रासाद की ओर देखा। आतंक कुंडली मारे बैठा था।

उसका रथ बढ़ता चला जा रहा था। शायद उसकी तेज गति से उसका मस्तिष्क दौड़ रहा था। वह पता नहीं क्या-क्या सोचता चला जा रहा था कि एक तीर-सी आवाज उसके पीछे से छूटी और उसे चीरती चली गई—“अरे, ओ अमात्य के बच्चे, जरा रुको। मेरे प्रश्न का उत्तर देते जाओ।”

बाल बिखरे अस्त-व्यस्त एक युवक दौड़ता चला आ रहा था।

आवाज से कहीं अधिक उसकी अभद्रता ने प्रद्योत को खींचा। उसने रथ रुकवाया। पीछे दौड़ते आ रहे युवक ने पूछा, “आखिर मेरे पुत्र की हत्या करके तुम्हारी पत्नी को क्या मिला?”

प्रद्योत कुछ बोल न सका। उसने सारथि को और तेज चलने का संकेत किया।



अब महादेवी बहुधा सोती रहती या पागलपन के दौरों में बड़बड़ाती। सामान्य होते ही उसका जीवन दूभर हो जाता। उसे लगता, पूरा समाज मुझे धिक्कार रहा है। मथुरा मुझपर थूक रही है। खुले आकाश में उड़नेवाले पक्षियों के पंखों से उसपर घृणा ही झर रही है। यह मैंने क्या कर डाला, वह सोचते-सोचते फफककर रोने लगती। अपराध की आँधी के बाद की बरसात बड़ी भीषण होती है!

वस्तुतः महादेवी को हर दृष्टि घूरने लगी थी। उसे जाननेवाली कोई नारी अब उसके निकट नहीं फटकती थी। बच्चे तो उसकी छाया से डरते थे। माताएँ उसे 'न पुत्रा' कहकर गालियाँ देती थीं।

न पुत्रा! पुत्र ना! पूतना!

अब उसका नाम ही 'पूतना' पड़ गया था। मार्गों पर, वीथियों में वह जिधर से निकलती, औरतें बड़बड़ाने लगतीं—'हटो, हटो, पूतना आ रही है। बच्चों को चबा जानेवाली पूतना!'

अब लोगों की दृष्टि में वह अमात्य पत्नी नहीं थी। राजकीय वैभव का आस्तरण फाड़कर एक चलती-फिरती राक्षसी विभीषिका लोगों के दृष्टि-पथ में थी। उसको गुजरते देखकर लोग अपने बच्चों को छिपा देते। उसको गुजरते देखकर लोग अपने बच्चों को हटा देते। माताएँ चीख पड़तीं—'पूतना राक्षसी है! अपने बच्चों को बचाओ।' आतंक की एक विद्युत् पूरे वातावरण पर कौंध जाती। स्त्रियाँ रास्ता छोड़ देतीं। बच्चे नन्हे पक्षियों की तरह घोंसलों में चिपक जाते।

अस्थायी दौरा स्थायी हो गया। जैसे मेरे ऊपर ईश्वरत्व लाद दिया गया वैसे ही उस पवित्र महादेवी के अंचल से एक विक्षिप्त हिंसा बाँध दी गई। अब वह लगातार पागलों-सा व्यवहार करने लगी। अरे वाह रे नियति! तुझे इतना निष्ठुर और क्रूर होना था। बच्चे भी निरपराध! महिला भी निरपराध! फिर भी एक निरपराध महिला की अनजान मुट्ठी ने कितने अबोध शिशुओं के प्राण मसल दिए।

सारी मथुरा इन नृशंस हत्याओं से थर्रा उठी। अब प्रजा जाए भी तो जाए कहाँ! जिस देश का राजा स्वयं बाल-हत्या का समारोह रचता हो, उसके समक्ष इन हत्याकांडों की शिकायत का महत्त्व क्या! लोगों ने सोचा। एक क्रुद्ध उदासी छाने लगी।...किंतु निराशा की अग्नि जब विक्षुब्ध होती है तब उसका धूम अधिक विषैला हो जाता है। नगर उस धुएँ से घुटने लगा और भीड़ का आक्रोश राजभवन के सिंहद्वार पर पहुँचा।

भीड़ का पहला ज्वार राजभवन के प्रतिहारियों ने रोका।

“हम महाराज से मिलना चाहते हैं।” हवा में मुक्के मारती भीड़ से एक तीखी आवाज उभरी।

“तब आप शांत होकर खड़े रहिए। हम महाराज के पास सूचना भेजते हैं।” प्रतिहारियों ने कहा। फलतः कुछ समय के लिए तूफान को थमना पड़ा। एक प्रतिहारी भीतर गया। शीघ्र ही महामात्य बाहर आता दिखाई दिया।

“कहिए, आपको क्या कहना है?”

“हमारे बच्चों के प्राण असुरक्षित हैं और आप पूछते हैं कि हमें क्या कहना है!” भीड़ का उबाल छलका।

आचार्यजी ने मुझे बताया कि महामात्य कभी भी इतनी परेशानी में नहीं पड़े थे। वे पसीने-पसीने दिखाई दिए। उन्होंने उसी रात आचार्यजी से कहा था—‘मुझे लग रहा था कि मैं एक जनक्रोश का सामना कर रहा हूँ। एक जनक्रांति मेरे सामने उमड़ रही है। मैं कुछ कर नहीं पा रहा हूँ। मेरे हाथ में एक तलवार भी नहीं है।’

सचमुच उस समय वे काँप रहे थे। क्या करें? वे कुछ समझ नहीं पा रहे थे। बिखरते-बिखरते उन्होंने स्वयं को समेटा—“आप शांत हों! आपके बच्चों की सुरक्षा के लिए मैं महाराज से निवेदन करता हूँ।”

आचार्यजी के कथनानुसार, प्रलंब जब लौटा तो वह और अधिक बुझा हुआ जान पड़ा। जनता जानने को इच्छुक थी कि हमारे शासक ने क्या कहा?...और प्रलंब लौटकर एक निरुपाय जिह्वाहीन दास की भाँति सिर नीचा किए

प्रासाद के ऊपरी वातायन पर दिखाई दिया।

“क्या कहा महाराज ने?” नीचे से कई स्वर एक साथ छूटे।

महामात्य अब भी चुप था। ओठ तो हिल रहे थे, पर आवाज नहीं निकल रही थी।

“आखिर कुछ कहा महाराज ने या नहीं?” एक अत्यंत क्रुद्ध आवाज पत्थर की तरह फेंककर मारी गई।

इस बार महामात्य अपना सारा जोर लगाकर बोला, “आप यदि अपने बच्चों की रक्षा नहीं करेंगे तो हम क्या कर सकते हैं?”

“क्या यही कहा है महाराज ने?” भीड़ में एक ज्वार-सा उठा।

“यही नहीं, कुछ और भी कहा है।”

“क्या कहा है?” भीड़ की आवाज कुछ और तेज होती गई—“हम जानना चाहते हैं, महाराज ने क्या कहा है?”

“यदि आप लोग सुनना ही चाहते हैं तो सुनिए।” जैसे छिपाई हुई कोई गठरी वह भीड़ पर खोलकर बिखेर रहा हो—“महाराज ने कहा है कि यदि आपके बच्चे मर रहे हों तो और पैदा कीजिए।”

किसी शासक को पागल करार करनेवाला यह कितना निम्न स्तरीय वक्तव्य था। जनता उबल पड़ी—“राजा पागल हो गया है। उसमें हमारी रक्षा करने की शक्ति नहीं।” फिर भी जनता का हिलोरें लेता क्रोध क्रांति की बड़वाग्नि उगल नहीं सका; क्योंकि उसके मन पर कंस की हिंसा का आतंक था। मागधी सैनिकों द्वारा वह सामूहिक नरसंहार अभी कल की ही बात थी।

आचार्यजी ने बताया कि उसी रात नगर के कुछ संभ्रांत लोग उनके यहाँ पहुँचे। उन्होंने आचार्यजी से कहा, “आपने उसका उत्तर सुना? हमारा राजा पागल हो चुका है। महामात्य विवश हैं। अमात्य-पत्नी बच्चों के प्राणों की प्यासी हैं। सारे राजकर्मचारी या तो निष्क्रिय हैं या पागल राजा के अनुशासन के समक्ष भीगी बिल्ली बने बैठे हैं। बताइए, अब हम क्या करें?”

उन्हें शांतिपूर्वक सुनने के बाद आचार्यजी ने कहा, “मैं क्या कह सकता हूँ! जो स्थिति आपकी है, लगभग वही स्थिति हमारी है—बल्कि उससे भी गई-गुजरी; क्योंकि मेरा आचार्यत्व राजकीय चाकर है और आप उससे मुक्त हैं।”

आचार्यजी ने अपनी स्थिति एक शब्द में ही इतनी सावधानी से व्यक्त की कि सभी को उनकी विवशता का सहज अनुमान हो गया; फिर भी उन्होंने स्वयं को थोड़ा और स्पष्ट किया—“मैं आचार्य अवश्य हूँ; किंतु उस नख-दंतहीन बूढ़े सिंह की तरह, जिसके पास क्षमता के नाम पर मात्र दहाड़ ही शेष रह गई है। पर अब वह भी निर्मम चट्टानों से टकराकर निरर्थक हो जाती है। लोग मुसकराते रह जाते हैं।”

“जिस राज्य में आचार्य असहाय हो जाए, उस राज्य का भगवान् ही भला करे।”

“...तो मैं भी भगवान् भरोसे ही बैठा हूँ।” आचार्यजी मुसकराए—“नारद की भविष्यवाणी की छतरी लगाए मैं किसी तरह इस विपत्ति की बरसात झेल रहा हूँ।”

“तो क्या नारद की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध होगी?”

“अवश्य! निस्संदेह!!” आचार्यजी का स्वर आस्था से भरा था।

“पर कब?”

“इसे तो भगवान् ही जाने।”

“लगता है, तब तक तो हम बरबाद ही हो जाएँगे।”

“नहीं, ऐसा नहीं होगा। धैर्य रखिए।”

“हमारे बच्चों की सुरक्षा के लिए क्या होगा?”

“कुछ-न-कुछ तो होगा ही। आप घबराएँ नहीं।”

आचार्य के ढाढ़स से वे कुछ आश्वस्त अवश्य हुए। ज्वर थमने लगा। लोग अपने घर लौटे। किंतु आचार्य को उस रात नींद नहीं आई। वे करवट बदलते और अनिद्रा की निष्ठुरता झेलते रहे। उन्हें ऐसा लगता रहा कि अनेक अबोध तथा भोले-भाले बच्चों की चीखें लगातार उन्हें शूल की तरह चुभ रही हैं।

ब्राह्म मुहूर्त के पहले ही आचार्यजी ने शय्या त्याग किया और पूजा-पाठ के पूर्व पैदल ही छंदक के निवास की ओर चल पड़े। उधर छंदक भी आज कुछ पहले ही जग गया था और आचार्यजी के यहाँ आने की तैयारी कर रहा था; क्योंकि जब से उसने सुन रखा था कि नगर के कुछ संभ्रांत लोग आचार्यजी के यहाँ पहुँचे हैं, उसकी जिज्ञासा बढ़ गई थी।

इस असमय में आचार्यजी को द्वार पर खड़ा देखकर छंदक चकित रह गया। “अरे, मैं तो आपके यहाँ ही आ रहा था!”

“...और मैं स्वयं तुम्हारे यहाँ चला आया।”

“लगता है, कोई अदृश्य शक्ति हम दोनों को निकट खींच रही थी।”

“हो सकता है।” आचार्यजी औपचारिक बातों के निर्वाह में अधिक उलझना नहीं चाहते थे। उन्होंने सीधी बात छेड़ी—“सारी परिस्थिति से तो तुम अवगत होगे ही। आज बहुत से लोग मेरे यहाँ आए थे।”

“मुझे मालूम है।” छंदक बोला।

“तब तुम्हें यह भी मालूम होगा कि लोग महाराज से अत्यधिक अप्रसन्न हैं।”

“यह अच्छी तरह मालूम है।” छंदक मुसकराने लगा।

“प्रजा परेशान है, अरक्षित है और तुम हँस रहे हो!” आचार्यजी झुँझलाए—“छंदक, मुझे तुमसे ऐसी आशा नहीं थी। मैं तो रात भर सो नहीं पाया। सारी रात लग रहा था कि मारे गए बच्चे मुझे नोच रहे हैं और कह रहे हैं कि आपके रहते मेरी रक्षा नहीं हो सकी!...क्यों, तुम्हें ऐसा अनुभव नहीं होता?”

“होता है।”

“तब तुम मुसकरा क्यों रहे हो?”

“मुसकरा रहा हूँ कि हमारी बोई गई चिनगारी से अंकुर फूटने लगे हैं।” छंदक की आवाज गंभीर हुई—“यह दुःखद है कि बच्चों की हत्याएँ हुई; किंतु यदि ये हत्याएँ न हुई होतीं तो जनक्रोश समवेत न होता।”

“तो तुम निरीह बालकों की हत्याओं को राजनीति से भुनाना चाहते हो!” आचार्यजी का पारा चढ़ने लगा—“तुम मनुष्य नहीं मालूम पड़ते।”

“राजनीति को मनुष्य से क्या लेना-देना है!” छंदक पुनः मुसकराया—“राजनीति करणीय और अकरणीय पर विचार नहीं करती, आचार्य! वह मात्र अपना लक्ष्य देखती है।”

“तो ऐसे पशु से मुझे बातें नहीं करनी हैं!” आचार्य क्रुद्ध हो लौटने लगे।

छंदक के व्यक्तित्व की नाटकीयता ने तुरंत एक करवट बदली और वह एकदम आचार्यजी के चरणों पर गिर पड़ा—“क्षमा करें, आचार्य! मैंने जो कुछ कहा, वह राजनीतिक छंदक की बात थी, आपके शिष्य छंदक की नहीं। अब आपका शिष्य आपकी हर आज्ञा के शिरोधार्य के लिए प्रस्तुत है, महाराज!” इतना कहते हुए छंदक उन्हें विनम्रतापूर्वक भीतर ले गया और ससम्मान मंचक पर बैठाया। आचार्यजी का पारा भी धीरे-धीरे नीचे आने लगा।

“परिस्थिति और पात्र को देखकर नाटक किया करो।” आचार्यजी के क्रोध का यह अंतिम छींटा था। छंदक

चुपचाप इसे झेल गया। आचार्यजी बोलते गए—“कंस तो पागल हो गया है। कुछ तो महत्वाकांक्षा स्वयं पागल बना देती है और कुछ तुम्हारे जैसे लोग। कंस के मामले में दोनों ने भरपूर अपनी भूमिका निभाई है।” इतना सुनते ही छंदक हँस पड़ा। आचार्यजी बोलते रहे—“वह पागल हुआ ही नहीं है, जनता ने उसे अच्छी तरह पागल समझ भी लिया है। मंत्री और महामात्य निरुपाय हैं। यदि ऐसा न होता तो जन प्रतिनिधि अपनी गुहार लेकर मेरे यहाँ न आते। मैं रात भर सोचता रहा। कोई रास्ता न सूझा तब तुम्हारे पास आया और तुम लगे नाटक करने।”

“अब आप ही बताइए, क्या किया जाए?” छंदक ने विनीतभाव से पूछा।

“सबसे पहला प्रश्न बालकों की सुरक्षा का है। अब तुम्हीं बताओ, उनकी सुरक्षा कैसे की जाए?” आचार्यजी बोले।

“इसका तो नितांत सरल उपाय है।”

“क्या?”

“प्रद्योत से कहा जाए कि वह महादेवी को कक्ष में ही बंद रखे।” छंदक ने कहा।

“यह तो वह भी चाहता है।” आचार्यजी बोले, “पर महाराज ने उसे यथाशीघ्र अपने समक्ष उपस्थित करने का आदेश दिया है।”

“क्या उन्हें मालूम नहीं है कि वह विक्षिप्त हो चुकी है?” छंदक ने पूछा।

“उसे मालूम है, पर वह भी तो पागल है। उसका कहना है कि उसे विक्षिप्त महादेवी की आवश्यकता है।”

“तब उपस्थित करा दीजिए उसे। दो पागलों का आमना-सामना हो जाए!” छंदक हँसने लगा।

“फिर तुम हँसने लगे! जरा गंभीरता से सोचो कि क्या किया जाए?” आचार्यजी पुनः झुँझलाए। उन्होंने पिछली बात दुहराई—“प्रद्योत मुझसे मिला था। वह बड़ा व्याकुल था। उसके दोनों बच्चे तो गायब हो ही गए हैं, अब पत्नी को निश्चित प्राणदंड मिलेगा।”

“यदि अब मिले तो उससे कहिए कि बच्चों की चिंता न करे। वह जहाँ भी होंगे, प्रसन्न होंगे।” इतना कहने के बाद छंदक को लगा जैसे वह कोई बड़ी भूल कर रहा है। उसने स्वयं को सुधारा—“यह प्रद्योत से कहा जा सकता है, पर महादेवी से नहीं।”

“यह बात तो कुछ समझ में नहीं आती!”

“पर परिस्थिति ऐसी ही है।”

“प्रद्योत ने यदि महादेवी को बता दिया तब?”

“तब अच्छा है, किसीसे न कहा जाए।”

“इसका तात्पर्य है कि तुम जानते हो कि वे कहाँ हैं?”

छंदक मुसकराया—“इससे अधिक मैं कुछ नहीं कह सकता।”

आचार्यजी को समझते देर न लगी कि इसके पीछे भी छंदक की कोई बड़ी राजनीति है; किंतु उनकी जिज्ञासा मौन न रह सकी—“अच्छा, तुम इतना ही बता दो कि उन बच्चों की देखभाल कौन कर रहा है?”

“परमात्मा।” इस संक्षिप्त से उत्तर के बाद वह गंभीर हुआ और गिड़गिड़ाते हुए बोला, “भगवान् के लिए आप इससे अधिक न पूछें।”

“खैर, नहीं पूछूँगा; पर दो बच्चों को छिपाकर एक माँ को विक्षिप्त और पिता को व्यग्र करने में तुम्हें क्या मिला?”

“यही मिला कि आज सारी प्रजा इस संदर्भ में कंस पर ही थूक रही है। उसका विश्वास है कि कंस ने ही उन्हें छिपाया है या उनकी हत्या कर दी है।”

“यही तो महादेवी कहती है कि महाराज ने स्वयं मुझसे अपने बच्चों की हत्या करने के लिए कहा था। मैंने नहीं किया, इसीसे उन्होंने मरवाकर मुझे निपूती कर दिया।”

“अब आप ही समझिए कि लाभ हुआ है या नहीं! बच्चों की भी रक्षा हुई और वह विक्षिप्त होकर हनुमान की तरह मथुरा जला रही है।”

“हनुमान ने तो लंका जलाई थी और उनकी पूँछ में रावण ने आग लगावाई थी।”

“महादेवी भी अपनी व्यथा से लोगों को संतप्त कर रही है और उसके हृदय में कंस ने आग लगाई है।” छंदक हँस पड़ा।

“इस पूरे संदर्भ में तुम्हारी भूमिका क्या है?”

“मैं तो विभीषण हूँ। चाहे आप भगवान् के अनन्य भक्त के रूप में देख लें या किसी और रूप में।” छंदक जोर से हँसा। इस बार आचार्य की हँसी ने भी उसकी हँसी का साथ दिया।

□

आचार्यजी ने बताया कि छंदक के यहाँ से लौटते-लौटते पौ फटने लगी थी। आचार्यजी प्रसन्न थे। उन्हें पक्षियों के कलरव में प्रद्योत के बच्चों की किलकारियाँ सुनाई पड़ रही थीं।...पर उसका यह कहना कि महादेवी को कंस के पास भेज देना चाहिए, आचार्यजी की समझ में नहीं आ रहा था। यह ठीक है कि महादेवी को देखते ही कंस को उसकी बीमारी स्वयं समझ में आ जाएगी; किंतु महादेवी कंस के साथ कोई अभद्रता कर बैठे तो?

छंदक के विचार से यदि ऐसा हो जाए तो और अच्छी बात होगी। फिर तो वह महादेवी को या तो सूली देगा या सदा के लिए उसे उपेक्षित कर देगा। दोनों स्थितियाँ छंदक के लिए अनुकूल ही थीं।

छंदक का कहना था कि महिलाएँ यों ही अवध्य होती हैं। फिर महादेवी तो रोगिणी भी है। यदि कंस में जरा भी प्रशासन की अस्मिता शेष रह गई होगी, यदि उसमें जरा भी शास्त्रों में आस्था होगी तो वह विक्षिप्त महादेवी को दंडित नहीं करेगा।

सबसे बड़ी समस्या तो यह थी कि प्रद्योत को समझाए कौन? अंधक बाहुक मथुरा में नहीं है—और वह उसीकी बात मानता है। व्यग्रता में शांति भी उसे अंधक बाहुक से ही मिलती है। अब वह जाए तो कहाँ जाए? किससे मन की बातें कहे? एक दिन तो वह इतना परेशान दिखा कि उसने आचार्यजी से एकांत में कहा, “अब तो मन में आता है कि सारी बातें सच-सच महाराज को बता दूँ और हलका हो जाऊँ।”

“ऐसा कभी भूलकर भी मत करना। तुम हलके नहीं, मथुरा के लिए बहुत भारी पड़ोगे। हममें से कोई नहीं बचेगा। हम सब मौत के घाट उतार दिए जाएँगे।” आचार्यजी ने उसे समझाया—“बस थोड़ा और धैर्य रखो। नारद की भविष्यवाणी की प्रतीक्षा करो।”

“कब तक प्रतीक्षा करूँ? कहीं कोई आशा की किरण तो दिखाई देती।”

“क्यों? तुमने छंदक की आँखों में ज्योति नहीं देखी? इससे अधिक और आशा की किरण तुम्हें कहाँ मिल सकती है?” आचार्यजी ने कहा और सचमुच प्रद्योत की व्यग्रता मंद पड़ने लगी। अब उसकी आँखों के सामने छंदक की ज्योति से भरी बड़ी-बड़ी आँखें थीं, जिसमें उसे एक सुनहला सपना उगता दिखाई दिया।

दिन सरकते गए। इतिहास रेंगता गया।

एक दिन प्रद्योत को कंस के समक्ष महादेवी को उपस्थित करने के लिए विवश होना पड़ा। बहुत दिनों तक बीमारी का बहाना काम नहीं आया। वस्तुतः यह बहाना नहीं था, यथार्थ था; पर कंस इसे बहाना ही समझता था। अपने ऊपर से जिसका विश्वास खो जाए वह दूसरे का क्या विश्वास करेगा!

कई दिनों से हो रही वर्षा की कमर टूट चुकी थी। नभ में बादलों के चिथड़े अब भी उड़ रहे थे। प्रभात के प्रथम प्रहर की तेज हवा को चीरता महादेवी का रथ राजपथ पर भागा चला जा रहा था। उसके अस्त-व्यस्त व्यक्तित्व पर बिखरे बाल अंतराग्नि के धूमकेतु की तरह लहरा रहे थे। वह विस्फारित नेत्रों से चारों ओर ऐसा देख रही थी कि मानो इन स्थानों को उसने इसके पूर्व कभी देखा ही न हो।

रथ पर प्रद्योत नहीं था, दो बलिष्ठ परिचारिकाएँ थीं, जो बीच-बीच में महादेवी को नियंत्रित करती जाती थीं। कई बार तो ऐसा लगा कि वह रथ से कूद पड़ेगी; पर परिचारिकाओं की मजबूत पकड़ ने ऐसा होने नहीं दिया।

राजभवन में आते ही प्रद्योत उसके साथ हो लिया। आगे-आगे प्रद्योत और उसके पीछे महादेवी को पकड़े हुए वे दोनों परिचारिकाएँ चल रही थीं। जो भी उन्हें देखता, ठगा-सा रह जाता। क्या हो गई दशा इस महिला की। कुछ की दृष्टि में तो स्पष्ट दिखाई दिया कि कोई प्रेत आत्मा उसपर छाई है। किसीने कहा, ‘अबोध शिशुओं की हत्या सिर पर सवार है।’

बताते हैं कि महाराज के समक्ष उपस्थित होते ही वह बोल पड़ी—“बताओ, कहाँ हैं मेरे बच्चे?” बिना किसी भूमिका के, बिना किसी अभिवादन के उसका यह कहना और पागलों की तरह अपने बच्चे के लिए चीखने से कंस अवाक् रह गया। वह क्षण भर उसे देखता ही रहा। वह पुनः चीखी—“कहाँ हैं मेरे बच्चे? बताओ, कहाँ हैं मेरे बच्चे?” इतना कहते हुए अचानक प्रद्योत का हाथ छुड़ाकर वह कंस की ओर झपटी। पता नहीं कहाँ से उसमें कराला काली का आवेग हो गया था। ऐसा लगा कि वह पटककर कंस का गला ही दबा देगी। प्रद्योत ने उसे पकड़ा।

“मेरे बच्चे कहाँ हैं? मुझे वापस करो। मेरे बच्चे कहाँ हैं? मुझे वापस करो।” वह बार-बार अपने कथन को दुहराती रही और परिचारिकाओं से स्वयं को छुड़ाने का प्रयत्न करती रही।

“नाटक मत करो। चुपचाप खड़ी रहो।” कंस तड़पा।

“यह मेरा नाटक है! मुझसे तुमने मेरे पुत्र छीन लिये और यह मेरा नाटक है! काश, तुम भी माँ होते तो मेरी छटपटाहट समझ पाते!”

“मैं खूब समझता हूँ। मैं देखता हूँ, तुम्हारी जैसी माँ को, जो स्वयं अपने बच्चों को चबा गई।”

“मैं अपना बच्चा चबा गई! यह क्या कहते हो तुम?” महादेवी के नेत्र और विस्फारित हुए। वह चकित-सी चारों ओर देखने लगी—“जिन बच्चों की मैंने हत्या की है, वह मेरे ही थे? सचमुच वे मेरे थे?” उसने अपने काँपते हुए हाथों को देखा—“सचमुच ये हाथ मेरे ही बच्चों के रक्त से सने हैं! सचमुच मैं निपूती हूँ। लोग मुझे पूतना कहते हैं। ठीक कहते हैं। मैं पूतना हूँ। हाँ-हाँ, मैं पूतना हूँ। तुम भी मुझे पूतना कहो। मैं तुम्हें भी चबा जाऊँगी। नीच!” इतना कहते-कहते वह बड़ी जोर से कंस की ओर झपटी। कंस ने अपनी असि खींच ली। वह कुछ और करे, इसके पहले ही कंस के अंगरक्षकों ने महादेवी को दबोच लिया।

“इसे कारा में डाल दो।” यह कंस का नहीं वरन् कंस की क्रोधाग्नि का आदेश था। किसका साहस था कि इधर-उधर करता। लोग प्रद्योत के प्रति सहानुभूति रखते हुए भी कुछ नहीं कर पाए। महादेवी कारा की अँधेरी कोठरी में डाल दी गई।

जाते-जाते भी वह बड़बड़ाई—“मैं निपूती हूँ—पूतना हूँ। तुम्हारी कारा को भी निपूता बनाकर ही छोड़ूँगी।” महादेवी के चले जाने के बाद भी उसकी परिचारिकाएँ और प्रद्योत सिर नीचा किए खड़े रहे। प्रद्योत तो हवि के लिए व्याकुल उस अग्निशिखा की भाँति काँप रहा था, जो बुझने के करीब हो; किंतु वे परिचारिकाएँ किंकर्तव्यविमूढ़-सी मौन थीं।

“क्यों खड़े हो? चले जाओ मेरी आखों के सामने से! मुझे स्वप्न में भी विश्वास नहीं था कि तुम्हारी पत्नी मेरे साथ ऐसी अभद्रता कर सकती है।”

वे सब अब भी चुप थे।

“क्या चाहते हो, तुम सबको भी कारा में डाल दूँ?” कंस झुँझलाया।

“नहीं, महाराज, यदि कारा में चला जाऊँगा तो आपकी सेवा से वंचित हो जाऊँगा।” प्रद्योत सविनय गिड़गिड़ाया —“पर यह अवश्य चाहता हूँ, महाराज, कि इन दोनों परिचारिकाओं को भी महादेवी के साथ कारा में डाल दिया जाए; अन्यथा वह मर जाएगी।”

“तो क्या तुम उसे जीता हुआ समझते हो? अरे नासमझ! वह उसी क्षण मारी जा चुकी है, जिस क्षण वह मुझपर झपटी थी। कोई भी आक्रामक कंस तक आते-आते जीवित नहीं बचता है।”

“किंतु उसपर दया करें, महाराज! वह सुचित्त नहीं है।”

“कंस और दया करे! सिंह अहिंसक हो जाए!” कंस हँस पड़ा। पर इस हँसी के साथ ही उसकी मानसिकता भी परिवर्तन की ओर अग्रसर हुई।

प्रद्योत गिड़गिड़ाता रहा। महादेवी के प्राणों की भीख माँगता रहा। इन सबका फल यह हुआ कि उसके मुख से निकल पड़ा—“मैंने जो कुछ कहा है, वह मेरी इच्छा है, मेरी आज्ञा नहीं। आज्ञा देने का कार्य तो मैं अपनी परिषद् पर छोड़ता हूँ; क्योंकि यह किसी सामान्य जन का नहीं, मेरी ही अमात्य पत्नी का मामला है।”

आचार्यजी आज तक नहीं समझ पाए कि संपूर्ण शक्ति को अपने हाथ में ले लेनेवाला कंस इस मामले में मंत्रिपरिषद् पर क्यों निर्भर रह गया। यह विवेक, यह सद्बुद्धि उसे कहाँ से आई! आचार्यजी इसका संबंध सीधे भवितव्यता और महादेवी के जीवन से जोड़ते हैं। उनका कहना है कि महादेवी को जीवित रहना था। शायद इसीलिए न चाहते हुए भी निर्णय का अधिकार कंस के हाथों से छूटकर परिषद् के उत्तरीय में गिर पड़ा।

दूसरे या तीसरे दिन परिषद् बुलाई गई।

अपनी प्रकृति के नितांत विपरीत कंस उस दिन असामान्य भाव से सामान्य था। उसीने परिषदों के समक्ष पूरे संदर्भ की स्थापना की। उसने पहले प्रद्योत से कहा, “आपकी पत्नी के संबंध में निर्णय होना है, इसलिए आपको यहाँ उपस्थित नहीं रहना चाहिए।” आचार्यजी ने बताया कि उस समय मेरा मन बोल पड़ा, ‘यदि वह नहीं रहेगा तो उसकी पत्नी की ओर से सफाई कौन देगा?’ पर वह चुप ही रह गए।

प्रद्योत सभा में से लड़खड़ाते हुए उठा और चलने को हुआ। अब आचार्यजी से रहा नहीं गया। वह बोल उठे —“महाराज, प्रद्योत के हटने की कोई विशेष आवश्यकता तो नहीं है।”

“यह प्रश्न आवश्यकता से नहीं वरन् परंपरा और नियम से संबंधित है।”

“ऐसा कोई नियम तो मुझे याद नहीं है। हाँ, बहुत किया जा सकता है तो यह कि अमात्य को आदेश दे दिया जाए कि परिषद् में मौन ही रहें; जब तक उनसे पूछा न जाए, वे कुछ न कहें।...रह गई परंपरा की बात, इस संबंध में तो महामात्य ही बता सकते हैं।” इतना कहने के बाद आचार्यजी ने प्रलंब की ओर देखा।

प्रलंब अब भी चुप था। जब महाराज ने पूछा तो वह बड़े अन्यमनस्क भाव से बोला, “परंपराएँ तो बनती और बिगड़ती रहती हैं।” अपनी ओर से कुछ न कहने का इसके अतिरिक्त दूसरा और कोई उपाय नहीं था।

आचार्यजी ने मुझसे हँसते हुए कहा था कि उनके मन में एक बार आया कि महाराज से कहें कि परिषद् के समक्ष आरोप आप प्रस्तुत कर रहे हैं। वादी आप हैं। आपकी भी स्थिति प्रतिवादी से भिन्न नहीं है। आपको भी प्रतिवादी की तरह बिना पूछे नहीं बोलना चाहिए। किंतु आचार्यजी इतना साहस जुटा नहीं पाए; क्योंकि उन्हें भय था

कि सामान्य दिखनेवाला कंस कब असामान्य हो जाए और कब उसका कोपभाजन बनना पड़े।

घटना का संपूर्ण ब्योरा दे देने के बाद कंस ने कहा, “इतना होने पर भी मैं शांत था। मथुरा में किसकी हिम्मत, जो प्रहार के लिए मेरी ओर बढ़े। आँख उठाकर देखनेवालों की आँखें निकाल लेने की क्षमता अभी कंस में है।”

लोगों ने अनुभव किया, महाराज आवेश में आ गए हैं। आचार्यजी को भय हुआ कि कहीं कंस की असामान्य स्थिति हुई तो महादेवी को नहीं बचाया जा सकता।

कंस बोलता गया—“फिर भी यह अमात्य पत्नी का मामला है, मैंने इसे परिषद् को सौंपना ही उचित समझा।” अब तक हाँ में हाँ मिला रहे आचार्यजी ने महाराज के अहं को थपथपाया—“बहुत ठीक किया, महाराज, आपने— जो अपने क्रोध पर नियंत्रण रखा। वस्तुतः यह नियंत्रण ही आपकी शक्ति है, आपका सामर्थ्य है।”

“पर मैंने आपको शक्ति और सामर्थ्य दिखाने के लिए नहीं बुलाया है। मैंने बुलाया है इस बात का निर्णय करने के लिए।”

आचार्यजी ने कहा कि उनकी चाटुकारिता इस तरह ठुकरा दी जाएगी, इसकी उन्हें कल्पना तक नहीं थी। वे बढ़े लज्जित हुए।

“बोलिए महामात्य, क्या करना चाहिए?” कंस ने इस बार सीधे प्रलंब से पूछा।

“जैसा आप उचित समझें। अमात्य पत्नी का अपराध तो सिद्ध ही है।”

सुनते ही प्रद्योत काँप उठा। साहस के जिस नाव पर वह अब तक बैठा था, वह अचानक चरमराने लगी। आचार्यजी ने भी अनुभव किया कि डोर हाथ से छूटना ही चाहती है। वह बोल पड़े—“महाराज, यदि अनुमति हो तो कुछ निवेदन करूँ!”

“अवश्य कहिए।”

“महाराज, बहुत पहले की बात है। शायद आपको भी मालूम हो। परंपरा के अनुसार शुक्रवार की संध्या को महाराज उग्रसेन की सवारी निकलती थी। उस समय भी सवारी निकल रही थी। प्रतिहारी एवं अग्र उद्घोषक राजपथ पर दौड़ते हुए लोगों को हटा-बढ़ा रहे थे कि एक आदमी अचानक पथ के मध्य में चला आया। वह हटाने पर भी नहीं हटा और लगा पागलों-सा बड़बड़ाने—‘कौन है राजा, जो मेरे सामने आ रहा है? मुझसे बढ़कर भी कोई सम्राट् हो सकता है! अरे, मैं राजाओं का राजा सम्राट् हूँ।’ ”

लोग सुनते रहे। कंस जैसे याद करने लगा हो। प्रलंब मुसकराए। स्पष्टतः घटना उनकी स्मृति में आ गई थी। आचार्यजी ने बोलना जारी रखा—“अंततोगत्वा सैनिकों ने बलात् उसपर नियंत्रण किया। वह मार्ग से हटाया गया और कारागार में डाल दिया गया।

“दूसरे ही दिन वह महाराज के समक्ष उपस्थित किया गया। चरणों पर गिरते हुए उसने कहा, ‘महाराज, मैं निर्दोष हूँ।’

“‘क्यों, कल तो तुम सम्राट् थे!’

“‘मैं नहीं, मेरा नशा सम्राट् था।’ वह गिड़गिड़ाते हुए बोला, ‘कल मैंने अधिक मदिरा पी ली थी। नशा चढ़ गया था। इस समय वह उतर गया है। दोष मेरा नहीं, दोष उस सम्राट् का है, जो कल चढ़ गया था।’ वह बार-बार माफी माँग रहा था। महाराज हँस रहे थे—‘इसका तात्पर्य है कि तुम्हें क्षमा कर दिया जाए।’

“‘हाँ, महाराज।’ वह पुनः चरणों पर गिर पड़ा।

“‘और यदि वह सम्राट् फिर से सिर पर चढ़ा तो?’

“‘अब मदिरा नहीं पीऊँगा।’ उसने संकल्प लिया। महाराज ने उसे छोड़ दिया और हम लोगों से मुसकराते हुए

उन्होंने कहा, 'इसमें इस बेचारे का क्या दोष! दोष तो उस नशे का था, जो इस समय गायब है। अब दंड भी दूँ तो किसे दूँ! और अब यह कहता है कि नहीं पीऊँगा।' "

कंस को अपने पिता के संबंध में कुछ भी सुनना सहन नहीं था। पता नहीं वह कैसे इतना सुनता चला गया। अंत होते-होते वह ऊबकर बोला, "आखिर आप कहना क्या चाहते हैं?"

"महाराज, मेरे कहने का बस इतना ही तात्पर्य है कि इसमें महादेवी का दोष नहीं है। दोष है उसकी विक्षिप्तता का।"

"...और विक्षिप्त व्यक्ति को कोई दंड भी नहीं दिया जा सकता, जब तक वह सामान्य न हो जाए।" महामात्य बीच में ही बोल पड़ा।

कंस को प्रलंब का बीच में बोलना अच्छा नहीं लगा। उसने झुंझलाते हुए कहा, "तब तक तो आप चुप रहिए जब तक आचार्यजी बोल रहे हैं।"

"...इस दृष्टि से महादेवी निरपराध है। यदि हम उसे निरपराधिनी घोषित कर सकें तो भी उसे कारागार में डालकर उसपर निर्णय स्थगित कर सकते हैं। उसकी चिकित्सा करा सकते हैं। उसके खोए हुए बच्चों का पता लगा सकते हैं। और उसके सामान्य हो जाने पर उसके अपराध पर विचार कर सकते हैं।"

कंस को आचार्यजी की बात गले उतर गई। उसने महादेवी के सामान्य होने तक निर्णय स्थगित रखना स्वीकार कर लिया। बच्चों के खोजने और महादेवी की चिकित्सा की भी व्यवस्था की; किंतु अंत में इतना अवश्य कहा, "आप लोग कहते हैं, इसलिए मैं महादेवी के उपचार की व्यवस्था कर रहा हूँ; यद्यपि मेरे काम की तो असामान्य महादेवी है।"

उस समय कंस के कथन का रहस्य कोई समझ नहीं पाया।

आचार्यजी ने बताया कि जिस समय कंस सभाकक्ष से उठकर अंतःपुर में गया, उसी समय प्रद्योत उनके चरणों पर गिर पड़ा—"आचार्यजी, आपने मेरी पत्नी के प्राणों की रक्षा की। मैं आपका बहुत आभारी हूँ।"

"महामात्य के भी आभारी होइए।" आचार्यजी को लगा कि कहीं महामात्य अन्यथा न लें। तब प्रद्योत उनके चरणों की ओर भी झुका।

वह बोल पड़े—"अरे भाई, मेरा क्या, मैं तो डूबता हुआ सूर्य हूँ।"

"आखिर हैं तो सूर्य ही!" आचार्यजी ने उनके बोझिल मन को थोड़ा हलका किया।

कक्ष के बाहर आते हुए आचार्यजी ने प्रद्योत के कंधे पर हाथ रखते हुए कहा, "यह सब प्रभु की कृपा है। यदि प्रभु की कृपा न होती तो महाराज मेरी बात न मानते।"

प्रद्योत रथ से आचार्यजी को आवास तक छोड़ने आया। मार्ग में उन्होंने पुनः दुहराया—"भगवान् जो कुछ करता है, अच्छा ही करता है। उसपर विश्वास करो।"

"कैसे विश्वास करूँ? मेरे दो-दो बच्चे गायब हो गए और मैं विश्वास करूँ कि भगवान् जो भी करता है, अच्छा करता है!"

"हो सकता है, बच्चों के गायब होने के पीछे भी कोई अच्छाई हो।" रथ से उतरते हुए बड़े रहस्यमय ढंग से आचार्य ने मुसकराते हुए कहा।

प्रद्योत उस मुसकराहट में डूबता चला गया।

□

इसके बाद महादेवी की चिकित्सा और बच्चों की सुरक्षा पर गंभीर रूप से ध्यान दिया गया। समय का चक्र

घूमता चला गया।

दीवार के भी कान होते हैं। अब ऐसे कान मथुरा में हवा में भी उड़ने लगे थे। इसीसे महादेवी को विश्वास हो चला था कि मेरे दोनों पुत्र जीवित हैं। इससे उसकी व्यग्रता स्वयं शमित होने लगी थी। ओषधि का कुछ ऐसा प्रभाव था कि वह अधिकांश समय सोती रहती थी। जब जागती तब वह अपनी दासियों और परिचारिकाओं के साथ बिताती। प्रातः-सायं अब वह अपने निजी उद्यान में ही देखी जाती। अपने आवास के बाहर निकलने की न तो उसे इच्छा होती थी और न आवश्यकता। क्रोध या उन्माद की आँधी के बाद पश्चात्ताप की बरसात बड़ी कारुणिक होती है। महादेवी ज्यों-ज्यों सामान्य होती गई, उस बरसात में भीगती गई।

बाल-हत्याओं का दौर समाप्त हुआ। मथुरा का क्रोध भी ठंडा पड़ने लगा था। लोग समझने लगे थे कि कुछ-न-कुछ तो हुआ ही। एक पागल राजा से इससे अधिक और क्या आशा की जा सकती है! पर बच्चे जो मारे गए, उनके माता-पिता का क्या होगा? उनको तो जीवन भर तड़पना ही शेष है।...और मागधी सैनिकों ने जिस निर्दोष प्रजा की हत्या की, उनके घरवालों की दशा इससे कुछ भिन्न नहीं।...ऊपर-ऊपर शांत जान पड़ी मथुरा भीतर-भीतर अब भी सुलग रही थी।

वर्षा की रात थी। भाद्रपद का महीना। संध्या से ही मेघ झकझोर-झकझोरकर बरस रहा था। एकदम काली पड़ी रात लोगों को मेरे जन्म की रात का स्मरण दिला रही थी। लोगों को विश्वास भी नहीं था कि इस रात में कोई अभाग कहीं से आ धमकेगा।

पिताजी माताजी के पास इधर-उधर की चर्चा करते हुए सुचित्त बैठे थे। ऐसी शांत और अलसाई मानसिकता में सूचना मिली कि छंदक आया है।

‘कोई बात जरूर है।’ पिताजी ने सोचा और एकदम उससे मिलने चल पड़े।

बाह्य अतिथिकक्ष में प्रवेश करते ही पिताजी बोल पड़े—“बड़े दुर्दिन (वर्षा) में चले, छंदक!”

“दुर्दिन में नहीं, महाराज, दुरात्रि में कहिए।” इतना कहने के बाद छंदक अपने कपड़े निचोड़ने के लिए कक्ष से बाहर निकला।

छंदक को देखकर नंद के लिए चकित हो जाना स्वाभाविक था; क्योंकि इस बरसात में वह पैदल ही आया था और वह भी बिना छतरी के। वस्त्र के नाम पर वे ही कपड़े उसके पास थे, जो उसके तन पर थे। बिना कुछ कहे-सुने पिताजी ने पहले कपड़े मँगाए और छंदक के वस्त्र बदलवाए। फिर एक चषक में उष्ण दूध मँगाकर उसे देते हुए बोले, “मौसम तो कुछ और पान का है, किंतु आप दुग्धपान करने की ही कृपा कीजिए।”

पिताजी हँसे, पर छंदक के चेहरे पर मुसकान की एक रेखा भी नहीं उभरी। पिताजी ने समझ लिया कि मामला गंभीर है।

“तुम दुरात्रि की बात कर रहे थे।” पिताजी ने छंदक को खोलने की चेष्टा की।

“हाँ, महाराज, इस समय गोकुल में दुरात्रि ही है। कैसी भयानक रात्रि है! आप देख रहे हैं कि आकाश से जलवृष्टि हो रही है; किंतु मैं देख रहा हूँ कि आकाश कंस की खोलती हुई कुदृष्टि उगल रहा है।” इतना कहने के बाद वह गंभीर रूप से मौन हो गया।

इसी बीच एक तेज हवा का झोंका आया और दीवार पर लटक रहे मणि-फानूस के भीतर जलते दीप को बुझाता चला गया।

“देखा आपने, वायु का झोंका हमारे-आपके बीच के प्रकाश को बटोरता चला गया और हम कुछ न कर सके।”

पिताजी ने अनुभव किया—छंदक प्रतीकों के माध्यम से बोल रहा है। वह जब भी आशंकित होता है या किसी

गंभीर योजना पर सोचता है, तब उसके वार्तालाप की शैली ऐसी ही हो जाती है।

“तुम्हारे प्रतीकों को मैं समझ नहीं पा रहा हूँ।” पिताजी ने बात सीधे-सीधे चलाई।

“आप प्रतीक की बात करते हैं। मैं काफी घबरा गया हूँ।” छंदक उद्घाटित हुआ—“तृणावर्त की मृत्यु के बाद कंस का लक्ष्य आपके बाल गोपाल पर ही है। साथ ही मेरी आँखें खुलने से भी वह अत्यधिक परेशान हो गया है।”

“इसका आभास मुझे है।”

“तब आप क्या कर रहे हैं?”

“क्या करूँ? भगवान् को भगवान् पर छोड़ दिया है।” पिताजी हँसने लगे।

पर छंदक झुँझलाया—“आप हँसते हैं। हम सब परेशानी में पड़े हैं।...अब वह कृष्ण की हत्या के लिए शकट को भेजने वाला है।”

“शकट!” पिताजी कुछ सोचने लगे।

“सोचते क्या हैं? इस समय वह मथुरा का सर्वश्रेष्ठ धावक है।” क्षण भर के बाद वह रुककर पुनः बोला, “अरे, वह राक्षस है, राक्षस! पचास से अधिक रोटियाँ एक समय में खा जाता है—और जानते हैं, हमारे बच्चों को भले ही नवनीत न मिले, पर उसकी मालिश के लिए दस-बीस कर्ष नवनीत की सदा व्यवस्था की जाती है।”

“शकट तो उसका दिया हुआ नाम है, असली नाम क्या है?” पिताजी ने पूछा।

“यह तो मैं नहीं जानता, पर लोग इसी नाम से उसे पुकारते हैं।”

“पुकारते भले ही हों, पर कहीं गाड़ी (शकट) किसीका नाम हो सकता है!” पिताजी ने कहा, “उसका असली नाम कुछ और होगा।”

“पर नाम से हमें क्या लेना-देना है! आप यही समझिए कि इस असुर से कृष्ण की रक्षा करनी है। यदि उसने उस बालक को उठा लिया तब वह किसीकी भी पकड़ से बाहर होगा।”

इसी क्रम में छंदक ने बताया—“रथ की गति से भी उसकी गति तेज है। सुनते हैं, एक बार कंस को अपने मित्र बाण से मिलना था और मध्याह्न के पूर्व ही लौट आना था। दिन का प्रथम प्रहर आरंभ हो गया था। किसी सारथि की हिम्मत इस दुष्कर कार्य के लिए नहीं हुई। तब शकट कंस के पास आया और बड़े अहं भरे शब्दों में बोला, ‘मेरे रहते महाराज की इच्छा पूरी न हो, यह हो नहीं सकता।’

“‘तो तुम क्या करोगे?’ कंस ने पूछा।

“‘आप मेरी पीठ पर बैठ जाइए। मैं आपको घड़ी भर में आपके मित्र के पास पहुँचाऊँगा।’

“‘तब तो तुम बच्चों की कहानी के उड़नखटोला हो!’ कंस हँसने लगा।

“‘आप खटोला कहें या शकट—मैं तो आपको पहुँचाऊँगा ही।’ उसने कंस को अपनी पीठ पर बैठाया और उड़ चला।

“कहते हैं, मथुरा के लोग इस मानव यान को देखते रह गए। दोनों हाथ और दोनों पैरों का उपयोग करता वह धावक किसी भी रथ को मात देने के लिए काफी था।”

“तब तो वह निश्चित रूप से शकट ही है।” पिताजी बोले।

“‘हो सकता है!’ छंदक बोला, “किंतु उससे कृष्ण को बचाना आवश्यक है।”

“आप इतने व्यग्र क्यों हो रहे हैं? प्रभु सबकुछ ठीक कर देगा।”

पिताजी की आस्तिकता और मुझमें अतीव निष्ठा उन्हें व्याकुल होने नहीं देती थी। साथ ही जब किसीको वह व्याकुल देखते थे तो ऊपर से चाहे कुछ कहें, पर भीतर-ही-भीतर उसपर हँसते थे। सोचते थे कि कैसे हैं ये मनुष्य,

जो भगवान् की सुरक्षा के लिए चिंतित होते हैं।

छंदक के प्रति भी उनकी ऐसी ही धारणा थी। फिर भी उसका मेरे प्रति जो लगाव या मेरी सुरक्षा के प्रति उसके मन में जो ललक थी, पिताजी उसकी उपेक्षा न कर सके। वह बोले, “आप विश्वास रखें, यथासंभव उसकी सुरक्षा की जाएगी।”

“मैं भी प्रभु पर विश्वास करता हूँ। किंतु अपने कर्तव्यों के निर्वाह के बाद।” निश्चित रूप से पिताजी की बात छंदक को लग गई थी—“हाथ पर हाथ रखकर केवल ईश्वर के भरोसे बैठे रहना एक ऐसी कायरता है, जिससे ईश्वर भी घृणा करता है। इसलिए आप उठिए और मेरी इस सूचना से लाभ उठाइए।”

पिताजी ने इस सूचना के लिए छंदक का हार्दिक धन्यवाद किया था और उसके अहं की पीठ ठोकते हुए कहा था—“छंदक, यदि कंस का वध करने में कृष्ण सफल हुआ तो भले ही लोग इसे नारद की भविष्यवाणी का चमत्कार समझें, पर मेरे जैसे लोग इसे तुम्हारे ‘करतब’ का ही फल मानेंगे।...इतिहास तुमपर गर्व करेगा।”

“इतिहास मुझपर गर्व करे या न करे, पर मैं स्वयं अपने पर गर्व करता हूँ; क्योंकि कर्म पर विश्वास करनेवाला हर आदमी अपने पर गर्व करता है।”

पिताजी ने बताया था कि इसी समय अचानक बिजली चमकी थी और उसकी चमक छंदक की आँखों में समा गई थी।

“शकट के कब तक इधर आने की संभावना है?” संदर्भ बदलते हुए पिताजी ने बातों का रुख मोड़ दिया।

“यह तो मैं नहीं कह सकता।...वह अभी भी आ सकता है। कल भी आ सकता है और महीने भर बाद भी।”

छंदक ने बताया—“आज संध्या को शकट राजभवन में बुलाया गया था और उसे यह काम सौंपा गया है।”

“अद्भुत हो छंदक, तुम भी! संध्या को राजभवन में पका और रात्रि का प्रथम प्रहर बीतते-बीतते उसकी गंध गोकुल में पहुँचा दी!”

“क्या समझते हैं आप!” अपनी प्रशंसा सुनकर छंदक थोड़ा उत्तेजित हुआ—“मेरी सजगता कभी श्लथ नहीं होती। अरे सोते समय भी मेरी आँखें खुली रहती हैं, महाराज!”

“क्योंकि वह बहुत दिनों तक बंद रही हैं।” पिताजी बोले और हँस पड़े; यद्यपि उनकी हँसी बहुत दूर तक नहीं गई। वह कक्ष से निकलते-निकलते बरसात की झड़ी में लथपथ होकर शांत हो गई।

दूसरे दिन प्रातः से पूर्व ही वर्षा थम गई थी, पर बादल छूटे नहीं थे। छंदक बिना किसीसे कुछ कहे चुपचाप चला गया था। उसने चलते समय पिताजी से भेंट करने की भी आवश्यकता नहीं समझी। शायद वह गोकुल की इस संक्षिप्त यात्रा को गोपनीय ही रखना चाहता था।

उसके चले जाने से पिताजी की दृष्टि में उसकी सूचना का महत्त्व और भी बढ़ गया था। लगातार सजगता बरतते-बरतते मनुष्य सजगता जीने लगता है। मेरे पिता भी अब सजगता जीने लगे थे। जब उन्हें कोई सावधान करने आता, वह उसे बड़े हलके-फुलके ढंग से लेते थे; किंतु छंदक के अचानक रात को आने और प्रभात के पहले ही छिपे-छिपे चले जाने से मेरे पिताजी ने छंदक की इस यात्रा को बड़ी गंभीरता से लिया था।

प्रातःकालीन पूजा-पाठ के बाद जलपान के समय माता यशोदा पिताजी से मिलती थी। माँ की गोद में बहुधा मैं होता था। आज भी वह मुझे गोद में लिये पिताजी के कक्ष में पहुँची। उसे देखते ही पिताजी ने कहा, “देखो जी, तुम अपने कन्हैया पर जरा दृष्टि रखो।” और उन्होंने छंदक के आने और चुपचाप चले जाने तक की सारी बातें उसे बता दीं।

“रोज ही कोई-न-कोई विपत्ति सुनाई देती है। आखिर कब तक यह सावधानी बरती जाए?” निश्चित ही माँ जैसे

इस परिस्थिति से ऊब चुकी थी।

“तब तक तो सावधानी बरतनी पड़ेगी ही जब तक कंस का वध नहीं हो जाता।” पिताजी ने ऐसा कहते हुए मेरी ओर बड़ी गंभीरता से देखा था।

इस संदर्भ की चर्चा बड़े होने पर मेरी माँ ने एक दिन की थी और बताया था कि उस समय मैं किलकारी मारकर बड़े विचित्र ढंग से हँस पड़ा था। निश्चित ही यह किलकारी मेरे बालसुलभ व्यापार का एक अंग रही होगी; पर मेरे माता-पिता पर इसका विलक्षण प्रभाव पड़ा। वह इसे अपने कथन की दैवी स्वीकृति समझने लगे।

“देखा तुमने, कन्हैया ने कैसी किलकारी भरी! निश्चित ही नारद की भविष्यवाणी पूरी होगी।” पिताजी ने कहा था और माँ ने पुनः मुझे गोद में उठाकर चूम लिया था।

परिस्थितियाँ मुझपर तह पर तह ईश्वरत्व जमाती चली गईं।

फिर भी पिताजी की सजगता जरा भी शिथिल नहीं हुई वरन् और दृढ़ होती गई। इस बार गोवर्धन पर्वत के झूलन समारोह पर उन्हें माताजी के साथ स्वयं ऊपर जाते हुए रथ को पहाड़ी के नीचे ही रोक देना पड़ा। पहाड़ी पर वे लोग पैदल ही चढ़े। उन्हें देखते ही सारे गोप-गोपियों ने उन्हें घेर लिया। झूले से उतरकर, वृक्षों की डालों पर से कूदकर जो जहाँ थे, वहीं से दौड़कर नंद और यशोदा के पास चले आए। सबके नेत्रों से प्रसन्नता बरस रही थी कि आज महाराज स्वयं उपस्थित हुए हैं। साथ ही एक जिज्ञासा थी कि इतना पैदल चलकर आखिर इस समय आने की आवश्यकता क्या थी?

दोनों ओर से बहुत देर तक चुप्पी संभव नहीं थी। अंत में एक गोप ने पूछ ही दिया—“आज कैसे चले आए, तात?”

“झूला झूलने।” पिताजी की हँसी लगभग सभी के अधरों को झकझोरती निकल गई।

बात फिर थम गई। पिताजी कभी आकाश में पश्चिम से चले आ रहे घुमड़ते मेघों की ओर देखते और अनुभव करते कि वर्षा आ रही है, कभी कदंब के गदराए वृक्षों की ओर देखते और कभी पहाड़ी की ढाल पर एकटक निहारते रह जाते; जैसे कुछ कहने के लिए कोई माध्यम खोज रहे हों।

“इस पहाड़ी ढाल पर आखिर आप क्या खोज रहे हैं?” एक गोप ने पूछा।

“सोच रहा हूँ कि इसपर से यदि रथ उतारा जाए तो उसकी गति क्या होगी!”

“आप भी कैसी बात सोचते हैं!” कई गोप एक साथ हँस पड़े—“अरे, हम लोग इसपर से जब उतरते हैं तब ढाल पर गति इतनी तीव्र हो जाती है कि सँभलते-सँभलते भी कुछ लोग गिर पड़ते हैं। और फिर रथ? वह तो एकदम दुलक जाएगा।”

“और कोई रथ ऐसा हो, जो न दुलके तब?” पिताजी बोले।

“तब तो वह बहुत बढ़िया होगा।” कई गोप और गोपियाँ पिताजी का मुख देखते रह गए। “लेकिन ऐसा होगा नहीं। घोड़े तो इस ढाल पर बिल्कुल चल नहीं सकते।”

“मान लो, वह रथ घोड़ेवाला न हो तब?”

“तब बैलवाला होगा।”

“बैलवाला भी न हो तब?”

“तब वह किसका होगा?” बालकों का कुतूहल जागा।

“मनुष्य का।”

“क्या मनुष्य ही उस रथ को खींचेगा?”

“नहीं। मनुष्य स्वयं रथ बना होगा।” पिताजी की बात पर गोप चकित रह गए। उन्होंने स्वयं स्पष्ट किया—“रथ अर्थात् गाड़ी। मतलब यही समझो कि शकट।”

लोग यही नहीं समझ पा रहे थे कि मनुष्य गाड़ी कैसे हो जाएगा। पिताजी ने उन्हें विस्तार से बताया कि एक आदमी ऐसा है, जो रथ से भी कई गुना तेज दौड़ता है। लोगों को अपनी पीठ पर बैठा लेता है और रथ जैसा उड़ चलता है।

“तब तो उसे पंख जरूर होगा। वह परियों के लोक में रहता होगा।” एक नन्ही सी गोपिका तालियाँ बजाकर फुदकने लगी—“बड़ा मजा आएगा उसकी पीठ पर बैठकर उड़ने में!”

उसके साथ और भी छोटे-छोटे गोप और गोपिकाएँ नाचने लगीं; पर बड़े लोग चुपचाप पिताजी का मुख देखते रह गए।

कितना भोला और आशंकाओं से दूर होता है बचपन। साँप से भी खेलने की इस अवस्था में शकटासुर के भय का रंग हमारे ऊपर कैसे चढ़ता। मैं भी उन गोपियों के साथ नाचने लगा। हमारी कल्पना में तो परियों का लोक था और हम उसकी पीठ पर बैठकर उड़े चले जा रहे थे।

मेरे माता-पिता की भयग्रस्तता हमारे भोलेपन पर निछावर हो गई थी। यशोदा ने मुझे अपनी गोद में उठा लिया। नंदजी हँसते हुए हाथ हिला-हिलाकर मना कर रहे थे—“नहीं भाई, नहीं। वह परी देश का मानव नहीं है। वह इसी देश का है। और जरूरी नहीं कि वह मानव ही हो, वह राक्षस भी हो सकता है; जो तुम्हें अपनी पीठ पर बैठाकर ले जाए और मारकर खा जाए।”

“राक्षस!” सभी बच्चे भयातुर हो उठे—“...तब तो उसके बड़े-बड़े सींग होंगे। बड़े-बड़े दाँत होंगे। हे भगवान्! तब तो बड़ा मुश्किल हो जाएगा।”

मेरे पिताजी जितनी चतुराई से बात कहना चाहते थे, बालसुलभ दृष्टि उतनी ही सहजता से उलझा देती थी। राक्षस की एक परिकल्पना हम बच्चों के मन में नानी की कहानियों से कुछ दूसरी ही बैठी थी; पर पिताजी ने मानवी राक्षसों की चर्चा छोड़ दी। बच्चों की सरलता ने स्वयं उन्हें भटका दिया। अब उन्हें समझाना पड़ा कि वह राक्षस बड़े-बड़े दाँतों और सींगोंवाला नहीं है वरन् मनुष्य जैसा ही है।

“तब तो उसे पहचानना बड़ा मुश्किल है। अब हम लोग किसी आदमी के पास नहीं जाएँगे। कौन जाने, वह राक्षस हो और हमें चबा जाए!” लीजिए, हम बच्चों ने एक दूसरी ही बात पैदा कर दी। जब बच्चे हर आदमी से अपनी दूरी बनाए रखेंगे तब रहेंगे कहाँ।

पिताजी ने फिर उन्हें समझाया—“हर आदमी राक्षस नहीं होता, बच्चो! उनमें से कोई-कोई ही होता है।”

“तब उसकी पहचान क्या है?”

अब पिताजी क्या उत्तर देते। उत्तर तो उनके पास था कि मनुष्य अपने कर्मों से ही राक्षस और कर्मों से ही देवता बनता है। किंतु इस बात को हम बच्चों को समझाएँ तो समझाएँ कैसे? यह भी नहीं कि हम समझना नहीं चाहते थे और अर्जुनवाली हमारी स्थिति भी नहीं थी कि हम बच्चों की बुद्धि पर मोह का परदा पड़ा हो। हम उन्मुक्त बुद्धि के बड़े सहज प्राणी थे। दिन की प्रथम किरण थी, जिसमें ताप या श्लथता नहीं थी; पर था पक्षियों का कलरव तथा हवा का पागलपन—और थी एक मोहक सहजता, जिसे जड़ता नहीं कहा जा सकता।

पिताजी ने समझाया—“जो तुम्हारा शत्रु हो, तुम्हें दुःख दे, समझो वह राक्षस है।”

“तब तो श्रीदाम राक्षस है। वह हमारा कंदुक उठाकर जमुना में फेंक देता है। हमारा शत्रु है। हम सब उसको मिलकर मारेंगे।”

“नहीं-नहीं, ऐसा मत करना।” पिताजी हँस रहे थे।

“आप भी विचित्र हैं, इन बच्चों के मुँह लग रहे हैं।” मेरी माँ पिताजी से बोली, “अरे, बड़े लोगों को अपनी बात समझाकर चलिए। बच्चे क्या समझेंगे कि शकट कौन है!”

पिताजी मौन मुसकराते रहे।

“अब क्या सोचने लगे?”

“सोचता हूँ कि बालक सहस्रार्जुन ने खेलते-खेलते रावण को कैसे बाँध लिया?” पिताजी के इस कथन पर माता यशोदा हँस पड़ी।

फिर उन्होंने झूलन उत्सव में पधारे कुछ प्रौढ़ लोगों को सारी बातें बताईं। वे सुनते रहे और अंत में बोले, “बड़ी विकट स्थिति है। कंस जैसे कन्हैया के पीछे पड़ गया है। हम लोग कर ही क्या सकते हैं!” एक चिंतन भरा सन्नाटा उनकी आकृतियों के समक्ष लटक गया।

“आप बहुत कुछ कर सकते हैं।” पिताजी ने कहा, “आपकी सामूहिक शक्ति एक नहीं, अनेक असुरों के दाँत खट्टे कर सकती है।”

“क्या आपके परिचारक और रक्षक भी रहेंगे?”

“हमारे परिचारक और रक्षक तो रहेंगे ही, पर बिना आपके सामूहिक सहयोग के कुछ नहीं होगा।” पिताजी ने कहा, “जाग्रत जनता टुकड़े पर पलनेवालों या चाकर सैनिकों से कहीं अधिक शक्तिशाली होती है।”

बातें चल रही थीं कि मेघों ने दुंदुभी बजानी आरंभ कर दी। आकाश टपकने लगा था। पछुवा का झोंका बता रहा था कि शीघ्र ही तेज वर्षा आरंभ हो जाएगी। पिताजी अब लौटने की सोचने लगे; पर झूलों पर पेंग मारते लोग और अधिक सक्रिय हो गए थे। झूले उड़ने लगे थे, फिर भी आकाश उनकी पकड़ के बाहर था।

“भाई, मेरा कहना बस इतना ही है।” पिताजी ने चलते-चलते समझाया—“जहाँ भी ऐसे आदमी को देखो, मारना शुरू कर दो। सब लोग मिलकर मारो और तब तक मारो जब तक वह मर न जाए।...किंतु इतना याद रखना कि उसे किसी अस्त्र से मत मारना।”

“क्यों?”

“मैं चाहता हूँ कि वह ऐसा मारा जाए कि मरने का कारण स्पष्ट न हो। कंस भी न समझ पाए कि आखिर कैसे मरा है। बस लात, घुँसा, हाथ और मल्ल के दाँव। मारते-मारते उसे पटरा कर दो।”

पिताजी ने इसी सिलसिले में उनसे कहा कि अस्त्र से मारने पर तो रक्तपात होगा। उसपर कंस हमसे पूछ सकता है कि हमारा कर्मचारी तुम्हारे यहाँ मारा क्यों गया।

“...तब कहा जा सकता है कि कन्हैया को मारने आया था।”

“यही तो मैं कहना नहीं चाहता और कहना उचित भी नहीं होगा। प्रत्यक्षतया तो हमको मालूम है कि वह कन्हैया की हत्या करने आ रहा है। फिर हम उसे क्यों उद्घाटित करें? इस रहस्य को रहस्य ही बने रहने देना चाहिए।”

“यदि कंस के सैनिक भी आए तो?”

“उनकी चिंता आप मुझपर छोड़ दीजिए।” पिताजी ने कुछ सोचते हुए कहा, “मेरा विश्वास है कि सैनिक नहीं आएँगे। यदि सैनिक आए तो मैं अपने पर आक्रमण समझूँगा। अभी तो उनका सारा आक्रमण कन्हैया पर है, मुझपर नहीं।”

पिताजी ने मुझे बाद में बताया था कि उनके मुख से निकलने ही वाला था—‘वस्तुतः कन्हैया पर भी नहीं वरन् आक्रमण है देवकी के आठवें बेटे पर।’ किंतु कंठ तक आते-आते बात दब गई।

चलते-चलते उन्होंने एक बार फिर सावधान किया—“देखिए, पूरी गोपनीयता बनाए रखिएगा। रहस्य खुला तो खतरा उत्पन्न हो जाएगा।”

“क्या अभी खतरा नहीं है?”

“अभी केवल कन्हैया पर खतरा है। फिर तो खतरा हम सब पर आ जाएगा। शकट के संहारक को छिपा पाना हमारे लिए कठिन होगा। कंस के यहाँ वह बुलाया जाएगा और उसे प्राणदंड मिलेगा।...इसलिए शकट की हत्या का दायित्व किसी एक पर मैं लादना नहीं चाहता, मैं आप सब पर थोड़ा-थोड़ा बिखेरना चाहता हूँ।”

पहाड़ी से ढुलकते हुए हम नीचे उतरे और रथ पर बैठते-बैठते बारिश तेज हो गई थी।



छह

मनुष्य के पास मृत्यु की अनिश्चितता और स्वप्न न होता तो जीवन दूभर हो जाता। मृत्यु की ओर हम हर क्षण बढ़ते जा रहे हैं और हर क्षण मानते हैं कि मृत्यु अभी हमसे दूर है। यही विश्वास हमारी सभी योजनाओं की नींव है। यही विश्वास हमारे उन स्वप्नों का आधार है, जो स्वयं हमारे गंतव्य बन जाते हैं और हम उनकी ओर दौड़ने लगते हैं। यदि ऐसा न होता तो शकट क्यों इस झमेले में पड़ता। यह देखते हुए भी कि तृणावर्त मारा गया। यह देखते हुए भी कि छंदक की पथराई आँखों में ज्योति लौट आई, फिर भी उसने जोखिम उठाई। वस्तुतः चमत्कारों के संसार से दूर शकट यथार्थ में जीता था। उसे अपनी शक्ति का विश्वास था; बल्कि यों कहिए कि आवश्यकता से अधिक था। कंस भी उसे गोकुल भेजकर जीते हुए युद्ध के सपनों में एक बार खो गया था।

यमुना की बाढ़ अपनी सीमाएँ तोड़ चुकी थी। किनारे के कुंज और कछारों को निगलता उसका जल खेतों और वनों में पसर गया था। इस ऋतु की प्रकृति कुछ ऐसी हो गई थी कि हर ब्राह्म मुहूर्त भीगता हुआ लथपथ रहता।...और दिन के प्रथम प्रहर तक वर्षा होती रहती। सवेरे का रिमझिम सन्नाटा ओढ़े मथुरा की सुगबुगाहट कुछ देर से ही जागती।

किंतु अचानक यह सन्नाटा आज काँप उठा।

यमुना की उफनती बाढ़ की चपेटें खाती शकट की लाश खेतों में फैले पानी की ओर चली आई थी और बहकर आए झाड़ में फँसकर रह गई थी। अभी तो वर्षा के कारण सारा जनजीवन अस्त-व्यस्त है, फिर मुँहअँधेरे यह खबर विषाक्त धुएँ की तरह कैसे फैलने लगी? झाड़ में फँसी लाश को सबसे पहले किसने देखा? यह कोई नहीं जानता। अपनी पुरानी और टूटी छतरी में भीगता भोरे-भोरे छंदक आचार्यजी के यहाँ पहुँचा। इस दुर्दिन में पूजा-पाठ के समय उसका आना निरर्थक तो नहीं हो सकता; फिर भी आचार्यजी पूजन से नहीं उठे। उनका कनिष्ठ पुत्र ही छंदक की अगवानी के लिए आया। वह छंदक को बैठाने के लिए द्वार खोलने लगा।

“आचार्यजी सो रहे हैं क्या?” छंदक बोला, “यह सोने का समय नहीं है। उनसे कहो कि आज मथुरा बहुत सवेरे ही उठ गई है।”

आचार्यपुत्र छंदक के बोलने के ढंग पर मुसकराया। उसने बताया कि आचार्यजी पूजन पर बैठ चुके हैं।

“तब उन्हें पूजा करने दो। केवल मेरी बधाई उन तक पहुँचा दो।”

“किस बात की बधाई?”

“यह मैं नहीं बताऊँगा।” वह मुसकराया और अधिक प्रसन्न दिखा; मानो उसने कोई बड़ी उपलब्धि पा ली हो। उसने इतना ही कहा, “मथुरा में आज एक विस्फोटक समाचार फैलने वाला है। मैं उसकी पूर्व बधाई आचार्यजी को देने आया हूँ।”

छंदक वहीं मंचक पर चुपचाप बैठ गया। उसके मौन व्यक्तित्व की हर भंगिमा गद्गद थी।

आचार्यपुत्र ने आचार्यजी से मात्र छंदक का संदेश ही नहीं कहा वरन् मित शब्दों में उसके अमित आह्लाद का भी वर्णन किया।...लौटकर उसने छंदक से कहा, “आप थोड़ी देर प्रतीक्षा करें। पिताजी शेष पूजा समाप्त कर आ रहे हैं।”

छंदक ने बैठकर प्रतीक्षा आरंभ की। उसके चेहरे पर बैठा सन्नाटा बराबर रंग बदलता रहा और लगा कि छंदक अपने ही सपनों में खोता चला जा रहा है। समय की लंबी-से-लंबी दूरी को समेटकर स्वप्न अपनी परिधि में ले लेते

हैं। शायद इसीलिए इस लंबी प्रतीक्षा का भी छंदक को कोई अनुभव नहीं हुआ।

आचार्यजी के पधारते ही छंदक ज्वार के सागर की तरह उनके चरणों की ओर बढ़ा और बधाई के छींटों से आचार्यजी को भिगोते हुए बोला, “बहुत बड़ा काम हो गया।”

आचार्यजी अभी भी कुछ समझ नहीं पाए—“भाई, मैं तुमसे परेशान हूँ। किसी भी बात को तुम रहस्य बना देते हो।”

“क्योंकि मेरा हर रहस्य अपने पूर्व में परेशानी और बाद में उल्लास छोड़ जाता है।”

“किंतु तुम हर रहस्य के संबंध में ऐसा नहीं कह सकते।” आचार्यजी बोले, “कंस के रहस्यमय व्यक्तित्व में आह्लाद का एक बिंदु भी दिखाई नहीं देता।”

“अब कंस रहस्यमय रहा कहाँ? उसके व्यक्तित्व का हर पृष्ठ खुल चुका है। उसका मात्र एक ही उद्देश्य है—कृष्ण की हत्या। और उसमें वह निश्चित असफल होगा।” प्रसन्नता के इन्हीं क्षणों में उसने उद्घाटित किया कि शकट मारा गया।

“शकट मारा गया!” आचार्यजी अवाक् रह गए। शकट की शक्ति और क्षमता को वे अक्षुण्ण मानते थे। फिर वह कैसे मारा गया? किसने मारा? क्यों मारा गया? ये ऐसे प्रश्न थे, जो एक साथ ही उनके मन में उठे।

छंदक को जितना मालूम था, वह उसने बताया। साथ ही उसने अपनी गोकुल यात्रा की भी चर्चा की। आचार्यजी के लिए यह सबकुछ रहस्यमय एवं चमत्कारी था। उन्हें यह बात भी विलक्षण लगी कि जिसे मैं नहीं जानता, महामात्य को जिसकी गंध तक नहीं मिली, छंदक को वह पता कैसे चल गया? उन्होंने उससे पूछा, “तुम्हें कैसे मालूम हुआ कि शकट को कृष्ण की हत्या के लिए गोकुल भेजा जा रहा है?”

“हमारी गुप्तचर व्यवस्था की यह उपलब्धि है।” छंदक मुसकराया।

“तो तृहारी गुप्तचर व्यवस्था कोई अलग से मथुरा में काम कर रही है!”

छंदक मुसकराता रहा। उसकी वाणीहीन मुसकराहट बहुत कुछ कहती जा रही थी। आचार्यजी निस्तब्ध होते चले गए। मुझे बाद में आचार्यजी ने बताया कि कुछ क्षणों के लिए छंदक उन्हें ऐंद्रजालिक-सा लगा। जैसे हर जादूगर अपने में कुछ छिपाए-सा रहता है वैसे ही आचार्यजी ने अनुभव किया कि छंदक के भीतर बहुत कुछ विलक्षण छिपा है।

“क्या इस समाचार से महाराज अवगत हुए?” आचार्यजी ने पूछा।

“महाराज तो अभी नहीं अवगत हुए, किंतु राजकीय गुप्तचर विभाग के कुछ लोग उस शव के पास अवश्य देखे गए।”

“तब तो महाराज को सूचना मिल ही गई होगी।”

“अभी तो वह सो रहे हैं।” छंदक की मुसकराहट थोड़ी कुटिल हुई—“और इस समय किसीके लिए भी उन्हें जगाकर यह सूचना देना स्वयं मृत्यु को आमंत्रित करना है।”

“तो राजकीय सूचना के पूर्व ही तुमने इसे प्रसारित करना आरंभ कर दिया?”

“मेरा काम ही चिनगारी बिखेरना है।” छंदक हँसा—“और आप देख रहे हैं, मैं वर्षा की इस झड़ी में भी चिनगारियाँ बिखेर रहा हूँ।”

एक क्षण के लिए छंदक की कर्मठता ने उसकी रहस्यमयता को धर दबोचा।

“मुझे लगता है कि इस समाचार को सुनने के बाद ही महाराज का दूत मेरे यहाँ आ जाएगा।” आचार्यजी ने कहा।

“मुझे भी यही लगता है। कंस की झुंझलाहट की पहली बौछार का सामना आप ही लोगों को करना पड़ेगा।”

छंदक बोला।

आचार्यजी को लगने लगा कि छंदक की और अधिक उपस्थिति अब निरापद नहीं है। पता नहीं किस समय महाराज के दूत आ जाएँ। इच्छा न होते हुए भी वे छंदक से बोल पड़े—“मैं समझता हूँ, अब आपको चलना चाहिए।”

“आप ठीक समझते हैं।” छंदक बोला और एकदम छाता खोले बिना ही कक्ष के बाहर निकल आया। बारिश में भीगता हुआ चल पड़ा; पर पीछे मुड़कर देखा नहीं। निश्चय ही छंदक ने तिरस्कृत अनुभव किया होगा। वह आया था विजय के उल्लास में, बधाई का पात्र बनकर—और गया अपमानित होकर। उसकी गति और भंगिमा ने उसकी अपमानित मनःस्थिति का आभास आचार्यजी को करा दिया। उसने चलते समय आचार्यजी का अभिवादन भी नहीं किया। आचार्यजी ने अनजान में हो जानेवाली एक गहरी भूल की तरह इसे स्वीकार किया।

आचार्यजी द्वार पर खड़े-खड़े बड़ी देर तक उसे छतरी के होते हुए भी भीगता और जाता देखते रहे। वे इस प्रतीक्षा में थे कि आँखें चार होते ही एक सलज्ज नमस्कार की छाया उसके संतप्त मन पर डाल दें; किंतु उसने मुड़कर देखा ही नहीं।

आचार्यजी दुःखी थे। एक निरंकुश सत्ता के भय से काँपते उनके हाथों से सामान्य शिष्टाचार गिरकर चूर हो गया था। वे सोचने लगे थे कि जिस शासन में ब्राह्मण की ऐसी स्थिति हो, या तो वहाँ ब्राह्मणत्व नष्ट हो जाएगा या सत्ता स्वयं डूब जाएगी।

□

शकट की मृत्यु के समाचार की संक्रामकता ने मध्याह्न तक पूरे नगर को अपने अंक में समेट लिया था। लोगों की भीड़ यमुना के किनारे लगने लगी थी। कोई कुछ समझ नहीं पा रहा था कि अद्भुत मल्ल को यमुना निगल कैसे गई। वह उत्कृष्ट धावक के साथ ही उच्च कोटि का तैराक भी था।

छंदक जैसे कुछ लोग भले ही जानते रहे हों, किंतु मेरी हत्या के लिए उसके गोकुल जाने की बात गंभीर रूप से छिपाई गई थी। शायद इसीलिए जब कंस को शकट की मृत्यु की सूचना मिली तो वह स्तब्ध रह गया। प्रातः उठने के बाद भी वह शयनकक्ष में चला गया। लोगों ने सहज अनुमान लगा लिया कि महाराज दुःखी हैं।...और उनके दुःख की छाया धीरे-धीरे राजभवन तक पसर गई।

“आपने महाराज को शकट की मृत्यु से अवगत कराया?” आते ही महामात्य ने प्रद्योत को अपने कक्ष में बुलाकर पूछा।

“नहीं।”

“क्यों?” महामात्य ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा, “अरे, यह महत्वपूर्ण समाचार है और आप यह भी जानते हैं कि इधर शकट महाराज के काफी निकट पहुँच चुका था।”

“इसीलिए तो मैं उन्हें सूचित करने का साहस जुटा नहीं पाया; पर लगता है कि महाराज इस घटना से अवगत हो चुके हैं।” प्रद्योत बोला।

“किसने उनसे कहा?”

“यह तो नहीं मालूम; पर जो समाचार हवा में तैर रहा हो, वह किसीके द्वारा पहुँच ही गया होगा।”

“किसीके द्वारा पहुँच जाना दूसरी बात है। पर मंत्रिपरिषद् का प्रधान होने के नाते आधिकारिक सूचना देना हमारा कर्तव्य है।”

प्रद्योत चुप ही रहा। महामात्य उठे और सीधे कंस के कक्ष में पधारे। सोचित अभिवादन करने के बाद वे बोले,

“महाराज, शकट यमुना में डूब मरा।”

“तो आप भी जाकर डूब मरिए!” ज्वालामुखी का अचानक मुख खुला और बंद हो गया। कंस पुनः अपनी चिंता में डूब गया। उसकी तमसावृता बुद्धि इस समय सबकुछ विपरीत ही देख रही थी।

महामात्य अपना-सा मुख लेकर लौट आए। किंतु अभी अर्द्धघटिका भी नहीं बीती थी कि महाराज की ओर से उन्हें आदेश दिया गया कि शकट का शव ससम्मान राजभवन में लाया जाए।...जब तक उसके शव को लाने की राजकीय व्यवस्था हो, अविलंब मंत्रिपरिषद् बुला ली जाए।

आचार्य भोजन करके उठे ही थे कि मंत्रिपरिषद् के आहूत होने की सूचना लेकर दूत पहुँचा। आचार्यजी ने मुझे बताया था कि उस दिन प्रातःकाल से लोग इस घटना के संदर्भ में उनसे मिल रहे थे। कोई कहता कि ‘उसने बाढ़ की यमुना को पार करने का दुस्साहस किया था, इसीका परिणाम उसे भोगना पड़ा।’ कोई कहता, ‘कंस ने उसे कोई ऐसा कार्य सौंपा था, जिसे वह करना नहीं चाहता था, इसीलिए उसने आत्महत्या कर ली।’ कोई कहता, ‘नहीं-नहीं, यह सबकुछ नहीं। उसकी हत्या कर धारा में प्रवाहित कर दिया गया है।’

“यह आप कैसे कह सकते हैं?”

“मैंने बड़े गौर से उसे देखा है। उसका सीना धँसा मालूम होता है। लगता है, उसकी पसली की हड्डियाँ टूट गई हैं। गला दबाने के स्पष्ट चिह्न उसकी गरदन पर ज्ञात हो रहे हैं।”

“हो सकता है, उसकी हत्या ही की गई हो; पर किसने की? कहाँ की? क्यों की?”

ये सारे प्रश्न अभी अनुत्तरित थे और उस शव के हरेक दर्शक का मन इन प्रश्नों में उलझा था।

पश्चिम के ढुलकते सूर्य ने आचार्यजी के रथ को राजभवन जाते देखा। बादल हट चुके थे। रास्ते भर हर अभिवादन भय और आशंकाओं से डूबा-डूबा-सा लगा।

प्रासाद में प्रविष्ट होते ही उन्हें सूचना मिली कि महाराज ने कई बार आपका नाम लिया था।

“किस प्रसंग में?”

“प्रसंग तो स्पष्ट नहीं, पर अपने ही कक्ष में टहलते और कुछ सोचते हुए आपको स्मरण किया था।” प्रतिहारी ने कहा।

आचार्यजी ने कहा, “क्या उन्होंने बुलाने के लिए भी कहा था?”

“नहीं।” उसका संक्षिप्त उत्तर था। आचार्यजी मौन कंस के कक्ष की ओर चल पड़े। पैर शंका और आतंक से बोझिल थे। उनकी मानसिकता संभावित परिस्थितियों का सामना करने की तैयारी करने लगी।

“मैं कब से आपको याद कर रहा था। चलिए आप आ गए, अच्छा ही हुआ।” कंस ने आचार्यजी को देखते ही कहा। फिर उसने बहुत धीरे-धीरे और शांतभाव से बातें आरंभ कीं। उसने कहा, “आपने सुना ही होगा कि शकट नहीं रहा। मैं उसे चाणूर से कम नहीं मानता था। वह राजकीय मल्लाधीश ही नहीं था वरन् अघोषित हमारा अमात्य था। कई आड़े समय में मेरे काम आया था। शक्ति का वह पुंज आखिर मारा कैसे गया?”

“यही तो मुझे भी आश्चर्य है!” आचार्यजी ने कंस की हाँ में हाँ मिलाया।

“लगता है, जिस कार्य के लिए मैंने भेजा था, वह रहस्य खुल गया।” कंस इतना कहने के बाद गंभीर रूप से चुप हो गया था। आचार्यजी का कहना है कि इतने दबे हुए कंस को उन्होंने इसके पूर्व कभी नहीं देखा था। उसका अहं जैसे बुझ चुका था और उसका धुआँ उसकी आकृति पर बैठता जा रहा था। चेहरा उतरा-उतरा-सा, हलका और फीका।

“आजकल छंदक भी नहीं दिखाई देता।” सिर पर हाथ रखे कंस बोला।

आचार्यजी मौन ही रह गए। उनकी दृष्टि बहुधा धरती देखते कंस पर लगी थी।

“लगता है, मेरे पीछे एक सुसंगठित गिरोह है।” कंस बोला, “और उसके विशाल कर प्रासाद के हर प्रकोष्ठ तक फैल गए हैं।”

अब भी आचार्यजी मौन थे।

“क्या छंदक को बुलाया जा सकता है?” कंस ने पुनः पूछा।

“क्यों नहीं बुलाया जा सकता!” आचार्यजी ने कहा, “आपके निकटतम व्यक्ति की हत्या हुई है; हो सकता है, वह अपनी संवेदना व्यक्त करने स्वयं चला आए।”

बात चल ही रही थी कि एक प्रतिहारी ने आकर सूचना दी कि शकट का वृद्ध पिता मल्लाट द्वार पर बेहोश गिरा है।

“उसे उठाकर ससम्मान ले आओ और वैद्यराज को बुलाओ।” कंस ने आदेश दिया। फिर आचार्यजी को संबोधित करते हुए बोला, “आप ही समझिए, जिसके पुत्र की हत्या हो जाएगी उसका पिता क्या होश में रहेगा?”

आचार्यजी ने मुझे बताया कि उस समय वे मन-ही-मन कुड़बुड़ाकर रह गए। वे पूछना चाहते थे कि यह बुद्धि देवकी के पुत्रों की हत्या के समय कहाँ थी। किंतु वे बोल नहीं सके। विवश थे।

शीघ्र ही मल्लाट की चिकित्सा हुई। वह होश में आया। कंस को अपने सामने देखकर बिलख पड़ा—“यह क्या हो गया, महाराज? मैं तो लुट गया! मेरा इकलौता पुत्र मारा गया।” वह बिलखता रहा—“अभी परसों वह गया है। बड़ा प्रसन्न था। कह रहा था कि महाराज के कार्य से जा रहा हूँ। काम पूरा होने पर अमात्य बना दिया जाऊँगा; पर आज क्या हो गया?”

“क्या उसने यह भी बताया था कि महाराज ने कौन सा कार्य सौंपा है?” कंस ने उसे सांत्वना देते हुए और कुछ सोचते हुए पूछा। शायद वह यह जानना चाह रहा हो कि इस रहस्य का उद्घाटन उसीके मुख से तो नहीं हुआ।

“नहीं, उसने काम नहीं बताया। मैंने बहुत पूछा, वह टाल गया।” मल्लाट बोला, “उसने इतना ही बताया कि मुझे गोकुल जाना है।”

गोकुल का नाम सुनते ही कंस की अचानक मुद्रा बदली। वह वहाँ से लौट पड़ा। मार्ग में बड़े आवेश में वह आचार्यजी से बोला, “देखा आपने, यह मूर्ख भी अपनी नादानी से मारा गया! जब मैंने बार-बार उससे कहा था कि किसीको कुछ मत बताना, तब उसे क्या आवश्यकता थी कि बोल पड़ा कि मैं गोकुल जा रहा हूँ!”

“अरे पिता से ही तो उसने कहा, किसी और से तो नहीं!” आचार्यजी बोले।

“आप तो जानते हैं, आचार्यजी, राजनीतिक गोपनीयता बड़ी निष्ठुर होती है। वह किसीको भी अपना स्वीकार नहीं करती; पिता को भी नहीं, पत्नी को भी नहीं।” अपने प्रकोष्ठ में आते ही कंस पतझड़ के वृक्ष की तरह उल्लास की सभी पत्तियाँ झाड़कर मुँह नीचा किए मंचक पर ढुलक गया।

कंस को लगा कि उसकी योजना के भरे-भराए घट को मल्लाट की नादानी ने ही फोड़ डाला है। वह अपने पुत्र के अमात्य बनने की संभावित प्रसन्नता को सँभाल नहीं पाया। उसने इसे चारों ओर बिखेरा। और उसीका फल पाया—पुत्र की हत्या! एकमात्र पुत्र की हत्या!

□

अपराह्न में पूरे राजकीय सम्मान के साथ शकट का शव राजभवन में लाया गया। आकाश साफ था और धूप निकल आई थी। हवा नम और गरम थी।

मृत शकट के दर्शनार्थ लोगों की भीड़ लगने लगी। शव को देखते ही मल्लाट पुनः उसपर दहाड़ मारकर गिर पड़ा। भीड़ के कई हाथ उसे एक साथ उठाने के लिए बढ़े। उसे उठाकर अतिथिगृह के एक कक्ष में लिटा दिया गया।

“अब जो कुछ हुआ है, उसे भूल जाइए। मानिए कि नियति की यही इच्छा थी।” यह आवाज छंदक की थी, जो उसके उठाए जाने के साथ ही उसके पीछे-पीछे कक्ष में आया था—“न कोई किसीका पुत्र है और न कोई किसीका पिता। यह सारे संबंध नियति के नाटक हैं। वह जब तक जोड़े रखता है तब तक जुड़ा रहता है, जब चाहता है, तोड़ देता है। हमारा-आपका वश ही क्या है! वश में बस रोना है, बिलखना है, कलपना है।”

छंदक समझाता रहा। मल्लाट बच्चों जैसा सिसकियाँ भरता रहा।

इधर ऐसी व्यवस्था की गई थी कि लोग शकट के शव को चुपचाप देखें और दूसरे रास्ते से निकल जाएँ; क्योंकि वह राजमल्ल था। उसकी हत्या राजा की प्रतिष्ठा पर चोट थी, उसके वैभव पर आघात था। जब राजतंत्र का वैभव घायल होता है तब उसकी जीवंतता गिने-चुने दिनों की रह जाती है। सवाल यह है कि घायल होने पर भी उसके वैभव को घायल दिखाई नहीं पड़ना चाहिए।

आचार्यजी ने बताया कि उन्होंने मौका देखा और वे छंदक से मिले। अद्भुत व्यक्ति था वह छंदक भी। भीड़ में जैसे आचार्यजी को पहचानता ही न हो। शायद आज प्रातः के आचार्य के व्यवहार से वह नाराज हो; पर ऐसी बात नहीं थी। एकांत की आत्मीयता को वह भीड़ में छिपा लेता था और भीड़ की आत्मीयता की एकांत में हँसी उड़ाता था।

किसी तरह आचार्यजी ने उसे छेड़ते हुए कहा, “आपको आज महाराज याद कर रहे थे।”

“मुझे!” उसका संपूर्ण व्यक्तित्व प्रश्नवाची हो गया—“इतना मेरा सौभाग्य!” इतना कहते हुए वह पुनः भीड़ में खो गया। उससे बातें करने के लिए आचार्यजी ने बहुत खोज की, पर वह मिला नहीं। लगभग एक घड़ी तक वे वहीं खड़े रहे।

फिर वह प्रलंब के प्रकोष्ठ में पहुँचे। श्वेत केशों के आभामंडित वृद्ध आकृति पर तनाव की रेखाएँ स्पष्ट दिखाई दीं। आचार्यजी को देखते ही प्रलंब बोल पड़ा—“सुना आपने? महाराज का कहना है कि गुप्तचर व्यवस्था की असफलता ही मृत्यु का कारण है। अब बताइए, मैं क्या कर सकता हूँ? सारी व्यवस्था तो आप अपने हाथ में लिये बैठे हैं।”

आचार्य ने उन्हें ठंडा किया—“इसमें आपका क्या दोष! यदि जन्म और मृत्यु को गुप्तचर व्यवस्था नियंत्रित करती तो सृष्टि का क्रम ही उलटा हो जाता।”

आचार्यजी ने ही बताया है और मुझे भी अच्छी तरह याद आता है कि प्रलंब शिव का भक्त था। उसके कक्ष में शिव का एक विषपायी चित्र टँगा रहता था। जब वह विषम स्थिति में होता, उसी चित्र के समक्ष आकर बैठ जाता और उसे बड़े ध्यान से देखा करता। उस समय भी वह आचार्यजी से बातें करने के बाद उसी चित्र को देखने लगा। थोड़ी देर पश्चात् उसने आचार्यजी से कहा, “मुझे बड़ी शांति मिलती है इस चित्र को देखकर।”

“मैं भी सोचता हूँ कि विष पीनेवाला शंकर होता है।” आचार्यजी बोले।

“पीनेवाला नहीं वरन् पचा लेनेवाला।” प्रलंब मुसकराया—“पी तो हम भी सकते हैं।”

“कहाँ पी पाते हैं? देखकर घबरा जाते हैं।” आचार्यजी ने कहा।

“ऐसी बात नहीं है। पीता तो बहुत हूँ, पर पचा नहीं पाता हूँ।” प्रलंब की वाणी में उसके तनाव की स्पष्ट अभिव्यक्ति थी—“भगवान् से आशीर्वाद माँगता हूँ कि पचाने की शक्ति दो, प्रभो!”

“और मैं शिव संकल्प के लिए आशीर्वाद माँगता हूँ।” आचार्यजी हँसते हुए बोले।

“भाई, जिसे जिस वस्तु की आवश्यकता होगी, वही न माँगेगा।” प्रलंब ने कहा।

इधर बातें चल रही थीं कि प्रद्योत घबराया हुआ आया और छूटते ही बोला, “नंदजी आए हैं!”

“नंदजी!” जैसे हिम स्वयं धधकने लगा हो। आश्चर्य तो था ही। सब उनके नाम से घबराते थे। उनकी छाया से भी दूर रहना चाहते थे। यदि सामना हो गया तो क्या बातें करूँगा? नंदजी से बातें करते यदि किसीने देख लिया और कंस को सूचना मिल गई, तब क्या होगा?

“उन्हें महाराज से मिलवाओ।” बहुत सोचकर प्रलंब ने कहा।

“मैं उन्हें ले गया था; पर कक्ष के भीतर छंदक के बातें करने की आहट लगी। मैंने लौटना ही उपयुक्त समझा।” प्रद्योत बोला।

“छंदक!” प्रलंब को पुनः आश्चर्य हुआ—“छंदक ने तो बहुत दिनों से आना छोड़ दिया था, फिर आज कैसे?”

“मैंने उसे सूचित किया था कि महाराज तुम्हें याद कर रहे हैं।” आचार्यजी ने कहा। प्रलंब सोचने लगा कि यह राजनीतिक रिश्ते भी गिरगिटान की तरह रंग बदलते रहते हैं। उसने अनुभव किया कि आँसुओं से कुछ भीगा-भीगा मथुरा का क्षितिज रक्ताभ होने लगा है। फिर प्रद्योत से उसने कहा, “प्रतीक्षाकक्ष में उन्हें बैठा दो और उनकी आवभगत करो।”

प्रलंब का यह कहना तो आसान था, पर प्रद्योत बड़ी उलझन में पड़ा। आखिर आवभगत कैसे करें? क्या करें? फिर भी महामात्य की आज्ञा का पालन तो करना ही था। वह उन्हें प्रतीक्षाकक्ष में ले गया।

“इतना शक्तिशाली व्यक्ति और मृत्यु इतनी आसानी से निगल गई!” प्रतीक्षाकक्ष में बैठते ही नंदजी ने संवेदना प्रकट करने की मुद्रा में कहा।

“क्या कहा जाए!” प्रद्योत बोला और बात खत्म करने या टालने की नीयत से उसने कहा, “महाराज इस समय किसी और से मंत्रणा कर रहे हैं। उनके खाली होते ही आपके आगमन की सूचना दे दी जाएगी।” नंद को यह बात लगी भी—‘मैं महाराज का सामंत हूँ—एक सम्मानित सामंत। इतनी दूर से आया और मेरे आगमन की सूचना भी अभी महाराज को नहीं दी गई। खैर, कोई बात नहीं।’ उन्होंने अपनी मनःस्थिति पर नियंत्रण किया और अवमानना को उतार फेंका; क्योंकि उनकी यह संवेदना भी यथार्थ से नहीं, जीवन से नहीं वरन् एक कूटनीतिज्ञता के नाटक से जुड़ी थी—और नाटक के व्यवधान भी नाटक के ही अंग होते हैं, जीवन के नहीं।

थोड़ी देर बाद कंस को पिताजी के आने की सूचना दी गई। निश्चय ही वह जल-भुनकर राख हो गया होगा। एक बार उसकी इच्छा न मिलने की भी हुई; किंतु परिस्थितियों की विवशता ने उसे ऐसा करने नहीं दिया। लाचार उसे उन्हें बुलाना पड़ा।

ऐसा झुककर अभिवादन पिताजी ने किया कि वह भीतर-ही-भीतर खौलकर रह गया। उसने कहा, “कहिए, कैसे चले?”

पिताजी को कंस का यह पूछना कुछ विचित्र-सा लगा। वे समझ गए कि इतना सब होते हुए भी इस समय इसका कारण पूछना बौखलाए व्यक्ति की झुंझलाहट मात्र है। फिर भी पिताजी ने बड़ी सहजता से उत्तर दिया, “महामल्ल की असामयिक मृत्यु का समाचार सुनकर चला आया।”

“नंदजी! आप...” कंस चुप हो गया। वह पिताजी को एकटक देखता रहा; जैसे उसकी दृष्टि उनके व्यक्तित्व की हर तह उधेड़कर कुछ खोज रही हो। फिर अचानक बोला, “शकट की मृत्यु की सूचना आपको कब मिली?”

“यही लगभग दो घड़ी पूर्व।”

“किससे मिली?” जैसे कंस नहीं, गुप्तचर विभाग का कोई अधिकारी पूछताछ कर रहा हो।

पिताजी ने यह भी लोगों को बताया कि कंस ने उन्हें बैठने तक को नहीं कहा।

इतना होने पर भी पिताजी ने अपना संतुलन नहीं खोया। उन्होंने बड़े सहजभाव से उत्तर दिया, “अरे, जन्म और

मृत्यु कहीं छिपती है! धरती बोलने लगती है।”

“पर जन्म तो छिपा लिया गया।” कंस के मुख से निकल पड़ा। निश्चित ही उसने मेरे संदर्भ में बात की थी; किंतु उसे अचानक लगा कि कुछ भूल कर रहा है। चुप हो गया। पर नंदजी बोल पड़े—“जन्म भी नहीं छिपता।”

“नहीं छिपता!...हाँ, ठीक कहते हो।” पिताजी ने कंस को कभी इतना व्यग्र होते नहीं देखा था; जैसे उसके पास कुछ कहने को ही न हो। फिर बड़े ऊटपटाँग ढंग से पता नहीं क्या सोचते हुए बोला, “हाँ, तो शकट मर गया। एक दिन तुम भी मर जाओगे।”

पिताजी यह सुनकर अवाक् रह गए; पर उनके मन ने तत्क्षण प्रतिक्रिया व्यक्त की—“हाँ, मैं तो मर जाऊँगा, पर तुम तो अमर हो।” फिर भी वह मौन ही रह गए।

लड़खड़ाता चिंतन व्यक्ति को असंतुलित बना देता है। कंस इस समय एकदम असामान्य दिखा—बिल्कुल पागलों जैसा—“हाँ, तो आप क्यों चले आए हैं?”

“संवेदना व्यक्त करने।”

“आपकी संवेदना स्वीकार हुई। आप जा सकते हैं।” पिताजी कंस के कक्ष के बाहर निकल आए। उन्होंने कभी अपने को इतना अपमानित अनुभव नहीं किया था। घायल सिंह की तरह दहाड़ता उनका अहं सीधे प्रासाद के सिंहद्वार से निकला और गोकुल पहुँचने के लिए आम्रवन में खड़े रथ की ओर चल पड़ा। उनका व्यक्तित्व तवे-सा तपने लगा। उनके साथ आए परिचरों को भी उनकी मानसिकता का अनुभव हुआ; पर वे कर क्या सकते थे!

ज्यों ही वे रथ पर बैठे, पीछे से एक आवाज आकर उनसे टकराई—“अरे, अभी ही लौट पड़े, महाराज!”

पिताजी ने मुड़कर देखा, छंदक हँस रहा था।

पिताजी आगबबूला हो उठे—“तुम्हारे कहने पर ही मैं यहाँ आया था और मेरा इतना अपमान हुआ।” फिर उन्होंने कंस के कक्ष में हुई सारी घटना का वर्णन कर सुनाया।

“इससे आपकी क्या हानि हुई?”

“हर स्थिति को हानि और लाभ की दृष्टि से ही देखते हो, छंदक!”

“इस दृष्टि के अतिरिक्त मेरे पास कोई और दृष्टि है ही नहीं, महाराज।”

“पर जीवन केवल इन्हीं दृष्टियों से नहीं देखा जा सकता। उसमें मान-अपमान की भी प्रभावकारी भूमिका है।”

“मान-अपमान!” छंदक ने एक बनावटी हँसी फिर अपने अधरों पर चिपकाई—“राजनीति की कठोर चट्टानों पर मान-अपमान का पानी बहता ही रहता है। उसकी कौन चिंता करता है!”

“मैं चिंता करता हूँ।” पिताजी बोले, “तुम जानते नहीं, छंदक, तलवार का घाव तो भर सकता है, पर अपमान का नहीं।”

“फिर आप इतना अपमानित अनुभव क्यों करते हैं?”

“क्योंकि मैं अपमानित हुआ हूँ।”

“किससे? एक मूर्ख से? पागल से?”

“तो क्या कंस पागल है?”

“और नहीं तो क्या है!” छंदक बोला, “इसीलिए कहता हूँ कि आपको उसकी बातों पर ध्यान नहीं देना चाहिए और चलकर शकट के शव पर माल्यार्पण करना चाहिए। रोते-बिलखते उसके परिवारवालों को सांत्वना देनी चाहिए।”

पिताजी कुछ सोचने लगे। फिर बोले, “आखिर इससे क्या लाभ?”

“लाभ!” छंदक हँसा तथा उनके और निकट आकर धीरे से बोला, “लोगों को कभी विश्वास नहीं होगा कि उसकी हत्या आपने कराई है।...और उसका परिवार तथा जनता के लोग आपके सौजन्य से प्रभावित होंगे।”

पिताजी की आकृति पर अब भी रेखाएँ उभरती और मिटती रहीं।

“हमें सदा जनता की सहानुभूति का ध्यान रखना चाहिए।” छंदक बोला।

पिताजी के अधरों पर पहली बार मुसकराहट उभरी—“छंदक, तू इतना कुटिल कैसे हो गया?”

“देवकी के आठवें पुत्र की कृपा से।” छंदक हँसा—“प्रभु ने ही मुझे कुछ ऐसा बना दिया है, महाराज!...और बनाता चला जा रहा है। अब मैं वह हो गया हूँ, जो भूत को भूल चुका है। वर्तमान का केवल कर्ता है और भविष्य को देखता है। पौधे को लगाते समय ही मुझे उसके फल-फूल दिखाई पड़ने लगते हैं।”

“अच्छा बताओ, इस पौधे को लगाते समय तुम क्या देखते हो?”

“देख रहा हूँ कि मथुरा की सारी प्रजा आपके व्यवहार से उपकृत है। आपके पीछे खड़ी है। कंस अकेला पड़ गया है।”

“धन्य हो, छंदक!” कहते हुए पिताजी रथ से उतरकर पुनः राजभवन की ओर लौट पड़े—“मन में आता है, छंदक, कि तुम्हारी जय बोलता चलूँ।”

“मेरी नहीं, देवकी के आठवें पुत्र की जय बोलते चलिए।” छंदक हँसता रहा। कुछ दूर तक उनके साथ आया भी, फिर धीरे से खिसक गया।



सात

समय के सुरों का आरोह-अवरोह झेलती परिस्थितियाँ आगे बढ़ीं।

प्रासाद उबलता रहा। कंस की मनःस्थिति सुलगती रही। धीरे-धीरे उसके दमघोंटू धुएँ से महल भर गया। वातावरण इतना विषाक्त हो गया कि कोई किसीसे बातें करने में भी घबराता था। चलता-फिरता सन्नाटा अब स्थायी तौर से राजभवन में पैर जमा बैठा था। राजकर्मचारी किसी तरह दिन काट रहे थे।

यों महादेवी का स्वास्थ्य अब पहले से बहुत ठीक था। मानसिक रूप से पूर्ण स्वस्थ न होते हुए भी शारीरिक रूप से काफी स्वस्थ दीखती थी। मांसपेशियों में अब पहले जैसा ही सुधार हो गया था। वह काफी भरी-भरी और सुंदर दिखने लगी थी; किंतु अचानक एक अप्रिय घटना हो गई।

महादेवी शकट के शव पर माल्यार्पण करने गई थी। जब तक वह रथ में जा रही थी तब तक तो उसे किसीने नहीं देखा। ज्यों ही वह रथ से उतरी, सुगबुगाहट रेंगने लगी। यद्यपि वह अकेली थी, न दासी और न कोई परिचारिका। माला भी अपने हाथ में लिये चुपचाप सिर नीचा किए चली जा रही थी कि किसी औरत ने उसे पहचान लिया—“अरे, यह तो पूतना ही है!” फिर क्या था, शोर मच गया—‘निपूती आ गई। भागो-भागो, पूतना आ गई। बच्चों को छिपाओ, अन्यथा चबा जाएगी।’

स्त्रियाँ अपने-अपने बच्चों को लेकर भागने लगीं। पुरुषों में भी कोलाहल हुआ। भगदड़ मच गई। शव तक पहुँचते-पहुँचते एक गहरे धक्के ने महादेवी को भी गिरा दिया। फिर भी उसने प्रतिरोध नहीं किया। उसकी मानसिकता उसकी नियति से इतनी जुड़ी थी कि वह यह सब सहने के लिए तैयार थी। धराशायी हुई। माला हाथ से छूटकर दूर गिरी। वह कुचली गई, पर उफ तक नहीं किया।

सैनिकों ने उसकी सुरक्षा की और जब यह पता चला कि यह अमात्य पत्नी है, तब तुरंत प्रासाद में ले जाकर उसकी रक्षा की गई। चिकित्सक बुलाए गए। कमर पर इतने पैर पड़े थे कि वह उठकर खड़ी होने की स्थिति में नहीं थी। फिर भी वह गंभीर रूप से शांत पड़ी रही। न आह और न कराह।

प्रद्योत अभी थोड़ी देर पहले ही गया था। वह अपने आवास पर ही था। उससे अनुमति लेकर ही महादेवी आई थी। जब उसे इसकी सूचना मिली, वह दौड़ा हुआ आया। प्रासाद के सिंहद्वार पर अब भी भीड़ खड़ी थी। प्रद्योत का रथ देखते ही भीड़ चीख पड़ी—“आ गया, उस चुड़ैल का पति आ गया!”

प्रद्योत पत्नी की ऐसी स्थिति देखकर सन्न रह गया। उसके करुणार्द्र कंठ से कोमल स्वर निकला—“यह क्या हो गया?”

“कुछ नहीं हुआ है।” महादेवी बड़े शांतभाव से बोली, “यह मेरे ही कर्मों का फल है।”

किंतु ज्यों ही उसे उठाने की चेष्टा की गई, वह कराह उठी। कई परिचारिकाओं को लगाकर उसे रथ पर लाया गया। भीड़ फिर उसे देखकर चीखने लगी। यदि कोई दूसरी स्थिति होती तो भीड़ को तितर-बितर करने के लिए सैनिक अस्त्र प्रयोग करते; पर अभी तो शकट का शव पड़ा था। वे कुछ कर पाने की स्थिति में नहीं थे। किसी प्रकार उन्होंने भीड़ को शांत करने की चेष्टा की।

रथ लौट पड़ा। मुश्किल से पहिया पचास चक्र घूमा होगा कि पश्चिम की ओर से फेंका गया एक पत्थर का टुकड़ा उसके सिर में लगा। कपाल फूट गया। पत्थर भीड़ से ही फेंका गया था और मारनेवाले ने लक्ष्य साधकर मारा था। बात यह थी कि महादेवी रथ के बीच बैठ नहीं पा रही थी। उसे लिटा दिया गया। उसका सिर रथ के

बाहर झाँकने लगा, इसीलिए लक्ष्य साधना आसान हो गया।

फिर क्या था? महादेवी का रक्त देखते ही प्रद्योत की आँखों में रक्त उतर आया। उसने प्रत्यंचा ठीक की और लगा भीड़ पर अंधाधुंध बाणों की वर्षा करने। भगदड़ मची। उसी बीच से एक ललकार भी सुनाई पड़ी—“भागते क्या हो? सामना करो।”

भीड़ लगी मार्ग के किनारे के प्रस्तरखंडों को उठा-उठाकर फेंकने। विचित्र दृश्य उपस्थित हो गया। इधर से एक धनुष के अनेक बाण और उधर से अनेक हाथों से एक-एक पत्थर। किंतु यह स्थिति बहुत देर तक न चली। प्रासाद के सैनिक दौड़े। नगर रक्षकों ने भी शीघ्रता दिखाई और स्थिति पर नियंत्रण पा लिया गया।

कुछ अनहोना हो गया। अप्रत्याशित घट गया। पश्चिम का आकाश रक्तवर्णी! धरती रक्त से भीगी हुई। महादेवी का कपाल रक्त से लथपथ और प्रद्योत की आँखें भी रक्त से लाल-लाल। चारों ओर रक्त! रक्त!! रक्त!!!

अभी शकट का शव पड़ा ही था कि मथुरा तपने लगी। प्रद्योत महादेवी को लेकर किसी प्रकार अपने निवास पर पहुँचा। एक परिचर से उसने महाराज के पास सारी सूचना भिजवाई और यह भी कहा कि वह शवयात्रा में सम्मिलित नहीं हो सकेगा।

महाराज की उस समय क्या प्रतिक्रिया हुई, यह तो नहीं मालूम; पर प्रद्योत के लिए यह स्थिति असह्य थी। वह कुछ कर पाने की दशा में नहीं था। उसका पौरुष पिटारी में बंद नाग की तरह अपना फन पटकता रहा। उसकी क्षुब्ध मानसिकता बंद कमरे में ही मुट्ठी मारती रह गई।

परिचारिकाओं ने मरहम-पट्टी की। सामने महादेवी शांतभाव से लेटी थी। वहीं क्रुद्ध बनैले साँड़ की तरह लंबी-लंबी साँसें खींचता प्रद्योत मंचक पर बैठा था।

“इतने व्यग्र क्यों हो?” महादेवी ने बड़ी सहजता से पूछा।

“मैं तुम्हें बचा नहीं पाया। तुम्हारी यह दशा हो गई। फिर भी तुम पूछती हो व्यग्र क्यों हो!”

“मेरी यह दशा तो मेरे कर्मों का फल है। इसके लिए क्षुब्ध होना व्यर्थ है।” महादेवी की शिथिल ध्वनि और अधिक गंभीर हो गई—“हमें अपने कर्मों का फल तो भोगना ही पड़ेगा।”

अब मैं अनुभव करता हूँ कि ‘गीता’ में कर्म के जिस सिद्धांत को मैंने प्रतिपादित किया है, वह जनता में बहुत गहरे मेरे जन्म से पूर्व ही बैठ चुका था।

प्रद्योत ने पुनः महादेवी से पूछा, “पर अब तो हम कर्मों से विमुख हैं?”

“विमुख हों या सन्मुख हों! विगत कर्म तो लगे ही रहेंगे अपने फल लेकर। वे कभी भी हमारा पीछा नहीं छोड़ते—कभी भी नहीं, मृत्युपर्यंत भी नहीं।”

“यह केवल बुरे कर्मों के संबंध में ही है या अच्छे कर्मों के संबंध में भी?”

“अच्छे-बुरे सभी प्रकार के कर्मों के संबंध में एक ही बात है।” महादेवी बोलती गई—“अंतर बस इतना है कि बुरे कर्मों का फल नागदंश के विष की तरह तुरंत चढ़ता है और अच्छे कर्मों का फल प्रतीक्षा के पात्र में बंद मैरेय की तरह सीझता रहता है। उसकी गुणवत्ता बढ़ती रहती है।” महादेवी मुसकराई। उसकी मुसकराहट में एक ललक थी। प्रद्योत को स्पष्ट लगा कि महादेवी मैरेय चाहती है।

“क्या तुम्हारे लिए मैरेय मँगाऊँ?”

“बड़ी पीड़ा है। शायद उससे कुछ मुक्ति मिल जाए।”

प्रद्योत ने मैरेय मँगाई और महादेवी को अपने हाथों से पिलाया। थोड़ी देर बाद वह सो गई।

□

इधर शकट की शवयात्रा आरंभ हुई और उधर सूर्य अस्ताचलगामी हुआ। सिंदूरी आकाश पर एक धुंधला तारा झिलमिलाने लगा; मानो संध्या की सारी वेदना एक बिंदु पर सिमट आई।

शकट की जलती चिता को जब छंदक ने प्रणाम किया तब वह भुनभुना रहा था—“फल पर तुम्हारा नियंत्रण था नहीं, कर्म करना ही तुम्हारे हाथ में था। और तुम उसके लिए समर्पित हो गए।”

आसपास खड़े लोगों को लगा कि छंदक क्या कह रहा है? पर मुझे अब लग रहा है कि वह छंदक नहीं, मैं ही बोल रहा था; क्योंकि छंदक भी मैं ही हूँ। मैं ही जीवों में बिखरा हुआ हूँ। और उनकी संपूर्णता को मैं स्वयं अपने में देखता हूँ। यह मेरा अहं नहीं वरन् यथार्थ है। उद्गम यदि यह सोचे कि सरिता की संपूर्णता मुझसे है और थी, तो असत्य क्या!

वस्तुतः मैं जो दिखाई पड़ता हूँ, वह मैं नहीं, मेरा शरीर है। मैं जो सुनाई पड़ता हूँ, वह मैं नहीं, मेरी आवाज है। मैं तो इंद्रियों से परे हूँ। सुनने, देखने, स्पर्श और सूँघने से परे; किसी तरह अनुभूति के दायरे में नहीं। जो अनुभूत है, वह मैं नहीं हूँ। शायद इसीलिए छंदक अपने में मुझे देख नहीं पाया। वह समझ नहीं पाया कि उसकी वाणी के माध्यम से मैं ही बोलता हूँ। इस समय भी ऐसी ही स्थिति थी। जिन लोगों ने छंदक की आवाज सुनी, उन्हें सहज ही अनुमान हो गया कि वह शकट के उन कर्मों को जानता है, जिसका परिणाम उसे भुगतना पड़ रहा है। फिर क्या था, एक शांत कोलाहल सभी के मनो में रेंगने लगा।

बात कंस तक भी पहुँची। उसका क्रोध किटकिटा उठा—“इस कमीने मल्लाट ने ही सबकुछ गुड़ गोबर कर दिया! एक तो तितलौकी और दूसरे चढ़ी नीम पर।” कंस यों ही अर्द्धविक्षिप्त, फिर यह क्रोधाग्नि। उसने एकदम अपना संतुलन खो दिया। दूसरे नहीं वरन् तीसरे ही दिन कंस ने सवेरे-सवेरे प्रलंब को बुलाया।

“मल्लाट को बुलाओ।” उसने आदेश दिया।

“अच्छा महाराज!” कहकर जैसे ही महामात्य हटा, कंस चीखा—“अरे, पूरी बात सुनते जाओ!” कंस की तेज आवाज बेतरह काँप रही थी। प्रलंब को कुछ अप्रत्याशित घटने की आशंका हो गई।

“उसे बुलाओ और कारा के किसी कठोर कोटर में डाल दो।”

प्रलंब कंस का मुख देखता रह गया।

‘अभी-अभी उसका पुत्र मरा है। चिता की भस्म भी ठंडी न हो पाई कि उसे कठोर कारावास! संसार क्या कहेगा? और...और यदि उसने ही पूछा कि मेरा क्या अपराध है, तो मैं क्या उत्तर दूँगा?’

गंभीर असमंजस में होते हुए भी प्रलंब कुछ पूछने की स्थिति में नहीं था। महाराज की आज्ञा शिरोधार्य करने के अतिरिक्त उसके पास कोई चारा भी नहीं।

फिर भी वह चलते समय दबी जबान से बोल पड़ा—“आरोपपत्र पर क्या लिखा जाएगा?”

“तुम्हारा सिर!” कंस तड़पा—“बूढ़े हो गए, पर बुद्धि नहीं जागी। अरे लिख दो आरोपपत्र पर कि देशद्रोही है।”

‘जिसका लड़का महाराज की आज्ञापालन में मारा गया, वह देशद्रोही!’ सोचते हुए प्रलंब लौट रहा था—‘यह कंस का न्याय है!’

‘इस राजभवन में रहकर भी तुम न्याय के संबंध में सोचते हो?’ यह आवाज किसकी है? कहाँ से आई? प्रलंब ने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई, पर कहीं कोई नहीं। बिल्कुल निःसंग भयग्रस्त सन्नाट। केवल एक विशाल स्तंभ पर बैठा हुआ एक कपोत युगल गुटर-गूँ, गुटर-गूँ कर रहा था।

प्रलंब चकित था। यह आवाज आखिर कहाँ से आई? ऐसा तो नहीं कि उसका अवचेतन ही उससे बोल पड़ा हो?

क्या करना है, यह तो निश्चित हो चुका था। प्रलंब अपने कार्यालय में आकर बहुत देर तक सोचता रहा कि यह कैसे किया जाए, अन्याय के धधकते आवें में न्याय को कैसे पकाया जाए; पर कोई रास्ता नहीं सूझा। उसने सीधे-सीधे आरोपपत्र पर देशद्रोही होने का आरोप लगाया और बंदी बनाने का आदेश दिया।

विचित्र स्थिति थी। जो अधिकारी उस आदेश को पढ़ता, स्तब्ध रह जाता। कोई उसे पकड़ने के लिए जाने को तैयार नहीं हो रहा था। प्रत्येक को भय था कि ऐसे अमानुषिक अन्याय पर कहीं जनता भड़क न जाए; क्योंकि प्रद्योत-पत्नी के विरुद्ध जनक्रोश की घटना अभी ताजा थी। फिर भी गंभीर सुरक्षा व्यवस्था में मल्लाट को बंदी बनाया गया।

पितृपक्ष की तिलमिलाती धूप में मल्लाट पकड़कर लाया गया। यों भी क्रोध से उसका चेहरा लाल था, फिर ऐसी तेज धूप जैसे तपते तवे पर अंगार रख दिया गया हो। आते ही उसने महामात्य से मिलने की इच्छा व्यक्त की।

“महामात्य शायद तुमसे न मिलें।” सैनिक अधिकारी ने कहा।

“वह न मिलें, न सही। मैं तो उनसे मिल सकता हूँ!” मल्लाट की आवाज में एक क्रुद्ध व्यक्ति की छटपटाहट थी।

“जब वह नहीं मिलना चाहेंगे तब तुम कैसे मिलोगे?”

“पर मैं तो मिलूँगा—जंजीर तोड़कर मिलूँगा।” उसने एक बार जोर से हाथ में बँधी जंजीरों को झटका भी। वह झनझनाकर रह गई। मल्लाट बोलता जा रहा था—“अवश्य महामात्य से मिलूँगा। पूछूँगा कि तुम बूढ़े हो गए, मरने के निकट आए, कगार के वृक्ष हो, पता नहीं कब एक तेज हवा का झोंका आए और उखड़ जाओ; फिर भी इतने अन्याय पर उतारू हो? आखिर क्यों? तुम्हें क्या मिलेगा इससे?”

“पर यह महामात्य का आदेश नहीं है।”

“तब किसका है?”

“महामात्य के माध्यम से दिया गया महाराज का आदेश है।”

“तब मैं महाराज से मिलूँगा।” मल्लाट के क्रोध ने एक उबाल और लिया—“पूछूँगा, क्या अपराध है मेरा? यही न कि मेरे पुत्र को तुमने अपने स्वार्थ के लिए गोकुल भेजा था—वह भी अमात्य बनाने का प्रलोभन देकर।...काम पूरा होने पर उसे अमात्य बनाने वाले थे। वह मारा गया तो तुम उसके बाप को बंदी बना रहे हो! यह कहाँ का न्याय है?” वह फुफकारता रहा, बंद शिकंजे में दहाड़ता रहा। उसकी आवाज पाषाणी दीवारों से अपना सिर फोड़कर लौटती रही; फिर भी वह चीखता रहा। सैनिकों ने अनुभव किया कि सचमुच शकट की मृत आत्मा मल्लाट के सिर पर सवार हो गई है।

किंतु निरंकुश राजतंत्र का बंदी एक ऐसा जीव होता है, जो अपनी सारी सामर्थ्य खो देता है।

लौह प्राचीर को भी चीरकर मल्लाट की आवाज फैलती गई, फैलती गई। राजभवन गूँजने लगा। कर्मचारी शकट की हत्या के मूल में पहुँचने लगे।

महाराज को भी स्थिति का ज्ञान हुआ। जिसे छिपाने के लिए उसने यह सब किया, वह और भी उद्घाटित हो गया। वह झुँझलाया—अपनी असफलता पर

या नियति के क्रूर अट्टहास पर, जो निरंतर मेरे जन्म के बाद उसे सुनाई पड़ रहा था।

“मल्लाट को अंध कोटर में डाल दो।” उसकी झुँझलाहट ने एक दूसरा आदेश दिया—“और बिना मेरी आज्ञा के कोई भी उससे न मिले।”

“भोजन देनेवाला भी नहीं?”

“नहीं।”

“महाराज, वह मर जाएगा।”

“मर जाने दो।”

निरंकुश सत्ता की लिप्सा क्रूरता की गोद में पलती है, निष्ठुरता का स्तनपान करती है और अन्याय के पालने में झूलती है।

□

आचार्यजी ने बताया कि मथुरा के आंदोलित जीवन में एक नया पलीता लग गया। विस्फोटक स्थिति आसन्न दिखी। सवेरे-सवेरे छंदक फिर आचार्यजी के यहाँ आया। उसकी समस्या मात्र इतनी थी कि वह मल्लाट से मिलना चाहता था।

आचार्यजी ने बड़ी आवभगत की; क्योंकि वे विगत उपेक्षा का प्रायश्चित्त करना चाहते थे और कहा, “मुझे तो विश्वास था कि तुम नहीं आओगे।”

“क्यों?” छंदक ने पूछा।

“मुझे कुछ ऐसा लग रहा था कि पिछली बार जब तुम आए थे और जब मैंने वर्षा की झड़ी में तुम्हें बिदा किया था तब तुम कुछ अपमानित अनुभव कर रहे थे।” आचार्यजी ने कहा।

“ऐसा तो कुछ नहीं था।” छंदक अपनी प्रकृति के अनुसार हँसा—“अब आप ही बताइए, आपने मेरा अपमान किया था?”

“नहीं, कभी ऐसा हो सकता है!”

“तब मैं क्यों अपमानित अनुभव करूँ?” फिर वह थोड़ा गंभीर हुआ—“और फिर मैं मान-अपमान से दूर हूँ; क्योंकि मैं मथुरा की जनता की आत्मा हूँ।

आत्मा तक मान-अपमान पहुँच भी नहीं पाता। मृत्यु और जरा का उसे भय नहीं।... और मैं यह भी जानता हूँ कि मनुष्य से मनुष्य का अस्तित्व कहीं महान् और अमर है!”

उस समय आचार्यजी को आश्चर्य हुआ कि छंदक क्या बोल रहा है। पर मुझे कोई आश्चर्य नहीं है। मैं पहले भी कह चुका हूँ और अब भी कह रहा हूँ कि छंदक मेरी भाषा बोलता था। हर संघर्षशील व्यक्ति मेरी चिंतन-परिधि में आता है; क्योंकि एकाकी संघर्ष की पहली शर्त है निःसंग की स्थिति में पहुँचा हुआ स्वयं को समझना। यह सोच लेना कि हर संगी, हर साथी अंतिम बिंदु तक साथ नहीं देगा। आखिरी छोर पर तो केवल वह रह जाएगा और रह जाएगी उसकी अशमित ऊर्जा तथा विजय का अटूट विश्वास।...यदि ऐसा न होता तो छंदक मेरी भाषा न बोलता।...एक ओर मथुरा टूटती जाती, निराश होती जाती और दूसरी ओर हर प्रभात छंदक को एक नई दृढ़ता और विश्वास लेकर जगाता।

मथुरा की मानसिकता बासी और उदास पड़ती चली जा रही थी। फिर भी छंदक तरोताजा था—“मैं मात्र एक काम के लिए आया हूँ।”

‘क्या?’ आचार्यजी के शब्दों ने नहीं, वरन् मुद्राओं ने ही पूछा।

“मुझे किसी प्रकार आप मल्लाट से मिलवा दीजिए।”

“मल्लाट से!...असंभव!” आचार्यजी बोले, “जिससे मैं खुद नहीं मिल सकता, उससे तुम्हें कैसे मिलवाऊँ?”

“कोई युक्ति आपको लगानी होगी, अन्यथा मल्लाट मारा जाएगा।” छंदक व्यग्र भी दिखा।

आचार्यजी सोचने लगे। बड़ी देर तक सोचते रहे। जहाँ मच्छर भी नहीं भनक सकता वहाँ पहुँचने की युक्ति उनका मस्तिष्क खोजने लगा; पर वे किसी निष्कर्ष पर न पहुँचे।...दौड़ प्रतियोगिता में हताश हो मार्ग में ही गिरे एक छोटे

बच्चे की तरह उठकर अपनी धूल झाड़ी हुई उनकी मानसिकता पूछ बैठी—“तुम उससे मिलकर क्या करोगे?”
“उसकी रक्षा करूँगा।” फिर बड़े रहस्यमय ढंग से वह मुसकराया तथा आचार्यजी के और निकट जाकर बोला,
“उसे बस कंस से इतना कहना चाहिए कि जो कार्य मेरा पुत्र नहीं कर सका, उसे मैं कर दिखाऊँगा।”

“पर यह तो कोई भी कह सकता है!” आचार्यजी ने कहा।

“किसीके कहने और मेरे कहने में बड़ा अंतर है।” छंदक अब भी रहस्यमय ढंग से मुसकराता रहा। बाद में उसीसे आचार्यजी को पता चला कि कंस की शंका ठीक है। मल्लाट से ही छंदक को शकट की योजना का पता चला था। उसने उसे आश्वस्त भी किया था कि यह बात वह किसीसे नहीं कहेगा। जाने-अनजाने यदि बात फूट भी जाएगी तो भी वह मल्लाट की रक्षा करेगा।...इस समय वह कारा की कठोर दीवारों में बंद है। उसे छुड़ाना उसका धर्म है।

“तुम भी धर्म की चिंता करते हो, छंदक?” आचार्यजी ने व्यंग्य करते हुए कहा।

छंदक हँसा—“तो क्या आप मुझे अधर्मी समझते हैं? धर्म ही वह तंतु है, जो मनुष्य को मनुष्य से बाँधता है। धर्म की अवहेलना करके पहले तो मनुष्य अकेला हो जाएगा, फिर वह अपनी अस्मिता खोने लगेगा।”

“तुमने ऐसी बातें कभी महाराज से नहीं कहीं?” आचार्यजी ने हँसते हुए पूछा।

“कही तो थीं, पर स्वार्थ के कान धर्म की बातें नहीं सुनते।...उन्हें तो बस एक ही रट है—देवकी के आठवें पुत्र की हत्या। उन्हें हर क्षण मृत्यु अपने निकट आती दिखाई देती है।” छंदक सोचने लगा।

तब तक रजत चषकों में उष्ण दूध आ गया था। आचार्यजी ने सादर एक चषक उठाकर छंदक को थमाया। दोनों उष्ण दूध का रस लेने लगे। अपना चिंतन उसमें डुबोने लगे। कुछ सोचते-सोचते अचानक छंदक हँस पड़ा। बोला,
“बावला और उद्विग्न होने पर भी कंस मूर्ख नहीं है।”

फिर उसने एक घटना बताई। उसने बताया—“एक दिन मैं कंस के पास राज उद्यान में बैठा था। संध्या हो रही थी। मेरे स्वागत के लिए उष्ण दूध से भरे स्वर्ण चषक आए। दोनों रस लेने लगे। केसर और मधुयुक्त गाय का उष्ण दूध! बड़ा स्वादिष्ट था।

“‘सचमुच यह अमृत है, महाराज!’ मेरे मुख से निकला।

“‘अमृत भले ही हो, पर नाग के कंठ के नीचे उतरते ही यह विष हो जाएगा।’ कंस ने बड़ी गंभीरता से कहा।

“उस समय मैं कंस को समझ नहीं पाया। मैंने कंस से पूछा, ‘आपके कथन का तात्पर्य?’

“‘तात्पर्य स्पष्ट है, छंदक!’ कंस मुसकराया—‘कि तुम्हें इस अमृत को पिलाने का मतलब है, इसे विष बना देना।’

“‘तो मैं नाग हूँ?’ मैं हँसते हुए बोला।

“‘इसमें भी कोई संदेह है!’ इतनी बड़ी बात कंस ने जिस सहजता से कही कि क्या बताऊँ। उसकी आकृति पर हास्य की एक रेखा भी नहीं। वह बोला, ‘नाग की भी सृष्टि में उपयोगिता है। यदि ऐसा न होता तो प्रकृति उन्हें बनाती क्यों? पालती क्यों? मैं उसकी उपयोगिता समझता हूँ। तभी न पालता हूँ।’ इतना कहते-कहते कंस हँस पड़ा।”

आचार्यजी ने उसकी बातें सुनने के बाद कहा, “इसका मतलब है कि महाराज तुम्हें अच्छी तरह पहचानते हैं।”

“निश्चित पहचानते हैं।” छंदक बोला, “तब भी पालते हैं।” इस बार वह और भी जोर से हँसा।

“तब तुम उन्हींसे मिलकर मल्लाट से मिलने की इच्छा क्यों नहीं व्यक्त करते?” आचार्य बोले।

“तब तो मेरी योजना निश्चित सफल नहीं होगी।” वह सोचते हुए बोला, “महाराज को मेरे और उसके संबंध की

गंध भी नहीं मिलनी चाहिए।”

छंदक को यह भी भय था कि जितनी ही देर होगी, मल्लाट के जीवन के लिए खतरा उतना ही गहराता जाएगा। किसी निष्कर्ष पर बातों का सिलसिला अभी आया नहीं था कि प्रतिहारी ने सूचना दी कि अमात्य प्रद्योत का रथ आ रहा है। ‘क्या बात है, भाई?’ आचार्य सोचने लगे। उन्होंने छंदक से कहा, “इस समय तुम्हें यहाँ देखकर प्रद्योत कुछ अन्यथा न समझे!”

“मैं भी ऐसा ही सोचता हूँ।...पर मुझे कोई भय नहीं है।”

“भय तो मुझे है।” एक राजकीय चाकर की लाचारी आचार्य के चेहरे पर उभर आई और उन्होंने बड़े विनीतभाव से कहा, “तुम्हें कष्ट तो होगा; लेकिन पीछे के कक्ष में चले जाते तो बड़ी कृपा होती।”

छंदक उठकर जाने लगा।

“तुम इसे अन्यथा न लेना। देखो, प्रद्योत क्या समाचार लाता है!...मैं तुम्हें पीछे के कक्ष में इसलिए भेज रहा हूँ कि यदि वह देर तक बैठा रह गया तो तुम पीछे ही पीछे चुपचाप चले जा सकते हो।” आचार्यजी ने कहा।

छंदक मुसकराता हुआ पीछे के कक्ष में गया। आचार्य अमात्य की अगवानी के लिए बाहर आकर उद्यान में टहलने लगे।

आश्विन का प्रथम पक्ष। प्रातःकालीन मंद समीरण मालती की लताओं से अठखेलियाँ करता, सुगंधि भार से झुके पारिजात के पौधों को झकझोरता, धरती पर फूलों की सेज बिछाता बहता चला जा रहा था। प्रकृति अपनी मादकता में डूबी थी; पर प्रद्योत अपने में डूबा था। बाहर से अकेला दिखनेवाला प्रद्योत भीतर एक भीड़ से गुजर रहा था। अनिश्चितताओं की भीड़, आशंकाओं की भीड़; निरंतर घटित होनेवाली घटनाओं और उनकी प्रतिक्रियाओं की भीड़। उसे इसका भी ज्ञान नहीं हुआ कि आचार्यजी उद्यान में ही खड़े हैं। वह सीधे आवास में घुसने लगा। आचार्यजी ने हँसते हुए आवाज लगाई—“अरे, अमात्यश्रेष्ठ, मुझसे ऐसा क्या अपराध हो गया कि आप सीधे मुझे पकड़ने आवास में ही घुसे चले जा रहे हैं?”

आवाज सुनते ही प्रद्योत झिझका और एकदम लौट पड़ा। भय एवं शंकाओं से तप्त उसकी आकृति पर झेंप की एकाध बूँदें अवश्य दिखीं; किंतु शीघ्र ही झनझनाकर लुप्त हो गईं।

“पितामह अंधक बाहुक आए हैं। वह आपसे मिलना चाहते हैं।” प्रद्योत ने कहा।

“कहाँ हैं?” आचार्यजी ने दृष्टि घुमाई।

“हैं तो अपने आवास पर ही।”

“मैंने सोचा कि यहीं पधारे हैं।” आचार्यजी हँसे।

“नहीं। इधर वे मथुरा में नहीं थे। वर्षा के पूर्व ही तीर्थयात्रा पर निकल गए थे। चातुर्मास काशी में बिताकर वह पुनः पधारे हैं। आते ही उन्हें मैंने अपनी स्थिति बताई। तब उन्होंने आपसे मिलने की इच्छा व्यक्त की।”

मिलने की बात पर आचार्यजी सहम रहे थे। कंस उन्हें अपना विरोधी मानता था। ऐसे व्यक्ति से मिलना खतरे से खाली नहीं। पर किया क्या जाए, भय में पड़कर संबंधों को समाप्त तो नहीं किया जा सकता। बहुत सोचकर आचार्यजी ने कहा, “ठीक है, मैं ही किसी समय उनसे मिल लूँगा।”

“नहीं, वे चाहते हैं कि यहीं आकर आपसे बातें कर लें।” फिर प्रद्योत ने स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा, “जब से वे तीर्थयात्रा से लौटे हैं तब से उनसे मिलनेवाले आते रहते हैं।”

“इसीलिए तो कह रहा था, उन्हीं मिलनेवालों में एक मैं भी हो जाऊँगा। व्यर्थ में वृद्ध व्यक्ति को परेशान क्यों करूँ?” आचार्यजी बोले।

“पर वे परेशान होना चाहते हैं; क्योंकि महाराज के गुप्तचरों की दृष्टि उनके आवास पर लगी है, इसका आभास उन्हें हो गया है। वह वहाँ किसीसे मिलना नहीं चाहते, फिर भी लोग अपना दुखड़ा रोने चले आते हैं।”

आचार्यजी सोचने लगे, ‘संतप्त व्यक्ति को छाया चाहिए; पर मथुरा में कोई आज वट नहीं, पीपल नहीं। कुशासन की फुफकार से सभी जलकर भस्म हो गए हैं। रह गया है मात्र एक अंधक बाहुक नाम का ढूँठा पेड़। आज उसी ढूँठे पेड़ की आड़ में मथुरा शांति खोजना चाहती है। डूबते को तिनके का सहारा।’

“अच्छी बात है, रात्रि के प्रथम प्रहर के उत्तरार्द्ध में या ब्राह्म मुहूर्त में कभी पधारें। मुझे प्रसन्नता होगी।” बस इतना सुनते ही प्रद्योत चलने को हुआ। बिना किसी प्रकार के स्वागत-सत्कार के, बिना जलपान ग्रहण किए।

आचार्यजी यह तो जानते थे कि प्रद्योत की हर गतिविधि पर गुप्तचरों की दृष्टि है, फिर भी उन्होंने उसे अल्पाहार के लिए रोकना चाहा और धीरे से उसके पास आकर बोले, “तुमने अपनी समस्या उनके सामने नहीं रखी?”

“रखी थी। उनका कहना है कि जैसा कंस कहे वैसा करो।” प्रद्योत गंभीर हुआ।

“ऐसा क्यों? अन्याय को सिर झुकाकर स्वीकार किया जाए!” आचार्य को आश्चर्य था।

“उनका कहना है कि यही भगवान् की इच्छा है। जैसी होनी होती है, भगवान् वैसी ही प्रेरणा देता है, अन्यथा विनाशकाले विपरीत बुद्धि न होती।”

“तो क्या वे कंस का विनाशकाल मानते हैं?”

“मानते हैं, तभी न! किंतु उनका कहना है कि अभी उसके पाप का घड़ा भरा नहीं है।...जितनी जल्दी उसकी आज्ञाओं का पालन किया जाएगा, उसके पाप का घड़ा उतनी ही जल्दी भरेगा।”

आचार्यजी ने मुझे बताया कि उसी क्षण कंस का संपूर्ण व्यक्तित्व उनकी आँखों के समक्ष घट में बदलने लगा। बाहर से मनोरम, पर भीतर से खौलता हुआ घट। बाहर से कनक घट, पर भीतर से विष रस भरा।

□

अंधकार में रहते-रहते मनुष्य अंधकार जीने लगता है, तब उसकी चेष्टाएँ अँधेरे में ही देख लेती हैं। अपना मार्ग बनाती रहती हैं, फिर भी प्रकाश के प्रति उसकी लिप्सा कम नहीं होती है; क्योंकि जीव मूलतः प्रकाश ही है और वह प्रकाश में ही मिलना चाहता है। यदि ऐसा न होता तो वैदिक ऋषि ‘आरोह तमसो ज्योतिः’ (अंधकार से निकलकर प्रकाश की ओर बढ़ो) की रट क्यों लगाते!

प्रद्योत अँधेरे को जी रहा था। निराशा का अंधकार, अनिश्चितता और आशंकाओं का अंधकार। कल क्या होगा, पता नहीं। फिर भी वह इस अंधकार का अभ्यस्त नहीं हुआ था। उसकी अस्मिता बार-बार छटपटाती थी। ढूँठे पेड़ की कोटर में जी रहे एक पक्षी की तरह वह वसंत की स्मृति में अश्रु गीत गाता था और आकाश की ओर देखता था; जबकि उसे मालूम था कि वसंत धरती से फूटता है, आकाश से नहीं बरसता। छंदक और प्रद्योत में और जो भी अंतर रहा हो, पर मूल अंतर यह था कि छंदक की कर्मठता धरती से जुड़ी थी और प्रद्योत की निराशा आकाश देखती थी। वह शून्य में हाथ-पैर मारता था, इसीलिए तनाव में जी रहा था। वह कर्मफल तत्क्षण चाहता था, इसलिए संत्रास के अधिक निकट था। छंदक अपने कर्मों के फल की चिंता नहीं करता था, इसीसे हर स्थिति में प्रसन्न था।

दुःखी और भीतर से खिंचा-खिंचा प्रद्योत राजभवन की ओर जा रहा था। रथ पर था, पर मंद-मंद गति से चलते हुए रथ पर। दूर से एक अनजान व्यक्ति ने रथ रोकने के लिए हाथ हिलाकर संकेत किया। रथ रुका नहीं, पर गति अवश्य और मंद हो गई। उस व्यक्ति ने एक मुड़ा पत्र प्रद्योत को थमाया और अभिवादन कर चलता बना।

एक अनजान व्यक्ति और यह पत्र! रथ गति पकड़ चुका था। प्रद्योत ने पत्र खोला। अरे, यह लिखावट तो

सुवासिनी की है! वह चकित था। विस्मय विभोर-सा। उसने अपने मन से कई प्रश्न किए और मन ने ही उसके उत्तर भी दिए। उसे लगा कि प्रश्न ही उसके उत्तर से टकराते हैं और उत्तर बनकर लौट आते हैं।

‘हाँ-हाँ, मैं जीवित हूँ। विश्वास करो, प्रद्योत, मैं जीवित हूँ।...तुम्हारी होकर जीवित हूँ।’ यह प्रद्योत की ही आवाज थी और प्रद्योत को ही झकझोरती मालूम हुई। अब वह पत्र पढ़ने लगा।

‘प्रिय,

‘अब तक मैं तुम्हारी स्मृति को प्रणाम करती रही, अब तुम्हें प्रणाम कर रही हूँ।

‘केवल एक सूचना देनी थी कि मैं जीवित हूँ और प्रसन्न हूँ। मैंने परिस्थितियों से समझौता नहीं किया, शायद मेरी जिजीविषा का आग्रह यही है। एक सुखद सूचना और दूँ कि तुम्हारे दोनों बच्चे मेरे पास हैं। पहले तो अपनी माँ के लिए बहुत छटपटाते थे, पर अब मुझे ही माँ मान बैठे हैं।

‘बस। यह सारी सूचना तुम्हारे लिए है, जिसकी गंध कभी किसीको न लगे। महादेवी को भी नहीं। यदि इसकी सूचना महादेवी को लग गई तो वह कंस की आज्ञाओं का पालन नहीं करेगी।...और इस समय उसकी अवज्ञा करना मृत्यु को बुलाना है।

‘एकदम गोपनीय, बिल्कुल गोपनीय।’

‘आश्चर्य है कि पत्र के अंत में उसने अपना नाम नहीं लिखा। जल्दी में लिखे गए पत्र के लिए भूल हो सकती हो।’ प्रद्योत सोचता रहा। उसका मस्तिष्क दौड़ता रहा; पर रथ राजभवन के द्वार पर आकर रुक गया था। वह अब भी बैठा था।

“महाराज, स्वस्थ तो हैं?” सारथि बोला। अब प्रद्योत को परिवेश का ज्ञान हुआ। उसने तत्क्षण हाथ के पत्र को अँगरखे में रखा; पर अब भी वह पत्र में ही डूबा रहा।

‘आखिर वह व्यक्ति कौन था, जो पत्र दे गया? मैंने उसे कहीं देखा अवश्य है; किंतु इस समय याद नहीं आ रहा है।...ऐसा तो नहीं कि यह सुवासिनी का पत्र ही न हो। यह भी छंदक की कोई राजनीति हो।...फिर छंदक मुझसे राजनीति क्यों करेगा? जो कहना होता, मुझसे मिलकर साफ-साफ कह देता। उसे तो मेरी और सुवासिनी की इस आंतरिकता का भी शायद ज्ञान न हो।...फिर सुवासिनी ने अपना नाम पत्र में क्यों नहीं लिखा? संबोधन है ‘प्रिये’ और हस्ताक्षर गायब है। अवश्य ही वह भूल गई है।’

“आप आ गए! महाराज कब से आपको स्मरण कर रहे हैं।” एक प्रतिहारी की आवाज उससे टकराई। उसकी चेतना धड़ाम से यथार्थ की धरती पर गिरी। उसने पुनः अँगरखे के भीतर झाँका, पत्र यथास्थान सुरक्षित था। वह हड़बड़ाकर महाराज की ओर चल पड़ा।

पता चला कि महाराज अपने कक्ष में नहीं हैं। वह उद्यान के लता प्रकोष्ठ में विश्राम कर रहे हैं। प्रद्योत उस ओर बढ़ा। दूर से ही दिखाई दिया कि वहाँ महाराज दासियों से घिरे हैं। कोई पुरुष परिचारक नहीं। वह ठिठक गया। आगे नहीं बढ़ा। कुछ समय तक उसने प्रतीक्षा की। बाद में मैरेय कलश ले जाती एक दासी दिखाई दी। प्रद्योत ने उसीसे कहलवाया। वह शीघ्र ही बुला लिया गया। दासियाँ पीछे हट गईं। लता प्रकोष्ठ में लटक रहे एक बड़े झूले पर उसका भीमकाय शरीर श्लथ पड़ा था। मैरेय पात्र उठाकर अपने अंचल से पोंछती उसकी व्यक्तिगत परिचारिका मुसकराकर बाएँ खिसक गई।

“मैं कब से तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा था! जब तुम नहीं आए, मैं इधर चला आया।” कंस का प्रत्येक शब्द मैरेय में डूबा था।

प्रद्योत की मानसिकता क्षमायाचना की स्थिति में आई।

“बैठ जाओ।” कंस का आत्मीयता भरा आदेश प्रद्योत को बड़ा शीतल लगा। वह वहीं चुपचाप मंचक पर बैठ गया।

“मैं चाहता हूँ कि तुम्हें अब महामात्य बना दूँ।” कंस ने कहा और उसी समय एक पक्षी पंचम स्वर में बोल पड़ा। “देखते हो, इस पक्षी ने भी मेरी बात का समर्थन किया। जरूर मुझे यह कर डालना चाहिए। अवश्य निर्णय कार्यान्वित करना चाहिए। शास्त्र कहता है कि जब कोई निर्णय लेते समय पक्षी बोल दे तो शुभ होता है। पर मेरे लिए कुछ भी शुभ नहीं, कुछ भी अशुभ नहीं। शुभ-अशुभ की सीमा से परे मैं कंस हूँ। नियति को झुठलाता हूँ, मृत्यु को भी जीने का तरीका बतलाता हूँ। ह! ह! ह!” मदिरा में लड़खड़ाते हुए भी कंस बोलता रहा।

“मैं चाहता हूँ कि प्रलंब की छुट्टी कर दूँ। अब वह बूढ़ा हो गया है। उसकी क्रियमाण शक्तियाँ क्षीण हो गई हैं। सुना है, अब वह लोगों से संन्यास लेने की भी बातें करता है।” कंस बोलता रहा—“मेरे पास अब तुम्हारे सिवा कोई योग्य व्यक्ति नहीं।”

इतना कहने के बाद वह चुप हो गया। स्पष्ट लगा कि वह गंभीरता से कुछ सोच रहा है। उसके क्षण-क्षण बदलते चिंतन से उसकी मुखमुद्रा भी बदलती रही। फिर अचानक वह बोला, “मैं तुम्हें महामात्य बना सकता हूँ, किंतु एक शर्त पर।”

‘किस शर्त पर?’ प्रद्योत की जिज्ञासा छटपटा उठी; किंतु वह मौन ही रहा।

“किंतु शर्त अभी नहीं बताऊँगा।” कंस बड़ी गंभीरता से मुसकराया—“महादेवी को जब लाओगे तो शर्त बताऊँगा।”

महादेवी का नाम सुनते ही प्रद्योत की मनःस्थिति फिर उद्विग्न हो उठी। वह सोचने लगा कि अवश्य ही महाराज अपना पुराना आदेश दुहराएँगे।

“तो कब ले आ रहे हो महादेवी को?” कंस ने पूछा।

“जब आज्ञा करें, महाराज!” प्रद्योत बोला, “यों उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं है।”

“उसका स्वास्थ्य कभी ठीक नहीं होगा। तुम मारे जाओगे, तब भी ठीक नहीं होगा।” कंस गरजा। उसकी मुद्रा एकदम बदल गई। आँखों से चिनगारियाँ छूटने लगी थीं। एक प्रबल झोंके के समक्ष प्रद्योत का तन दीप की लौ की तरह काँप उठा।

“कल मध्याह्न के बाद मेरे समक्ष उपस्थित करो।” यह कंस का नहीं, प्रच्छन्न मृत्यु का आदेश था। “अब तुम जा सकते हो।”

प्रद्योत चुपचाप उठा—जैसे रिसती आँखों में दुःस्वप्न उठते हैं, बैठे हुए निराश मन में कभी-कभी आशा की किरण उठती है।...वह उठा तो, लेकिन उसके पग आगे न बढ़ सके। वह दाहिने पैर से धरती कुरेदता हुआ मौन खड़ा रहा। सभी दासियाँ भी मौन थीं।

“मैंने तुम्हें जाने के लिए कहा है।” कंस की आदेशमूलक ध्वनि एक बार पुनः कड़की।

“किंतु महाराज, एक अनुनय है।” धरती देखते हुए प्रद्योत ने धीरे से कहा।

“क्या?”

“महाराज, मध्याह्न में न लाकर यदि रात्रि के प्रथम प्रहर में महादेवी को ले आऊँ तो कैसा हो?”

“कैसा हो का प्रश्न नहीं है। वह कौन सी परिस्थिति है, जिसके कारण तुम मेरे आदेश में परिवर्तन चाहते हो?”

अब प्रद्योत ने धीरे-धीरे उस घटना का उल्लेख किया, जब भीड़ ने महादेवी को पत्थर के टुकड़ों से घायल कर दिया था। प्रद्योत का कहना था कि अब दिन में निकलना महादेवी का निरापद नहीं है।

प्रद्योत की असहाय स्थिति पर कंस हँसने लगा। ज्वालामुखी का लावा अब शीतल सोते में बदल गया था—“अच्छा, तो तू पत्थर के टुकड़ों से डरता है और मैं देवकी के आठवें पुत्र से भी नहीं डरता।”

□

आश्विन के बादलों ने संध्या की लाल साड़ी पर काला उत्तरीय डाल दिया था। अरुणिमा श्याम पड़ती चली जा रही थी। प्रद्योत रथ से अपने आवास को लौट रहा था। अमराई से गुजरते हुए उसके मस्तिष्क में सुवासिनी की प्रेमार्द्र छाया उतरने लगी थी। उसे लगा जैसे उसकी व्यग्रता को कई स्नेहिल अँगुलियाँ सहला रही हैं। उसे अनुभव होने लगा कि उसके पत्र की शब्दावली ही उसके अंतर में बैठी सुवासिनी पढ़ रही है—‘अब तक मैं तुम्हारी स्मृति को प्रणाम करती थी, अब तुम्हें कर रही हूँ।...मैं जीवित हूँ, प्रसन्न हूँ,...तुम...।’

अपने ही भीतर बैठी सुवासिनी की आवाज में प्रद्योत खोने लगा था—‘वह अब तक मेरी स्मृति को प्रणाम करती रही। स्मृति को जिलाए रखने का मतलब है, वह मुझे अपने में जिलाए हुए थी। कितनी साधना की है उसने मेरे लिए। पता नहीं, वह किस विपत्ति में थी। किन परिस्थितियों की उसने चर्चा की है, जिनसे उसने समझौता नहीं किया। यदि ऐसा है, तो वह बड़े तनाव में जी रही होगी। जीवन दूभर होगा। फिर भी वह मेरी स्मृति को अपने सीने से चिपकाए है। कितना अद्भुत समर्पण है!...पर मैं तो उसे भूल ही गया था। उस बरसाती संध्या के घुप्प अँधेरे में उजाड़ मंदिर के एक किनारे खड़े होकर उसने क्या कहा था? यही न कि हम शरीर से दूर होकर भी पास रह सकते हैं; हमारा प्रेम आत्मिक है।

‘सचमुच वह मुझे अपने पास रखे थी, पर मैं उसे अपने पास नहीं रख सका। नहीं-नहीं, ऐसी बात नहीं। वह मेरे पास ही थी। विस्मृति की चादर ओढ़कर वह सो रही थी; पर मैं तो उसके भीतर जाग रहा था।’ प्रद्योत सोचता चला गया, सोचता चला गया।

“यह क्या पढ़ रहे हो?” महादेवी ने पूछा।

और वह चौंक उठा।

‘देखो, इसकी गंध भी किसीको न लगे।’ पत्र के भीतर से ही सुवासिनी की आवाज सुनाई पड़ी और प्रद्योत ने शीघ्र ही उसे मोड़कर अपने अँगरखे में रख लिया। महादेवी से बोला, “यों ही प्रलंब की चिट्ठी है।”

“प्रलंब की चिट्ठी है! रोज मिलनेवाले भी कहीं पत्र लिखते हैं!”

“क्यों नहीं लिखते! यदि न कहने योग्य बात हो तो लिखी नहीं जाएगी?”

“न कहने योग्य बात!” महादेवी सोचने लगी।

“हाँ-हाँ, न कहने योग्य बात!” प्रद्योत बड़े सहजभाव से मुसकराया—“क्योंकि विवाह के पूर्व तो हम लोग रोज ही मिलते थे, फिर भी तुम मुझे पत्र लिखा करती थीं।”

“मैं ही लिखती थी! तुम नहीं लिखा करते थे क्या?” दोनों हँस पड़े।

“मान लो, मैं भी लिखता था। पर मिलते रहने से पत्र न लिखना ऐसी कोई बात तो हुई नहीं।” प्रद्योत बोला।

“पर लिखा क्या है उन्होंने?”

“अरे यही, जनम भर का रोना। महाराज के व्यवहार की आलोचना!...पर वह एक दिन का तो है नहीं। जब हम उसीमें जी रहे हैं तो रोना क्या!”

“आखिर लिखा क्या है उन्होंने?” प्रद्योत ज्यों-ज्यों टालता जा रहा था, महादेवी की जिज्ञासा बढ़ती जा रही थी।

“अरे, वही पुरानी संन्यास लेनेवाली बात।” फिर वह पता नहीं क्या-क्या बोलता चला गया; क्योंकि झूठ इतना नंगा होता है कि उसकी लज्जा ढकने के लिए हमें झूठ की एक फौज ही उसके चारों ओर खड़ी करनी पड़ती है।

यह सत्य है कि महादेवी को उस पत्र की वास्तविकता की गंध तक नहीं लगी थी; पर वह समझने लगी थी कि बात कुछ जरूर है, जो मुझसे छिपाई जा रही है। फिर भी उसने जानने के लिए बहुत जोर नहीं दिया; क्योंकि वह जो जान रही थी, वही उसके मरने-जीने के लिए काफी था; क्योंकि वह टूटा और पैबंद लगा जीवन जी रही थी।

थोड़ी देर बाद प्रद्योत ने पुनः कहा, “आज महाराज ने मुझे महामात्य बनाने की इच्छा व्यक्त की है।”

महादेवी चुप ही थी। उसे लगा, उसे फुसलाने के लिए एक लुभावना समाचार गढ़ा जा रहा है। प्रद्योत पुनः बोला, “पर उन्होंने एक शर्त रखी है।”

“वह क्या है?”

“उसे तो वह तुम्हारी उपस्थिति में ही बताना चाहते हैं।” प्रद्योत बोला और महादेवी की आकृति का भाव पढ़ने लगा। वह मौन हो सोचती रही। उसकी आकृति पर आड़ी-तिरछी रेखाएँ बनती रहीं। ज्यों-ज्यों वह चिंतन की गहराई में डूबती गई त्यों-त्यों उस संदर्भ से अलग होती गई। अब उसके लिए वहाँ कोई नहीं था। केवल वह थी और थी कंस की आग उगलती बड़ी-बड़ी आँखें। वह उन्हीं आँखों को झेलती हुई पड़ी रही।

किंतु प्रद्योत के कटिबंध में छिपा अशमित प्रेमिल उद्वेग उसे व्यग्र किए जा रहा था। वह अपने कक्ष में पहुँचकर शय्या पर ढुलक गया और पत्र निकालकर पुनः देखने लगा।

उसे लगा, वह पत्र नहीं है वरन् एक चित्र है, जिसमें एक निर्वासिता के काननचारी दृग उसे बड़ी आत्मीयता से देखते दिखाई पड़े; मानो वे पूछ रहे हों, ‘मैं किन स्थितियों से जूझ रही हूँ, तुम्हें कुछ पता है? फिर भी तुम्हारी याद को सीने से चिपकाए हूँ...और तब तक चिपकाए रहूँगी जब तक मेरा अस्तित्व है; क्योंकि मैं नारी हूँ। नारी स्वयं को जीवन में एक ही बार समर्पित करती है, अब मेरे लिए कोई दूसरी बार नहीं आएगा।’

प्रद्योत शय्या पर जड़वत् पड़ा था। वह पत्र को सीने पर रखकर दोनों हाथों से दबाए था। ऊपर एकटक निहारती आँखें कहीं और देख रही थीं। उसे लग रहा था, लगभग यही समय है। घोर वर्षा हो रही है। भग्न शिव मंदिर में वे दोनों शरण ले रहे हैं। उस समय तो उसका शरीर उस शरीर से दूर था; पर इस समय वह उसके शरीर को छू सकता है। उसके हर भाग को छू सकता है। छू रहा है...कि कक्ष के बाहर से द्वार खटखटाने की आवाज आई। प्रद्योत जैसे जाग उठा। चाकर कक्ष में आने की अनुमति माँग रहा था।

“अंधक बाहुक पधारे हैं। मैं आपको जगाना नहीं चाहता था। उन्होंने ही कहा, ‘जगा दो, यह सोने का समय नहीं है।’...क्षमा करें, महाराज!” चाकर विनयावनत था।

अंधक बाहुक का नाम सुनते ही प्रद्योत दौड़ पड़ा—“पितामह क्यों पधारे? वह भी रात में और ऐसी वर्षा में!”

“वर्षा! कहाँ हो रही है, महाराज?” चाकर बोला।

प्रद्योत कैसे कहे कि उसकी कल्पना में हो रही थी और उसके मुख से निकल गया था।

वह दौड़ा हुआ नीचे अतिथिकक्ष में आया। अंधक बाहुक वहाँ पहले से ही विराजमान था।

“अरे, पितामह आप! वह भी रात्रि में! ऐसी ही आवश्यकता थी तो आप मुझे बुला लेते।”

“मैंने तुम्हें बुलाना ठीक नहीं समझा; क्योंकि मैं राजद्रोही हूँ। राजद्रोही के यहाँ राजभक्त को बुलाना उसके जीवन को खतरे में डालना है—और मैं तुम्हारे जीवन को खतरे में नहीं डालना चाहता।...मैं तो तुम्हें बधाई देने आया हूँ।”

“बधाई! किस बात की?”

“तुम्हारे महामात्य होने की बधाई।” अंधक बाहुक मुसकराया। उसकी मुसकराहट मानो कह रही थी—‘क्या समझते हो? राजभवन की हर बात की जानकारी हम रखते हैं।’

“पर अभी तो प्रस्ताव मात्र है।” प्रद्योत बोला।

“हर उपलब्धि पहले प्रस्ताव मात्र होती है।” बाहुक पुनः मुसकराया।

“किंतु हो सकता है, यह उपलब्धि कोई भयानक शर्त लेकर आए।”

“भयानक से भयानक को भी स्वीकार करो, क्योंकि नियति की यही मंशा है।” अंधक बाहुक की ध्वनि और गंभीर हुई—“क्योंकि तुमने यदि शर्त स्वीकार न की, तो हो सकता है कोई और महामात्य हो जाए। वह स्थिति मथुरा के लिए और भी भयानक होगी। कंस इस समय प्रलंब को हटाना चाहता है। इस संबंध में उसने मगध भी सूचना भेजी है। आसपास के जो उसके मित्र राजा हैं, उनसे भी परामर्श कर रहा है। महामात्य के लिए किसी उपयुक्त व्यक्ति की तलाश में है।”

अब प्रद्योत के कान खड़े हुए। यदि जरा सी भी चूक हुई तो कोई-न-कोई ऐसा व्यक्ति महामात्य के पद पर आसीन हो जाएगा, जिसे हम बिल्कुल न जानते हों; वह इतनी दूरी पर होगा, जो हमारे लिए अलंघ्य हो जाएगा।...तब तो हमारा रहा-सहा प्रभाव भी समाप्त हो जाएगा।

“तब क्या करना चाहिए?” प्रद्योत ने पुनः पूछा।

“कंस की आज्ञा का अक्षरशः पालन।” अंधक बाहुक ने कहा। उसकी दृष्टि वातायन से बाहर अंधकार में बहुत देर तक कुछ खोजती रही।

□

आठ

स्थिति कितनी विचित्र थी। एक ईंट का दूसरे पर विश्वास नहीं, फिर भी दीवार खड़ी थी। अविश्वस्त जीवन जीते-जीते विश्वास से भी मनुष्य का विश्वास उठ जाता है। राजनीति कहती है कि एक बार अविश्वस्त ठहराए गए व्यक्ति का कभी विश्वास मत करो; जबकि नीति अविश्वस्त का भी विश्वास करके उसे विश्वस्त बना लेने पर जोर देती है। दोनों में कितना अंतर है। राजनीति व्यवहार से जुड़ी है, नीति आदर्श से। राजनीति सत्तोन्मुखी होती है और नीति मानवीय मूल्यों के निकट। राजनीति दीवार के ऊपर का पलस्तर है और नीति नींव का पत्थर। अंधक बाहुक अब नींव के पत्थर की ओर नहीं देखता। उसकी दृष्टि दीवार के पलस्तर की ओर भी नहीं है। अब वह केवल यह देखता है कि इस दीवार में दरार कैसे पड़ सकती है। यह टूट कैसे सकती है।

किंतु इस दीवार के टूटने के पहले बहुत से लोग टूट चुके हैं, टूट रहे हैं और टूट जाएंगे। प्रद्योत भी अजीब तनाव में है। एक ही दीवार के एक छोर पर सुवासिनी और दूसरे पर महादेवी है। बिखरती हुई महादेवी, आहों से भरी हुई महादेवी, आँसुओं की बाढ़ में डूबती-उतराती हुई महादेवी। किंतु दूसरी ओर अपने सपने सँजोए सुवासिनी आशा के आकाश में उड़ती चली जा रही थी।

कंस को सूचना मिली कि अमात्य पत्नी के साथ आ रहे हैं। उसे शीघ्र ही कंस के कक्ष में बुलाया गया। उद्यान से होकर महादेवी के साथ प्रद्योत कंस के प्रकोष्ठ की ओर बढ़ा। डूबते आश्विन की डूबती संध्या। शरद् की सत्ता की अनुभूति कराती हुई शीतलता।

प्रद्योत तो चाकर था। वह रोज ही महाराज की सेवा में उपस्थित होता था; पर इस बार की उसकी उपस्थिति कुछ विशेष थी। कंस उसको देखकर मुसकराया। निश्चित रूप से यह मुसकराहट महादेवी के लिए थी। उसने प्रकोष्ठ के सारे द्वार और वातायन बंद करा दिए। चाकरों को भी हटा दिया।

उस समय तो वातावरण और भी बोझिल हो गया जब कंस ने अपनी व्यक्तिगत परिचारिका सुलोचना को भी खिसकने का संकेत किया।

“मुझे बड़ी प्रसन्नता है, महादेवी, कि तुम आ गई। मैं सचमुच तुमपर प्रसन्न हूँ।”

महादेवी सामने के मंचक पर बैठी विस्फारित नेत्रों से देखती रही।

“मैं तो सोचता था कि तुम्हारी अस्वस्थता का बहाना फिर हमारे-तुम्हारे बीच आ जाएगा।”

“आप विश्वास करें, मैंने कभी अस्वस्थता का बहाना नहीं किया। मैं मूलतः अस्वस्थ थी।” महादेवी बोली।

“मैं जानता हूँ; पर अब तो स्वस्थ हो। यदि अब भी कोई मेरे और तुम्हारे बीच आता तो वह बहाना ही होता।” कंस हँसने लगा। उसे महादेवी की कमजोरी की पहचान थी।

महादेवी चुप थी। कंस बोलता चला जा रहा था—“यह तो तुम्हें मालूम ही होगा कि मैंने तुम्हारे पति को पदोन्नत करने का निर्णय लिया है।”

महादेवी अब भी चुप थी।

“अब वह महामात्य बना दिया जाएगा।” कंस बोलता गया—“किंतु यह महामात्य पद मैं उसे नहीं, तुम्हें दे रहा हूँ।”

बात बिल्कुल उलट गई थी। प्रद्योत और महादेवी दोनों चकित थे।

“क्योंकि मैं इसके लिए तुम्हारे करतब की परीक्षा लेना चाहता हूँ।...और मैं जानता हूँ कि तुम इस काम में निश्चित

सफल होगी। इस कार्य का पूर्वाभ्यास भी तुम्हारा अच्छा है।”

सारी बात तो मालूम हो गई, पर कार्य क्या करना है, किसीको मालूम नहीं। दोनों एकटक कंस को देखते रहे। उसकी मुद्राएँ पढ़ते रहे।

‘आखिर मुझे क्या करना पड़ेगा? किस कार्य का पूर्वाभ्यास मेरा अच्छा है?’ महादेवी सोचती रही।

कंस ने दोनों को संकेत से पास बुलाया। फिर कुछ कहना चाहकर भी वह रुक गया।

“आप लोग ठहरिए, मैं आता हूँ।” कंस अपने मंचक से उठकर भीतर गया और आलमारी खोलकर एक मंजूषा निकाली।

मंजूषा में एक छोटी शीशी जैसा स्वर्ण पात्र था। उसे देखते ही प्रद्योत के मस्तिष्क में बिजली कौंधी—‘ठीक ऐसे ही पात्र में सुवासिनी पुष्पगंध बटोरा करती थी।’ बस इसके बाद ही प्रद्योत के मस्तिष्क में सुवासिनी उभरने लगी। उसकी संवेदनशीलता उस माहौल में भी सुवासिनी को ही देखने लगी। उसकी मधुर कल्पना से कंस का आग्नेय व्यक्तित्व एक बार तो ढक ही गया।

अब प्रद्योत की विभिन्न स्थिति थी। बगल में शंकाकुल महादेवी, मस्तिष्क में यौवन की अँगड़ाई लेती सुवासिनी। बगल में सिसकता वर्तमान और मस्तिष्क में मुसकराता भविष्य।

“इसे देखो!” कंस वह स्वर्ण पात्र दिखाते हुए बोला, “जानती हो, इसमें क्या है?”

दोनों चुप थे।

“मैं तुम्हें इसमें विष दे रहा हूँ। महानाग विष!”

“विष!” महादेवी एकदम चौंक पड़ी।

“चौंक पड़ी!” कंस हँसने लगा—“मैंने यह विष तुम्हारे लिए अवश्य रखा है, पर तुम्हें खाने के लिए नहीं वरन् दूसरे को खिलाने के लिए।” कंस की हँसी और भी रहस्यमय हो गई। वह बोलता गया—“कल आश्विन पूर्णिमा है, शरद् पूर्णिमा। कल रात शारदीय महोत्सव मनाया जाएगा।...सुना है, वृंदावन में यह महोत्सव इस बार बड़े उल्लास के साथ होगा। कादंबरी झलकेगी। लोग आनंदविभोर होंगे।...पर इससे तुमको क्या लेना-देना! तुम्हें तो सीधे नंद के भवन में पहुँचना है।”

एक अप्रत्याशित और काल्पनिक कथा की तरह दोनों सुनते गए। कंस कहता गया—“कल यशोदा पूर्ण चंद्र राका में अपने पुत्र को दुग्धस्नान कराएंगी। उसे मंगल कुंकुम लगाएंगी। वहाँ क्षीर सागर की झाँकी होगी; क्योंकि ये सब मूर्ख उसे भगवान् समझते हैं। हो! हो! हो!” उसका उन्मुक्त अट्टहास वातावरण को झकझोरता चला गया।

“तमाशा यह कि मथुरा के लोग भी उसे भगवान् समझते हैं। कितने पागल और नादान हैं ये लोग! हा! हा! हा!” हँसी के बीच कंस बोलता गया—“हाँ, तो तुम्हें उसी समय वहाँ उपस्थित होना है।”

महादेवी प्रद्योत की ओर देखने लगी।

“प्रद्योत की ओर क्या देख रही हो?” कंस तड़पा—“मैं तुम्हींसे कह रहा हूँ—कि तुम्हें ही उस महोत्सव में उपस्थित होना है—एक आकर्षक नर्तकी की मुद्रा में।...अधिकांश स्त्रियाँ उस समय नृत्य और गायन में ही लगी रहेंगी। तुम भी उन्हींमें शामिल हो जाना—दूध में पानी की तरह, पानी में विष की तरह; चंद्र और सूर्य के बीच राहु की तरह।” इतना कहकर वह हँसने लगा। कुछ सोचकर वह काफी देर तक हँसता रहा।

हँसी बंद होते ही कंस गंभीर हुआ।

“इस पात्र को देखती हो न, कंचन का है, पर नाग विष से भरा हुआ। तुम इस विष को अपने उरोजों पर लगा लेना।” इतना कहते-कहते कंस की दृष्टि उसके उन्नत उरोजों पर गई और कुछ क्षणों तक उसपर टिकी रह गई।

ऐसी स्थिति में एक महिला सबसे पहले अपना आँचल ठीक करती है; पर महादेवी उस समय आपे में नहीं थी।

“तेरी शरीरयष्टि भी अद्भुत है, महादेवी!” कंस के मुख से निकला। फिर उसने अपना अपूर्ण वाक्य दुहराया —“हाँ, तो तू इस विष का कई बार अपने स्तनों पर लेप कर लेना। फिर इस पात्र को यमुना में अच्छी तरह धो डालना और इसे अपने कटिबंध में छिपा लेना। विपत्ति के समय यह तुम्हारे काम आएगा।”

दोनों मूर्तिवत् खड़े सुनते रहे।

कंस दोनों की जड़ता पर पुनः हँसा—“तुमने यह नहीं पूछा कि यह क्या काम आएगा? शायद तुम दोनों डरते हो। डरनेवाला व्यक्ति कुछ नहीं कर सकता। मुझे देखो, मैं मृत्यु को भी ललकारता हूँ।” उसने एक नकली हँसी पुनः अधरों पर उगाई।

कंस इस समय और भी रहस्यमय लगा।

“नृत्य में तो प्रवीण हो ही तुम! तुम्हारा नृत्य मैंने देखा है। एक बार तो तुम छा ही जाओगी। बस नाचते-नाचते उस यशोदा के बच्चे को उठा लेना। गोद में लेकर नाचने लगना। उसका चुंबन लेना, उसे प्यार करना और चुपचाप अवसर देखकर अपनी छाती से लगा लेना। स्तन में मुँह लगाते ही उसके प्राण-पखेरू उड़ जाएँगे। इतना तेज विष है कि चीख भी नहीं निकलेगी और जिंदगी सो जाएगी।” कंस मुसकराया—“बस इतना ही करना है तुझे। इसके बाद धीरे से वहाँ से खिसक चलना। यदि मार्ग में कोई बाधा मिले तो इस स्वर्ण पात्र से काम लेना।...तुम इसे दे भी सकती हो। स्वर्ण की चमक ही बहुत सी कठिनाइयों को हल कर देती है। और फिर तुम तो एक विदुषी हो, परिस्थितियों को झेलना और उन्हें परास्त करना खूब जानती हो।” इतना कहकर कंस पुनः अपने मंचक पर बैठ गया।

कंस से जो कुछ सुना, वह महादेवी की कल्पना के परे था। उसे लगा, धरती हिल रही है। सामने ज्वालामुखी फूट रहा है और बहुत शीघ्र वह उसमें गिरकर भस्म होने वाली है। उसने धीरे से प्रद्योत का हाथ पकड़ा और इतना जकड़कर पकड़ा कि भूकंप का बड़ा-से-बड़ा झोंका भी उसे गिरा न सके।

“...और हाँ, इस सारी योजना का पता भी हम तीन के अतिरिक्त चौथे को न लगे।” कंस अचानक बोल बड़ा —“और प्रद्योत! कल सूर्यास्त के बाद, अँधेरा होते ही तुम महादेवी को यमुनातट तक अपने रथ से पहुँचा देना। याद रखना, रथ पर सारथि नहीं होगा। रथ-संचालन तुम स्वयं करोगे। सारथि होने से बात खुलने की आशंका है।

“अब तुम जा सकते हो।” सारी बातें अच्छी तरह समझाकर विष पात्र देते हुए कंस ने कहा।

विष पात्र को भी प्रद्योत ने ही थामा। महादेवी अब भी काँप रही थी। वह बाहर से अधिक भीतर से काँप रही थी, फिर भी खड़ी रही।

कंस ने उसे स्थिर देखकर पूछा, “कुछ कहना चाहती हो?”

“हाँ, महाराज!” स्पष्ट लगा कि वह प्रयत्नपूर्वक बोल रही है—“यदि यह कार्य मुझसे न हो सके तो?”

“तो तुम्हारा वध होगा! तुम्हारे पति का वध होगा, तुम्हारे परिवार का वध होगा!” कंस तड़पा।

महादेवी को स्पष्ट लगा कि ज्वालामुखी फूट चुका है।

“तुमने कैसे कहा कि यह कार्य नहीं होगा? तुम्हारा यह साहस कि तुम राजाज्ञा की अवहेलना करो? कंस के क्रोध को तुमने अभी नहीं देखा है, महादेवी! जो तुम्हारे पति को महामात्य बना सकता है, वह तुम दोनों को एक क्षण में भू-लुंठित भी कर सकता है। तुम्हें अब दो में से एक को चुनना है, अपने पति के लिए महामात्य पद या मृत्यु!

“तुम अपने उद्देश्य में यदि असफल हुईं तो बहुत होगा तो यही होगा कि वृंदावनवासी तुम्हें मार डालेंगे।” कंस की ध्वनि अब आरोह की ओर थी। लग रहा था कि वह फिर समझाने की चेष्टा कर रहा है—“मरोगी तो तुम हर

स्थिति में; किंतु उद्देश्य में सफल होने पर जीवन की आशा कर सकती हो। मेरे आदेश को नकारकर मृत्यु ध्रुव है।”

“यदि आदेश का पालन करने पर भी सफलता न मिली, तब?” यह लड़खड़ाती आवाज प्रद्योत की थी।

“तो हो जाने दो असफलता। अरे कितने लोग असफल हुए, तो क्या इससे प्रयत्न छोड़ दिया जाए? असफलताओं की शृंखला ही सफलता का सोपान बनाती हैं, प्रद्योत!” एक क्षण रुककर कंस फिर बोलने लगा—“ईमानदारी से प्रयास किया जाना चाहिए। महादेवी के असफल होने पर भी तुम महामात्य तो बनाए ही जाओगे। भले ही महादेवी को अपना जीवन देना पड़े।...और महादेवी मेरे लिए नहीं वरन् अपने परिवार की खुशहाली के लिए, तुम्हारे भविष्य की उज्ज्वलता के लिए अपना बलिदान नहीं कर सकती?”

फिर भी दोनों कुछ सोचते हुए खड़े रहे।

“अच्छा, अब तुम जा सकते हो। अपना बुरा-भला खुद सोचो।” दृश्य का पटाक्षेप हो गया।

□

महादेवी के मन की उदासी संध्या पर छा गई थी। चतुर्दशी के चंद्र का टेढ़ा मुख पूरब के आकाश में लटक रहा था। प्रद्योत और महादेवी—दोनों अपने आवासीय उद्यान में बैठे हुए थे। दोनों एक-दूसरे के अगल-बगल। बीच में मौन की एक अलंघ्य दीवार। अपने-अपने में खोए और डूबे हुए।

थोड़ी ही देर में उन्हें रथ की घरघराहट सुनाई दी और फिर चाँदनी रात के प्रथम प्रहर में भी एक हलचल हुई। पितामह अंधक बाहुक के आने की सूचना मिली।

“मैं समझता हूँ कि तुम लोग इस समय गंभीर चिंतन में डूबे हुए हो।” अंधक बाहुक ने आते ही कहा।

“सचमुच हम गंभीर द्विविधा में पड़े हैं।” प्रद्योत बोला।

“किस प्रकार की द्विविधा? कैसी द्विविधा?” अंधक बाहुक बोला, “निर्णय लो। तुम्हारे निर्णय की प्रतीक्षा आज मथुरा कर रही है।...आग यदि भभककर जलेगी तो राख भी जल्दी होगी। घटनाएँ भी यदि शीघ्र घटित होंगी तो निष्कर्ष भी जल्दी निकलेगा।” अंधक बाहुक के कथन का तात्पर्य था कि कंस के आदेश का पालन ही उसके विनाश को निकट लाएगा। भगवान् की कुछ ऐसी ही मंशा है। विनाशकाले विपरीत बुद्धि:। इस समय उसकी बुद्धि का हर निर्णय उसके विरुद्ध होगा।

बातचीत से प्रद्योत को लगा कि कंस से हुई आज की गुप्त वार्ता का आभास पितामह को लग गया है। फिर भी वह बोला, “आप नहीं जानते, पितामह, कि हम किस मनःस्थिति में हैं! हम आपसे हृदय की व्यथा भी खुलकर नहीं कह सकते।”

“मत कहो। मुझे इसकी जरूरत भी नहीं है।” अंधक बाहुक मुसकराया। उसे आभास अवश्य हो गया था; पर योजना का विस्तृत विवरण मालूम नहीं था। वह हँसते हुए बोला, “निर्णय लो, प्रद्योत! नियति तो अपना कार्य करेगी ही। अधिक-से-अधिक यही होगा कि तृणावर्त की तरह, शकट की तरह महादेवी भी मारी जा सकती है।”

दोनों अंधक बाहुक को एकटक देखते रहे। वह बोलता रहा—“...मरने को तो आज पूरी मथुरा मर रही है। हम सब भी एक-न-एक दिन मरेंगे। जब मरना निश्चित है तब उससे डरना क्या! और महादेवी मरने नहीं, बलि चढ़ने जा रही है। हो सकता है, उसकी मृत्यु कोई चमत्कार करे।”

मुझे आचार्यजी ने बताया था कि इसके बाद अंधक बाहुक ने एक वैदिक उक्ति कही थी—‘वद्भान्युच्यासि पद्धकम्’ (जो बंधनों में पड़े हैं, उन्हें मुक्त करो)। इसके बाद से यह उक्ति अंधक बार-बार दुहराता रहा।...और जहाँ भी वह कुछ लोगों के बीच में होता, यही कहता—“देखो, कंस के कारागार में कितने लोग बँधे पड़े हैं। उन सबका

बंधन तुम्हें पुकार रहा है, तुम्हारे बलिदान को पुकार रहा है। तुम सब खड़े हो। वद्वान्युच्यासि... ”

इस अंधक बाहुक की यहाँ उपस्थिति का प्रयोजन स्पष्ट था। वह यह बताना चाहता था कि हमारे कान अंतःपुर में भी पहुँचे रहते हैं। वहाँ जो कुछ होता है, उसका आभास हमें लग जाता है। हम लगभग जान जाते हैं कि एकांत में भी कंस क्या सोचता है, क्या करता है। अंधक बाहुक का दूसरा प्रयोजन था—डूबती महादेवी के लिए उद्बोधन करना, उसे उत्साह दिलाना, मृत्यु के वरण के लिए उसे शक्ति देना।

अंधक बाहुक अपना कार्य कर चला गया। रात घिरने लगी।

शयनकक्ष में महादेवी पड़ी थी और बगल के पर्यंक पर प्रद्योत भी। सामने दीवार में बने ताखेनुमा स्थान में महाविष से भरा वह स्वर्ण पात्र रखा था। दीपशिखा की प्रकंपित ज्योति जब उसपर पड़ती, उसकी चमक भभक उठती। महादेवी को लगता, उसकी चमक में अनेक बच्चों की चीखें हैं। अनेक बालकों की मृत आत्माएँ उसमें बंद हैं। किंतु प्रद्योत के लिए वही चमक सुवासिनी की बड़ी-बड़ी आँखों का स्मरण कराती। उसे लगता, यह महागंध पात्र है, सुवासिनी के व्यक्तित्व की मोहकता उससे लिपटी है।

प्रद्योत उस पात्र को अपनी दृष्टि से देख रहा था, महादेवी अपनी दृष्टि से। एक की वासना नेत्रों से उतरकर अंधकार में खोती चली जा रही थी और दूसरे की वितृष्णा और घृणा उस पात्र से निकलकर उसे ही चुभती चली जा रही थी।... चुभती चली गई। वह अचानक तिलमिला उठी—“हटाओ उस कनक पात्र को। हटाओ मेरी आँखों के सामने से!”

“क्यों, तुम्हें सुवासिनी नहीं अच्छी लगती?” प्रद्योत के मुख से अचानक छलक गया। अपने चिंतन की इस नादानी पर वह स्वयं व्यग्र हो उठा। उसकी व्यग्रता उस नादान बालक की व्यग्रता जैसी थी, जिसके तन का सारा वस्त्र अचानक खुलकर गिर गया हो। प्रद्योत की तन्मयता मुखर हो गई थी। वह नंगा हो गया था।

“कैसी सुवासिनी? कहाँ है सुवासिनी?” महादेवी की विह्वल चीख उस अंधकार में तड़फड़ाई। वह अपने पर्यंक पर उठ बैठी, जैसे सुवासिनी से मिलने जा रही हो।

अब प्रद्योत क्या कहे? फिर भी उसकी बुद्धि ने एक रास्ता निकाला। उसने कहा, “मैं कह रहा था कि अब तुम्हें सुवासिनी का अनुसरण करना होगा।”

“तुम्हारा तात्पर्य?”

“यही कि जैसे सुवासिनी अचानक गुम हो गई वैसे तुम्हें भी गुम हो जाना पड़ेगा।” प्रद्योत बोला।

“मेरे गुम होने से काम चले तो मैं तैयार हूँ।” महादेवी बोली, “पर मेरे गुम होने पर तुम मारे जाओगे। और जब तुम्हीं न रहे तो मैं जी कर क्या करूँगी?”

प्रद्योत चुप था। महादेवी की ध्वनि उससे ऐसे टकराई थी कि वह भीतर-ही-भीतर तिलमिला उठा था। वह स्वयं को कोसने लगा था—‘तुम कितने नीच हो, प्रद्योत! तुम्हारी जीवनसंगिनी तुम्हारे बिना जीवन को भार समझती है—और सुवासिनी से लिपटी तुम्हारी वासना उस सती-साध्वी को भार समझती है। तुम उसे मार्ग से हटाना चाहते हो और वह तुमसे दूर जाना नहीं चाहती। वह तुम्हारे प्रति समर्पित है और तुम किसी और के प्रति। तुम कितने नीच हो, प्रद्योत! तुम स्वयं को कभी क्षमा नहीं कर सकते।’

“क्या सोचने लगे?” महादेवी ने अपने पति के मौन को झकझोरा।

“कुछ नहीं।” प्रद्योत ने स्वयं को सँभालते हुए कहा, “अब तुम्हें सो जाना चाहिए।”

“मैं जब भी सोने की चेष्टा करती हूँ, बहुत सारे बच्चे मुझे घेर लेते हैं। पूछते हैं कि हमने कौन सा अपराध किया था कि तुमने हमारे प्राण ही ले लिये!”

“यह तुम नहीं, तुम्हारा अपराधी मन तुम्हें परेशान कर रहा है।” प्रद्योत बोला, “...और केवल इसलिए कि तुम अपने कृत्यों को अपराध समझती हो।”

“अपराध नहीं तो और क्या समझूँ?”

“इसे ईश्वर की इच्छा समझो। बिना ईश्वर की इच्छा के मनुष्य कुछ नहीं कर सकता।”

कभी-कभी व्यग्रता के काँटों में भी फूल खिलते हैं। महादेवी हँस पड़ी—“यह तुम्हारा तर्क नहीं, तर्काभास है, प्रिय!”

□

मनुष्य अपनी पत्नी का स्वामी होता है और प्रेमिका का दास। प्रद्योत एक अच्छा पति भी था और स्नेहिल प्रेमी भी। उसकी यही दोहरी विशेषता उसके कष्टों का कारण थी। एक ओर उसकी पत्नी का समर्पण, दूसरी ओर सुवासिनी का आकर्षण। इस दोहरे खिंचाव में वह कभी भी टूट सकता था; किंतु उसकी मानसिकता एक चतुर नट की तरह इस खिंचाव पर चलती हुई अपना संतुलन बनाए थी।

आज वह दिन में कहीं गया नहीं। अधिकांश समय उसने महादेवी के कक्ष में ही बिताया; पर चुप रहकर, उसे सुनते हुए, उसे सांत्वना देते हुए—और यह समझाते हुए कि वह बलिवेदी पर चढ़ने जा रही है। उसकी नियति भी शकट और तृणावर्त की तरह उसकी प्रतीक्षा कर रही है।

वियोग के अंतिम बिंदु पर आते-आते मोह का घनत्व बहुत बढ़ जाता है और कभी-कभी वह द्रवीभूत भी हो जाता है। शायद यही कारण था कि आज रह-रहकर प्रद्योत की आँखें भर आती थीं।

“इच्छा तो थी कि मथुरा से बिदा होते समय मैं कुछ लोगों का चरण स्पर्श करती, बिदा माँगती...।” महादेवी बोली।

“पर तुम ऐसा कर कैसे सकती हो?” प्रद्योत ने कहा।

“यही तो मैं भी सोचती हूँ।” महादेवी बोली, “हाय री नियति! जीवन भर मैं रहस्य बनी रही और अंत में भी मथुरा से गोपनीय रहस्य की तरह चली जाऊँगी। किंतु इसके सिवा और कोई चारा भी तो नहीं है।”

दूसरे दिन ज्यों-ज्यों संध्या निकट आती रही, महादेवी और प्रद्योत दोनों संत्रास से घिरते चले गए। आशंकित मन ने जैसे स्वीकार कर लिया था कि आनेवाले अँधेरे से वे शायद ही उबर सकें।

चंद्रोदय के कुछ बाद ही प्रद्योत का रथ निकल पड़ा। महादेवी आज जीवन का अंतिम श्रृंगार किए बैठी थी। जूड़े में गुँथी हुई बेला और यूथिका की मालाएँ, पगों में झनझनाते नूपुर, बाँहों में कपूर और हाथों में स्वर्णिम वलय। आकृति पर एक निर्भ्रांत निश्चिंतता ओढ़े हुए। मौन से लिपटी, दुःस्वप्नों से घिरी-घिरी—रथ के मध्य में बैठी महादेवी।

प्रद्योत का रथ राजपथ को छोड़कर जंगल के सन्नाटे की ओर मुड़ा। भयग्रस्त एकांत। सामने आकाश में लटकता हुआ गोल-मटोल, बड़ा सा जलता हुआ चंद्रमा। कहते हैं, शरद् पूर्णिमा का चंद्र बड़ा शीतल होता है; पर दोनों की पीड़ित मनःस्थिति के कारण वह आग बरसाता हुआ मालूम हो रहा था। लगता था जैसे किसी ज्वालामुखी के गर्भगृह से निकला चला आ रहा है।

धीरे-धीरे वे नगर से दूर होते गए। जंगल घना होता गया। कुछ आगे बढ़ने पर झुरमुट की सघनता में कुछ खड़खड़ाहट हुई और श्रृंगालों का एक जोड़ा रथ का मार्ग काटकर दूसरी ओर निकल गया। अरे, यह तो महान् अनिष्ट का द्योतक है। प्रद्योत ने रथ रोका और धनुष-बाण लेकर कूद गया।

“कहाँ चले?” बड़े शांतभाव से महादेवी बोली।

“उस शृगाल युगल का वध करने।”

“क्यों?”

“उसने हमारा रास्ता काटा है। यह महान् अशुभ का द्योतक है।”

“तो उसका वध करने से इस अशुभ का परिहार हो जाएगा!” महादेवी हँसी। उस ज्योत्स्ना में घुलकर उसकी हँसी और भी उज्ज्वल हो गई—“लगता है, कंस के तुम सही अमात्य हो।”

प्रद्योत की प्रश्नवाची मुद्रा उसे देखती रह गई।

“क्योंकि हर समस्या का समाधान वध में ही खोजते हो।” महादेवी ने अपना वाक्य पूरा किया।

“शास्त्र ऐसा ही कहते हैं कि ऐसी स्थिति में यदि शृगाल का वध कर दिया जाए तो अशुभ मिट जाता है।” प्रद्योत बोला और आगे बढ़ा। महादेवी ने उसे फिर रोका—“अब कहाँ मिलेगा वह शृगाल! वह तो अंधकार में खो गया।” महादेवी के समझाने पर वह पुनः रथ पर चला आया। देर हो रही थी। प्रद्योत ने रथ आगे बढ़ाया; पर उसका मस्तिष्क अनिष्ट और अंधकार से उलझता रहा। वह सोचता रहा। अचानक उसके मुख से निकल पड़ा—“पता नहीं किस अशुभ घड़ी में इस अनिष्ट और अंधकार का साथ हुआ!”

“जिस अशुभ घड़ी में तुमने कंस की चाकरी आरंभ की।” महादेवी की प्रतिक्रिया थी। प्रद्योत को आश्चर्य था कि वह इतने धीरे से बोला था, फिर भी महादेवी ने सुन कैसे लिया। उसने मुड़कर देखा, वह गंभीर थी। उसने कभी इतनी निश्चित, इतनी सौम्य और इतनी सहज महादेवी को नहीं देखा था।

तनाव की चरम सीमा एक ऐसे टूटन पर समाप्त होती है, जहाँ से व्यक्ति तनावमुक्त हो जाता है। भीतर से टूटी हुई महादेवी मुक्त थी। वह प्रद्योत को बहुत अच्छी लग रही थी।

यमुना के तट पर आकर रथ रुक गया। प्रद्योत उतरा। अब वह महादेवी से कैसे कहे कि बस मैं यहीं तक तुम्हारा साथ दे सकता हूँ। फिर भी मौन ने ही सबकुछ कह दिया और महादेवी उतर गई।

कुछ क्षणों तक दोनों एक-दूसरे को देखते रहे—कि महादेवी अचानक आगे बढ़ी और प्रद्योत के चरणों की ओर झुकी।

“यह क्या कर रही हो, देवी?” प्रद्योत बोल पड़ा।

“मुझे क्षमा करना! मैंने तुम्हें बहुत परेशान किया है।” महादेवी के नेत्र सजल हो आए थे। प्रद्योत ने उसे अपने आलिंगन में खींच लिया। दो शरीर एक हो गए। हृदय की समवेत धड़कन नयनों में प्रवाह बन गई। अंधकार सिसकियाँ पीता रहा। चाँदनी विवशता बटोरती रही।

प्रद्योत ने यहीं तक कथा मुझे सुनाई है। इसके बाद क्या हुआ, पता नहीं। यदि कल्पना की सजगता से इस अंतराल को न भरूँ तो महादेवी की मानसिकता का यह रेखांकन अधूरा रह जाएगा।

तो रथ लौट गया। प्रद्योत चला गया। रह गया अँधेरा। साँय-साँय करता एकांत, तट की रेत पर बिछलती चंद्रिका और सहजभाव से बहती यमुना।...और रह गया महादेवी का अकेलापन, उसकी निःसंगता।

महादेवी कुछ समय तक अपने अकेलेपन को ही टटोलती रही। फिर उसने अपनी कंचुकी के मध्य भाग पर हाथ रखा। उसके धड़कते हृदय के पास ही वह

विष पात्र सुरक्षित था। वह धीरे-धीरे यमुना की ओर बढ़ी।

पहले उसने यमुना के जल को मस्तक पर छिड़का, फिर उसने चारों ओर देखा। कोई नहीं, केवल एकांत। उसने अपनी कंचुकी खोली। विष पात्र को बगल में रखा। फिर अपने उन्नत उरोजों की ओर देखा। उन्हें टटोलने लगी। एक विचित्र अनुभूति हुई; जैसे आज उसके हाथ उसके नहीं थे। वह देखती रही। प्रगल्भ चाँदनी! उन्मत्त उरोज!

उसने कभी अपने यौवन को इतने करीब से नहीं देखा था, कभी अपने सौंदर्य पर इतना मोहित नहीं हुई थी। संसार से बटोरकर उसने सारा मोह अपने पर ही उड़ेल लिया था। जगत् से विराग की स्थिति में स्वयं से इतना अनुराग! शायद मनुष्य की यह भी एक दुर्बलता है।

इस अनुरागमय स्थिति में भी वह अचानक काँप उठी; जैसे उसे अंधकार में कुछ दिखाई दिया। उसे लगा कि कंस के अग्नि प्रक्षेपित नेत्र उसे घूर रहे हैं। उसने चुपचाप उस विष पात्र को खोला और हथेली पर विष उड़ेलकर उरोजों पर धीरे-धीरे मलने लगी।

जहाँ वह कभी अंगराग लगाती थी, आज विष लगा रही है। हाय रे नियति!

□

जैसा मैं बता चुका हूँ, चंद्र के प्रति मेरा आकर्षण जन्मजात था। पूर्ण चंद्र को देखकर तो मैं विभोर हो जाता था। उसे माँगता था। कभी बड़े थाल में जल भरकर चंद्रमा धरती पर उतारा भी जाता। कभी यशोदा माँ पुष्करिणी के निकट ले जाकर उसमें चंद्रमा का प्रतिबिंब दिखाती। मैं उसे पकड़ने की चेष्टा करता। लहरें उठतीं। एक चंद्रमा अनेक हो जाता। मेरा मन करता कि मैं इसमें कूद पड़ूँ। आप विश्वास मानिए, यदि लोग मुझे पकड़े न होते, मैं पुष्करिणी में कूद भी पड़ता।

मेरे वय के साथ चंद्र के प्रति मेरा यह आकर्षण कम नहीं हुआ वरन् बढ़ता ही गया। इसीसे हर पूर्णिमा की रात मेरे लिए एक उत्सव होता।...और वह शरद् पूर्णिमा! वह तो एक विशेष उत्सव की रात थी।

नंदजी के उपवन के मध्य में ही मेरे लिए एक बाल उद्यान बनाया गया था। उसमें एक छोटा और छिछला-सा तरणताल था। उसीमें पहले मैं 'छिपकोरियाँ' खेलता और बाद में तैरना सीखकर उसमें तैरने भी लगा।

तैरना मेरी रुचि थी। मेरे प्रकृति के निकट था। कहते हैं, इस कला का श्रीगणेश मेरे जनक वसुदेव ने ही कराया था।

मैंने सुना है, वसुदेव वृंदावन में कुछ दिनों का अज्ञातवास कर रहे थे। वे नित्य ही मेरे प्रासाद में आते थे। उनका मुख्य आकर्षण मैं ही था। एक दिन पिताजी ने ही उनसे कहा था, "महाराज, आप कन्हैया को तैरना सिखा दीजिए।"

"यह कार्य मुझे मत सौंपिए।" वसुदेवजी ने कहा। वह मुझसे दूर ही रहना चाहते थे। पर नंद उन्हें सबसे अच्छा तैराक मानते थे। मेरे जन्म के समय की अँधेरी रात में बाढ़ की उफनती यमुना को पार करनेवाले व्यक्ति से उपयुक्त कोई और व्यक्ति इस कार्य के लिए पिता नंद की दृष्टि पर चढ़ता ही नहीं था।

बहुत कहने-सुनने पर वसुदेवजी मान गए; पर शर्त यह थी कि वे यमुना में तैरना नहीं सिखाएँगे। पिताजी समझ गए कि वसुदेव और कन्हैया का खुला संपर्क लोगों के लिए संदेहमूलक होगा। पता नहीं कौन सी अफवाह मथुरा में फैल जाए।

आश्चर्य है, जबकि लोग मुझे इतना जान गए थे, तब भी मुझे छिपाया जा रहा था। कितना हास्यास्पद है आग को धुएँ में छिपाना। धुआँ, जो आग के अस्तित्व का उद्घोषक, क्या उसे छिपा सकेगा! पर मेरे संदर्भ में यही किया जाता रहा।

निदान, निश्चय हुआ कि नंदोद्यान के विशाल सरोवर में मैं तैरना सीखूँ। उसका जल निकालकर अच्छी तरह उसे साफ किया गया। फिर ताजा पानी भरा गया।

नंदजी ने वसुदेव पर व्यंग्य करते हुए कहा, "चलिए, अब आराम से बंद पानी में तैरिए।"

"बहते पानी से बंद पानी में तैरना बड़ा कठिन होता है, नंद!" वसुदेव बोले थे। उनके कथन में जहाँ एक ओर

वैज्ञानिक यथार्थ था, वहीं एकांतवास के घुटन भरे जीवन की कड़ुवाहट भी। नंद हँसकर रह गए थे।

मुझे ठीक याद है, वसुदेवजी मुझे लेकर उस सरोवर में कूद पड़े और मुझे छोड़ दिया। मैं बिल्कुल घबरा गया। मुझे डुबाने के लिए ले आया गया है क्या? मैं चिल्लाया, छप-छप हाथ-पैर मारते हुए जीवन का अंतिम संघर्ष मैंने आरंभ किया। मेरे चिल्लाने से किनारे खड़े लोग घबरा गए। नंद तो काफी व्यग्र लगे। पर वसुदेवजी हँस रहे थे। मैं जब पानी पी लेता और डूबने लगता, तब वे हाथों का सहारा देकर ऊपर कर देते। घंटों यह क्रिया चलती रही। बस मैं तैरना सीख गया। डूबने-उतराने का मेरा यह संघर्ष मेरे तैराकी जीवन का प्रथम संघर्ष था।

एक बात और स्पष्ट कर दूँ कि वृंदावन का ही नहीं वरन् पूरे आर्यावर्त का मैं सबसे छोटा तैराक था। शायद इसीलिए मेरे पिताजी ने वसुदेव की बड़ी प्रशंसा की कि इतनी आसानी से उन्होंने मुझ दुधमुँहे बच्चे को तैरना सिखा दिया।

“कोई किसीको सिखा नहीं सकता, नंद! जीवन में बड़ी क्रियमाण शक्ति होती है। वह स्वयं तैर लेता है। उसे तो केवल डूबते समय सहारे की आवश्यकता होती है। और संसार इतना ही कर भी सकता है।” वसुदेव ने कहा।

विषम परिस्थितियों को झेलते-झेलते उनके चिंतन में दार्शनिकता का घनत्व अधिक हो गया था। उनका हर वाक्य जीवन के गंभीर अनुभवों में डूबा होता। यही कारण था कि उसके कई सांकेतिक अर्थ निकलते थे। आज मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि मेरी दार्शनिकता पर मेरे जनक का प्रभाव बहुत गहरा है।

...तो बात शारदीय महोत्सव की चल रही थी। इस महोत्सव में भी मैं दुग्ध भरे अपने लघु तरणताल में तैर रहा था। उस धवल धारा में मैं अपनी प्रकृति के अनुसार चंद्रबिंब पकड़ने की चेष्टा करता रहा। यशोदा सहारे के लिए उस ताल में ही खड़ी थी। थोड़ी देर बाद रजत पत्रों से जड़ित और श्वेत गद्दियों से युक्त एक छोटी सी नौका उसमें डाल दी गई। अब यशोदा ने मुझे उस दुग्ध धारा से निकालकर नौका में डाल दिया। ब्राह्मणों ने स्वस्तिवाचन किया। मंगलगान करती युवतियों ने मुझपर यूथिका और पारिजात के पुष्प बरसाए।

कितना अद्भुत था! दुग्ध धारा श्वेत, रजतवर्णी नौका श्वेत, मुझपर बरसाए गए पुष्प श्वेत, मंगलगान करती युवतियों के परिधान भी धवल और संपूर्ण ज्योत्स्ना भी दूध में नहाई और धुली हुई। इस श्वेतिमा की लघु सृष्टि में यदि कहीं कालिमा थी तो मेरी शरीरयष्टि में।

फिर वह नृत्य आरंभ हुआ, जिसके लिए महादेवी भेजी गई थी। श्वेत वस्त्रों में परिवेष्टित उसके व्यक्तित्व से फूटती आज उसकी कला चरम उत्कर्ष पर थी। उसका नृत्य इतना मोहक था कि दर्शक तो दर्शक, अन्य नृत्यांगनाएँ भी उसे देखने लगीं। यशोदा भावविभोर थी। मैं एकटक उसे देख रहा था। उसका नृत्य समापन पर आते ही किसी नर्तकी ने उससे पूछ ही दिया—“तुम तो इस गाँव की नहीं मालूम होतीं, गोरी?”

वह एकदम खड़ी हो गई। शंकाकुल मन काँप उठा। फिर भी उसने स्वयं को सँभाला—“नहीं। मैं मथुरा की हूँ। इस महोत्सव में अपनी कला का अर्घ्य चढ़ाने आई हूँ।”

“कला का अर्घ्य चढ़ाने! नर्तन ही तुम्हारा व्यवसाय है?” किसीने पूछा।

‘हाँ।’ सिर हिलाकर मुसकराते हुए उसने स्वीकार किया। कई नेत्र एक साथ उधर उठे; पर महादेवी ने अपने साहस को बटोरे रखा।

“मथुरा की नर्तकी हो, तो नाचो न!” तरणताल में खड़ी यशोदा हँसकर बोली।

महादेवी का नृत्य पुनः आरंभ हुआ। एक घड़ी बीत गई होगी, पर वह नाचती रही।

मध्य रात्रि का पूर्ण चंद्र आकाश में था। चाँदनी पारिजात के पुष्प की तरह बरसती रही। उत्सव में आए बच्चे सोने लगे थे। कुछ नींद में झूम रहे थे, कुछ वहीं ढुलक गए थे। स्त्री-पुरुष अब भी जाग रहे थे। महादेवी अब भी नाच

रही थी।

“सोते हुए बच्चों को प्रांगण में लगे बिस्तरों पर लिटा दो।” यशोदा बोली।

लोगों की दृष्टि उधर गई। बच्चे हटाए जाने लगे। उस ओर देखते ही महादेवी ठिठक-सी गई। वह क्या देख रही है? उसे स्वयं पर आश्चर्य था—‘अरे, इसमें तो मेरे भी बच्चे हैं!’ उसके भीतर से आवाज उठी और मुख तक रह गई। ‘प्रभास एकदम सो गया है। सुवास नींद में झूम रहा है। उसके सामने ही उन बच्चों को दूसरे हटाए लिये चले जा रहे हैं। मेरे ही बच्चे और मुझसे दूर! आज मैं उन्हें अपनी छाती से भी नहीं लगा सकती। यह कैसी विडंबना है!’ ‘क्या उन्होंने मुझे देखा नहीं या पहचाना नहीं?’ बच्चे माँ को न पहचानें, ऐसा हो नहीं सकता। यह हो सकता है कि उन्होंने मुझे पहचानने से इनकार कर दिया हो। हाय रे मेरी नियति! और हाय रे मेरे कर्म! मैं सचमुच बालहंता हूँ। पूतना हूँ। भविष्य मुझे इसी नाम से स्वीकार करेगा। मैं भुला दी जाऊँगी, पर मेरे कर्मों की कालिमा इतिहास के पन्नों में अपना जघन्य मुख दिखाती रहेगी।’ महादेवी सोचती रही। उसका मस्तिष्क चकराने लगा। उसे लगा जैसे धरती हिल रही है, ज्वालामुखी फूटने वाला है। वह उसमें समा जाएगी। वह काँपकर गिर गई।

“क्या हुआ कि नर्तकी गिर गई? नर्तकी गिर गई।” चारों ओर से आवाज उठी। लोग महादेवी की ओर बढ़े। लोगों ने देखा, डाल से चूकी बंदरिया की तरह वह होश में होते हुए भी उठ नहीं पा रही है। वह उठाई गई।

“क्या हुआ, नर्तकी?” उठानेवाली गोपी ने पूछा।

“चक्कर आ गया है।” वह बोली। अब तक मेरी माँ यशोदा भी आ गई थी।

“नर्तकी को ले जाकर मेरे शयनकक्ष के बगलवाले कक्ष में लिटा दो।” माँ ने कहा।

महादेवी ले जाई जाने लगी। कुछ ही दूरी पर नींद में डूबे हुए सुवास और प्रभास भी ले जाए जा रहे थे। वह मुड़-मुड़कर देखती है।

“क्या देखती हो, बहन?” ले जानेवाली गोपियों में से एक ने पूछा।

“नियति का अत्याचार देख रही हूँ।” इतना कहते-कहते वह गोपिका के कंधे पर सिर धरकर रोने लगी।

“क्या हो गया, बहन? क्या बात है?” गोपिकाएँ पूछती चली गईं। वह सिसकती ही रही।

अंत में महादेवी ने स्वयं पर नियंत्रण किया और बात बदल दी—“कैसा प्यारा लग रहा था कृष्ण कन्हैया! मुझे नाचना चाहिए था और मैं बिस्तर पर लिटा दिए जाने के लिए विवश कर दी गई। यह नियति का अत्याचार नहीं तो और क्या है!”

गोपियों ने सांत्वना दी—“इसमें तुम्हारा वश क्या! आज रात विश्राम करो, कल संध्या समय हम लोग फिर नाचेंगे, गाएँगे।”

निर्दिष्ट कक्ष में एक विनम्य शय्या पर महादेवी पड़ी है। कक्ष के सभी वातायन खुले हैं। शीतल मंद और सुगंधित वायु के झोंके रह-रहकर आ रहे हैं। वातायनों से बिखरती चाँदनी का दुग्ध धवल रूप सिमटने लगा है—क्योंकि चंद्र इस समय मध्याकाश में है।...किंतु महादेवी के चिंतन का आकाश फैलता जा रहा है। मेरे जिस रूप को उसने देखा, वही उसकी आँखों के सामने आ रहा था। किलकारी भरता, हाथ-पैर मारता एक बालक दुग्ध सर में पड़ी एक रजत नौका में लेटा है। उसकी मोहकता, उसकी उन्मुक्त हँसी महादेवी के मन में समाती है। वह मेरे संबंध में सोचती चली जाती है—‘क्या मैं उस बालक को उठाकर अपने स्तन से लगा सकूँगी? मैं अनेक बार झुकी थी। किसीने मुझे रोका तक नहीं। शायद मेरे नृत्य का प्रदर्शन इतना उत्कृष्ट था कि लोग मेरे अभिनय की चपेट में आ गए। मैं जब भी झुकती, हर बार उस बालक की मुसकराहट और किलकारी ढाल की तरह सामने आ जाती थी।...मैं उसे उठा भी नहीं सकी। वस्तुतः उसे उठाना भी आसान नहीं। वह उतना छोटा भी नहीं, जितना मैं सोचती

थी। वह अपने वय से काफी बड़ा लगता है; मानो पाँच-छह वर्षों का हृष्ट-पुष्ट बालक हो।’

महादेवी सोचती गई—‘क्या मैं अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकूँगी? तब क्या करूँगी? चुपचाप उठकर भाग चलूँ?...पर जाऊँगी भी तो कहाँ जाऊँगी? चारों ओर मृत्यु ही तो दिखाई देती है। फिर क्यों नहीं उद्देश्य का पालन करते हुए मरूँ! पितामह (अंधक बाहुक) का कहना है कि कंस की आज्ञा मानकर उसके पापों का घड़ा भरो।...कुछ भी हो, प्रयत्न अवश्य करूँगी। मैं कंस के पापों का घड़ा अवश्य भरूँगी।’

इसी बीच खुले वातायनों से झाँकते अनेक बालक उसे दिखाई देते हैं। मानो वे चीख रहे हों—‘तुम हमारी ओर देखो, हमारे छिने गए प्राणों की ओर देखो। अपने पाप के भर रहे घड़े की ओर देखो, तब कंस के पाप के घड़े को भरने की चेष्टा करना।’ महादेवी विचलित हो जाती है। वह करवटें बदलने लगती है। अचानक उसे दूर से आती आवाज सुनाई देती है—‘माँ, मैं आ गया हूँ। मैं जीवित हूँ और प्रसन्न भी। तुम्हारी ही तरह एक माँ मुझे मिल गई है। वह हमें खिलाती है, पिलाती है और तुमसे अच्छी देखभाल करती है।’

‘अरे, यह तो सुवास और प्रभास की मिली-जुली आवाज है।’ महादेवी एकदम बिस्तर से उठती है। बाहरी द्वार तक आती है। पर कहीं कोई नहीं। बस वही सन्नाटा, चाँदनी के उज्ज्वल परिधान से लिपटा एक भयानक काला और साँय-साँय करता अँधेरा। महादेवी वहीं लड़खड़ाकर गिर जाती है।

‘मेरा अवचेतन ही तो नहीं मेरे बच्चे के रूप में मुझे चिढ़ाने आया है?’ वह सोचती है।

वहीं गिरी-गिरी वह सोचती रहती है और फिर बड़बड़ाने लगती है—‘‘मुझसे भी अच्छी माँ तुम्हें मिल गई। मेरे बेटो, जरूर मिली होगी। तभी तो तुम जीवित हो, अन्यथा वह निगल गई होती जैसे मैं निगल गई हूँ। अनेक बच्चों को निगल जानेवाली माँ तुम्हें धिक्कार है!’’

महादेवी थोड़ा सँभलती है। उठती है, फिर अपने बिस्तर पर आती है।

शय्या पर पड़ते ही उसे पश्चिम के गवाक्ष से झाँकती हुई आग्नेय आँखें दिखाई देती हैं। धीरे-धीरे वे बड़ी होती जाती हैं और दो धधकते अग्निपुंजों के रूप में उसकी ओर बढ़ती हैं। किंतु कुछ आगे आते-आते वे अग्निपुंज एक बड़े घटक की आकृति में बदल जाते हैं। बहुत सारे लोग उसे अपने मस्तक पर उठाए ज्ञात होते हैं। अरे, इसमें तो उग्रसेन भी हैं। लगता है, यह कंस की कारा में सड़ रहे लोगों की भीड़ है। मानो वे कह रहे हों—‘यह कंस के पापों का घट है, इसे जल्दी भरो, महादेवी।’

इसी समय पूर्व का गवाक्ष कुछ और बड़ा होता दिखाई देता है। धीरे-धीरे उसमें बच्चे निकलते हैं—एक, दो, तीन और फिर अनेक। वे भी एक घड़ा उठाए हुए हैं। वे बड़ी विह्वलता से कहते हैं—‘माँ, यह तुम्हारे पापों का घड़ा है। यह लगभग भर चुका है। इसे और अधिक भरने की जरूरत नहीं है।’

महादेवी देखती है, एक ओर अपने पापों का घड़ा, दूसरी ओर कंस के पापों का घड़ा। एक भर चुका है, दूसरा भरने वाला है।...दोनों फूटेंगे। हो सकता है, एक के फूटने की अवधि आ गई हो, दूसरे की आने वाली हो।

महादेवी एकदम घबरा गई। वह अपने जीवन में कभी भी इतना व्यग्र नहीं हुई थी। उसने अपनी दोनों हथेलियों से अपना मुख ढक लिया। आश्चर्य है कि इस घबराहट में कभी न साथ देनेवाली नींद ने उसका साथ कैसे दिया। वह सो गई।

आपने देखा, महादेवी अपने अंतर्द्वंद्व से परेशान है। यही अंतर्द्वंद्व मनुष्य को विनाश की ओर ले जाता है; क्योंकि हमारी निर्णायक बुद्धि एक ऐसे बिंदु पर स्थिर हो जाती है, जिससे कई रास्ते फूटते हैं—अनजाने, अनचीन्हे और अपरिचित। मनुष्य की क्रियमाण शक्ति पंगु हो जाती है।

ऐसी पंगुता की ही स्थिति में रणक्षेत्र में आ गया था अर्जुन; तब मैंने उपदेश किया था।

महादेवी का यह अंतर्द्वंद्व भी रणक्षेत्र में ही जनमा है; पर उसे कौन उपदेश करे? क्योंकि महादेवी का आखेट भी मैं ही था, उसका उपदेष्टा भी मैं ही था; क्योंकि मेरी परिधि केवल मुझ तक सीमित नहीं; क्योंकि परिधि देह की होती है, देही की नहीं।...और मैं देही हूँ। देह तो मेरा रथ है। इसीसे मैं परिधिहीन हूँ। असीम हूँ। विराट् हूँ। यही विराट्ता आपमें भी है। पर आपने उसे पहचाना नहीं है।

शायद मैं उस समय भी था जब मैं (देह) नहीं था। उस समय भी रहूँगा जब मैं (देह) नहीं रहूँगा। इस शरीर में और शरीर से परे, इस जगत् में और जगत् से परे जो हूँ, वही आप है। जब हम और आप समवेत हो जाते हैं तब सृष्टि नहीं रहती; केवल विराट् रहता है। उस विराट् के अणु हम अपने में छिपाए हैं। वही मुझमें है, वही महादेवी में भी और वही आपमें भी।...इसीलिए कहता हूँ कि महादेवी मैं हूँ, उसकी व्यग्रता भी मैं हूँ। उसके जीवन का स्वप्न भी मैं हूँ और उसकी मृत्यु का भय भी मैं ही हूँ।

इस मृत्यु का भय और जीवन का स्वप्न लेकर महादेवी की आँखें अचानक खुल गई थीं। रात का तीसरा प्रहर था। मलयानिल बह रहा था। डहडही चाँदनी से लिपटकर सन्नाटा भी सो गया था। मात्र उसकी साँय-साँय करती साँसें सुनाई पड़ती थीं।

महादेवी उठी। उसे याद हो आया कि बगल में ही यशोदा का कक्ष है। वह उस ओर बढ़ी। द्वार खुला था। यशोदा माँ की बगल में मैं सो रहा था। छाती से लगकर नहीं वरन् दोनों दो ओर मुँह किए। थोड़ी दूरी पर एक परिचारिका भी छोटे से पर्यंक पर ढुलकी थी। सभी प्रगाढ़ निद्रा में थे। नींद उत्सव की थकावट पर अच्छी तरह जम गई थी। यशोदा के खरटे उस सुनसान में चुभते चले जा रहे थे।

महादेवी की दृष्टि एकटक मुझपर थी। वह कुछ सोच रही थी कि उसके भीतर से कोई बोल पड़ा—‘जल्दी करो। संकल्प पूरा करो।’ फिर भी वह द्विविधा में थी, पैर काँप रहे थे।

‘तो क्या मैं भीतर चलकर उसकी बगल में लेट जाऊँ? स्तन उसके मुँह में डाल दूँ और चोरों की तरह भाग चलूँ?’ महादेवी सोचती रही, ‘नहीं-नहीं, मैं चोर नहीं हूँ। अमात्य पत्नी हूँ। वीरांगना नहीं, तो वीर भार्या तो हूँ ही।...ऐसा मैं नहीं करूँगी।’

‘वीरता दिखाने तुम नहीं आई हो। तुम्हें केवल कृष्ण के प्राण लेने हैं। कंस के पापों का घड़ा भरना है। तुम्हारे पापों का घड़ा तो भर ही चुका है।...तब क्यों घबराती हो, आगे बढ़ो।’ महादेवी के भीतर उठी यह दूसरी आवाज थी।

वह कक्ष में प्रविष्ट हुई, किंतु वहाँ लेट न सकी। उसने मुझे उठाना चाहा; किंतु मैं इतना हलका और छोटा भी नहीं, जो आसानी से उठा लिया जाता। मेरी पुष्ट शरीरयष्टि को वह कई बार आँखों से अंदाज चुकी थी। कई बार मुझे कल्पना में उठा चुकी थी। हर बार मैं बड़ी कठिनाई से उठाया गया था। इस बार भी बड़ी कठिनाई से उठाया गया। मैं नींद में था, फिर भी मुझे लग रहा था कि मैं उठाया जा रहा हूँ। बहुधा अपर्णा दासी मुझे नींद में उठाकर लघुशंका कराती थी। मैं कुछ बोला नहीं। गहरी नींद ने मुझे बोलने की स्थिति में ही नहीं छोड़ा था।

वह मुझे उठाकर चुपचाप कक्ष के बाहर की ओर चली। अचानक मुझे नींद में एक झटका-सा लगा। मेरी नींद लड़खड़ाई। अनुमान लगाता हूँ कि इसके पहले महादेवी स्वयं लड़खड़ाई होगी; क्योंकि मेरी हलकी-हलकी लौटी चेतना को अनुभव हुआ कि महादेवी मुझे अपने सीने से चिपकाए, द्वार पकड़े खड़ी है।

माँ के वक्ष पर आते ही हर दूध पीनेवाले बच्चे का हाथ उसके उरोजों पर पड़ता है। मुझे भी लगा कि मैं अपनी माँ के वक्ष से लिपटा हूँ। मैंने उसके उरोजों को दबाया। वह कंचुकी पहने थी। मैं टटोलने लगा। शायद कंचुकी के नीचे हाथ डालने की चेष्टा कर रहा था। उसने बड़ी निर्ममता से मेरा हाथ हटा दिया। मेरी माँ तो कभी ऐसा नहीं

करती थी। वह ऐसी स्थिति में मेरा मुख अपने स्तन में लगा देती। मेरा हाथ उसके दूसरे स्तन पर चला जाता।

वह मुझे किसी प्रकार अपने कक्ष में ले आई और अपने ही पर्यंक पर लिटा दिया। अब मैं कुछ-कुछ जाग गया था। मैंने उसे पहचाना—अरे, यह तो वही है, जो नाचते-नाचते गिर पड़ी थी। फिर भी नौद के थपेड़े खाता हुआ निर्विकार भाव से पड़ा रहा।

वह पलंग के नीचे बैठ गई। मुझे देखती रही, बड़े भाव से देखती रही। एकटक देखती रही। उसने भीतर से द्वार बंद किए। अब उसे कोई देख नहीं रहा है; पर वह स्वयं को तो देख रही है। उसका स्वयं ही आज अनेक रूपों में उसके सामने खड़ा हो गया।

‘क्या देखती हो? जल्दी काम पूरा करो।’ उसके स्वयं के एक रूप ने कहा।

वह पलंग के पास आई और फिर धरती पर उसी स्थान पर बैठ गई।

‘क्या देखती हो? जल्दी करो।’ फिर वह आवाज दुहराई गई। उसने अपनी कंचुकी खोली। पुनः अपने स्तनों की ओर देखा—‘इन्हें परमात्मा ने बच्चों को दूध पिलाने के लिए दिया है, विष पिलाने के लिए नहीं।’ यह उसके स्वयं का दूसरा रूप था।

‘द्विविधा में मत पड़ो, महादेवी! अपना काम पूरा करो।’ उसके स्वयं का पहला रूप स्वयं उभरा।

अब वह मेरी ओर झुकने लगी थी कि अचानक उसके स्वयं का दूसरा रूप बोल पड़ा—‘यह क्या कर रही हो, महादेवी? तुम्हारे स्तन से लगा हर बच्चा तुम्हारा बच्चा है।’

“नहीं-नहीं, यह नहीं होगा। मैं दूसरे के बच्चे को मार सकती हूँ, पर अपने बच्चे को नहीं। बिल्कुल नहीं।” वह बड़बड़ाती रही, बड़बड़ाती गई—“यह मुझसे नहीं होगा।”

फिर वह अपने स्तन पर हाथ रगड़-रगड़कर स्वयं चाटती गई। विष का नशा चढ़ने लगा। उसे लगा, बहुत सारे बच्चे उसे बुला रहे हैं और वह उनके पास चली जा रही है।

उसका नशा और गाढ़ा होता गया। उसने धुँधलके से उभरते हुए एक बड़े घड़े की ओर देखा। अचानक वह फूटने लगा। वह स्वयं बड़बड़ाई—“फूटने दो, फूटने दो। यह मेरे पापों का घड़ा है।”

अब उसका सिर मेरे पलंग पर ढुलक गया था। उसकी जबान लड़खड़ा रही थी—“मेरा घड़ा तो फूट गया, कंस! अब तेरा भी फूटेगा, जरूर फूटेगा।”

□

सोम और सुरा में डूबे लोग जब शय्या पर ढुलके तो चेतना कहाँ! सवेरे देर तक लोग सोते रहे। पर वृंदावन बहुत पहले जाग उठा था। पूतना के आने का समाचार जंगल में आग की तरह भभक उठा था। लपटें हमारे प्रासाद को भी घेरने लगीं। अजीब कोलाहल उमड़ा। माँएँ अपने बच्चों को हटाने लगीं। पूतना की खोज शुरू हुई। हर सार्वजनिक और व्यक्तिगत स्थल छान डाले गए; पर पूतना कहीं नहीं मिली।

हमारे प्रासाद द्वार पर भीड़ जमने लगी। एक चिल्लाहट गूँजी—“जरूर पूतना महल में ही है। जल्दी पता लगाइए, अन्यथा अनर्थ हो जाएगा।”

कोलाहल ने मेरी माँ को भी झकझोरा। वह हड़बड़ाकर उठी। उसने देखा कि बगल में मैं नहीं।

“अरे, कन्हैया कहाँ गया?” चिल्लाती हुई माँ बाहर निकली। उसके पीछे-पीछे दासी अपर्णा भी थी। माँ पागलों की तरह पूरे महल में दौड़ती और चिल्लाती रही। वह महल के कोने-अँतरे में भी हो आई; पर उसे ध्यान ही नहीं था कि मैंने अपने कक्ष की बगल में किसी नर्तकी को सुलाया है। वह मुझे खोजती हुई उस कक्ष की ओर से कई बार गुजरी भी; पर द्वार बंद देखकर उसे ध्यान ही नहीं आया। उसकी चेतना को यह देखने का अवकाश ही कहाँ कि द्वार

भीतर से बंद है या बाहर से। वह मणि छीने गए सर्प की भाँति छटपटाती और फन पटकती रही।

पूतना के आतंक से जब हर माँ अपने बच्चे को छिपा रही थी तब एक औरत दो बच्चों को साथ लिये भीड़ को चीरती हुई महल में प्रविष्ट हुई। घबराई हुई। वह सुवासिनी थी और उसके पीछे थे सूनी-सूनी भयातुर आँखों से हर चेहरों को टटोलने की असफल चेष्टा करते हुए प्रभास व सुवास।

सुवासिनी मेरे खो जाने से परेशान तो थी ही, साथ ही वह इसलिए भी व्यग्र थी कि महादेवी निश्चित ही संकट में फँस गई है। अन्य व्यग्र लोगों के बीच उसकी व्यग्रता कुछ और ही पहचान बना रही थी। दोनों बच्चे अब रोने लगे थे; पर उनके रोने का कारण शायद ही कोई जानता हो।

भीड़ महल में घुसने के लिए बेचैन थी, पर द्वारपाल उस जन-ज्वार का सामना एक सबल बाँध की तरह कर रहे थे।

भीतर उद्यान, पुष्करिणी, सरोवर और महल का एक-एक कोना छान डाला जा रहा था। अचानक अपर्णा को याद आया—“वह नर्तकी तो रात में यहीं थी! कहाँ चली गई?”

“होगी अपने कक्ष में।” अब मेरी माँ की चेतना ने एक रास्ता पकड़ा। वह सीधे उस कक्ष की ओर आई, जहाँ मैं पड़ा था।

दरवाजा भीतर से बंद है, उसने देखा और पीटना आरंभ किया। भीतर से कोई आवाज नहीं, कोई प्रतिक्रिया नहीं। महादेवी का सारा शरीर धरती पर और सिर बिस्तर पर ढुलका पड़ा था। मैं जगकर शय्या पर किलकारी भर रहा था।

द्वार तोड़ा गया। औरतों का एक झुंड भीतर घुसा। उसमें सुवासिनी भी थी और सुवास तथा प्रभास भी। अपनी माँ को मरा देखकर दोनों बच्चे उसके तन पर गिर पड़े और फूट-फूटकर रोने लगे। सुवासिनी की भी आँखें भर आईं। उसने बच्चों को मृत शरीर से अलग हटाया।

माँ ने मुझे उठाया। मैं किलकता हुआ उसके तन से एकदम चिपक गया। वह मुझे लेकर बाहरी अलिंद (छज्जे) पर आई और भीड़ को दिखाकर बोली, “यह देखिए, आपका कन्हैया सुरक्षित है।”

भीड़ ‘साधु-साधु’ चिल्लाई। प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। मेरी माँ ने पुनः उच्च स्वर में कहा, “आप विश्वास करें, महल में पूतना नहीं है। हाँ, अतिथि शयनकक्ष में एक माँ अवश्य मरी पड़ी है। दो बच्चे उससे लिपटकर रो रहे हैं।”

उतरती बाढ़ की नदी की तरह भीड़ सरकने लगी।



नौ

पूतना की मृत्यु के बाद मेरे ईश्वरत्व पर एक तह और जम गई। लोगों को आश्चर्य था कि एक ऐसी नारी, जिसने अनेक बच्चों को मृत्यु के घाट उतारा हो, मेरे मामले में ऐसी असफल क्यों हो गई। लोगों ने देखा था कि उसका सारा शरीर नीला पड़ गया था और मैं मस्ती से शय्या पर किलकारी भर रहा था। अवश्य इसमें कोई चमत्कार है। चमत्कार बुद्धि से परे होता है और मैं भी बुद्धि से परे होता गया। कदाचित् ईश्वर की परिभाषा भी यही है—जो बुद्धि से जाना न जा सके, मन की पहुँच के बाहर और इंद्रियों से पहचाना न जा सके।

अब मैं सचमुच पहचाना जाकर भी लोगों की पहचान से परे था। पहचान में तो मैं एक बालक था, साधारण सा बालक, सारी असाधारणता समेटे हुए; पर मैं वह नहीं था, जो दिखाई पड़ रहा था। मैं तो इंद्रियों से जाना जाकर भी इंद्रियातीत था।

अब मेरा भवन मंदिर हो गया। मेरे द्वार पर भीड़ लगने लगी। पहले भी लोग मुझे देखने आते थे; पर अब उनकी आँखों में कुछ दूसरा ही भाव होता। नारद की भविष्यवाणी सत्य हुई। सचमुच भगवान् अवतरित हुए हैं, लोगों में यह आम धारणा थी।

एक दिन एक कीर्तन मंडली वृंदावन पधारी। बात यह थी कि उन दिनों मथुरा का वैभव पूरे आर्यावर्त में विख्यात था। हर पर्यटक के लिए मथुरा आकर्षण का केंद्र था।...और जो मथुरा आता, उसे वृंदावन की प्राकृतिक सुषमा स्वयं अपने पास बुला लेती। वह करील के कुंजों और यमुना के कछार पर न्योछावर हो जाता। वह भावविभोर हो अपने जीवन के कुछ रससिक्त दिन यहाँ गोप और गोपियों के बीच बिताता। ऐसी ही भावविभोर थी गांधार देश से पधारी वह कीर्तन मंडली।

उस मंडली में सभी गंधर्व थे। संगीत में पारंगत। सामगान उनके कंठों में बसा था। गंधर्ववेद सामवेद की ही एक उपशाखा है। ये गायक उस गंधर्ववेद का अद्भुत गायन करते थे। उस मंडली में कुछ स्त्रियाँ भी थीं, जिन्हें 'गांधारी' कहा जाता था।

गंधर्वों और गांधारियों का समवेत स्वर जब कीर्तन में मुखरित होता, श्रोता मुग्ध हो जाते, प्रकृति झूमने लगती। कई दिनों तक उन लोगों का कीर्तन पिताजी ने अपने भवन में कराया। माता-पिता के साथ मैं भी उसमें सम्मिलित होता। जब वे गाने लगते, मैं भी उनके स्वर में स्वर मिलाता, ताली बजाता। खड़े होकर चिड़ियों के छोटे बच्चों की तरह फुदकने लगता। यह मेरा सहज बाल-चापल्य था या संगीत के प्रति मेरा जन्मजात आकर्षण, कह नहीं सकता। पर मेरी यह तन्मयता लोगों के आकर्षण का केंद्र बन चुकी थी। लोग मुझे फुदकता देखकर मेरी गति और लय पर तालियाँ बजाते। यह वह शुभ मुहूर्त था, जब मेरे नर्तक का जन्म हुआ था और मैं कालांतर में नटराज बन गया था।

इस मंडली का नेतृत्व एक ऐसे सज्जन के हाथ में था, जो अन्य सदस्यों की अपेक्षा अवस्था में अधिक थे; पर कंठ और कला के धनी थे। उनके श्मश्रु के बाल अधिक श्वेत हो गए थे; यों उनके सिर के बड़े हुए बालों पर भी हिमपात आरंभ हो गया था। घनी भौंहों के बीच में नीली झील जैसी आँखों से एक शीतल ज्योति विकीर्ण हो रही थी। ऋषि जैसे इस सौम्य व्यक्तित्व की संज्ञा मुझे बहुत बाद में ज्ञात हुई। उनका नाम श्रुतिकेतु था।

कीर्तन समाप्त होते ही मैं उनके पास आया। उन्होंने ललककर मुझे अपनी गोद में बैठा लिया और प्यार से सहलाते और एकटक देखते रहे। मेरा हाथ भी रह-रहकर उनकी दाढ़ी से उलझता रहा।

“सोचता हूँ, मैं भी विश्वामित्र की ही भूमिका निबाहूँ।” कुछ सोचते हुए वे बोले।

उस समय कोई भी उनकी बात समझ नहीं पाया। बाद में उन्होंने ही स्पष्ट किया—“मैं चाहता हूँ, आप यह बालक मुझे दे दें।”

इतना सुनते ही पिताजी हँस पड़े। यशोदा भी विह्वल हो गई।

“मेरा क्या है, आचार्यजी! यह सब तो प्रभु का है। इस बालक पर मेरा जितना अधिकार है उतना ही आप सबका भी।” पिताजी के इस कथन में मात्र एक औपचारिकता थी। बात आई और चली गई। वह कीर्तन गोष्ठी भी एक संदेह का बीज पिता नंद के मन में डालकर उस दिन समाप्त हो गई।

रात्रि शयनकक्ष में वह बीज प्रस्फुटित हुआ। पिताजी ने माता यशोदा से पूछा, “क्यों जी, आज आचार्य श्रुतिकेतु कृष्ण कन्हैया को माँग बैठे।”

“तो इसमें इतना गंभीर होने की क्या बात है? अरे कन्हैया ऐसा है ही कि जो देखेगा वही माँग बैठेगा।”

“पर मुझे तो इसमें कोई रहस्य जान पड़ता है।” नंद ने कहा, “हो सकता है, उन्हें कंस के किसी नए षड्यंत्र की जानकारी हो गई हो और वे यहाँ कृष्ण को सुरक्षित न समझते हों।”

“हो सकता है।” यशोदा गंभीर हो गई। फिर अचानक उसकी मुद्रा बदली—“क्यों जी, एक बात बताओ, अब तक कृष्ण की रक्षा किसने की है—इसने या तुमने?”

नंदजी सोचने लगे, सचमुच हममें से किसीने भी उसकी रक्षा नहीं की। वे बोल पड़े—“उसने अपनी रक्षा स्वयं की।”

“तब आप उसकी चिंता क्यों करते हैं? आगे भी वह अपनी रक्षा कर लेगा।”

“मैं चिंता नहीं करता, पर आचार्यजी के कथन का चिंतन अवश्य कर रहा हूँ।”

“आचार्यजी को वस्तुस्थिति का ज्ञान नहीं है।” माँ बोली।

नंदजी हँस पड़े—“वस्तुस्थिति का ज्ञान है, पर कृष्ण का ज्ञान नहीं है।”

निश्चित हुआ कि कल स्वयं आचार्यजी से पूछा जाए कि आखिर कृष्ण के माँगने के पीछे उनकी मंशा क्या है। दूसरे दिन प्रातः कीर्तन के बाद आचार्यजी को बुलाया गया। समस्या रखी गई। वे हँस पड़े।

“आखिर आपने कृष्ण को किस भाव से माँगा था?” उनकी हँसी के बावजूद नंद ने पूछा।

“जिस भाव से विश्वामित्र ने दशरथ से राम को माँगा था।” मुसकराते हुए ही आचार्य श्रुतिकेतु ने उत्तर दिया।

“विश्वामित्रजी ने राक्षसों के विनाश के लिए राम को माँगा था।” नंद बोले।

“अंतर बस इतना ही है कि उन्होंने राक्षसों के विनाश के लिए माँगा था। मैं राक्षसत्व के विनाश के लिए माँग रहा हूँ।” आचार्यजी अब भी मुसकराते रहे।

उनकी बातों से कहीं अधिक उनका व्यक्तित्व रहस्यमय लगा। किंतु शीघ्र ही उन्होंने इस रहस्य का उद्घाटन भी कर दिया।

वे चाहते थे कि मुझे वे कला की शिक्षा दें। इतनी साधारण सी बात के लिए इतनी गंभीर भूमिका। मेरे माता-पिता को पहाड़ खोदने पर चुहिया निकलती दिखाई दी। वे एकदम हँस पड़े। उनकी उन्मुक्त हँसी ने आचार्यजी की इस प्रस्ताव शैली की लगभग हँसी ही उड़ाई।

“यह हँसने की बात नहीं है।” आचार्यजी बोले, “वरन् समझने की है। कला वस्तुतः राक्षसत्व का विनाश करती है। मनुष्य को मनुष्य बनाती है।”

“यों मैं आपकी बात काटता नहीं हूँ।” नंदजी ने कहा, “पर क्या जितने लोग कला नहीं जानते, सब मनुष्य नहीं हैं?”

“नहीं, बिल्कुल नहीं। साहित्य, संगीत और कला से विहीन व्यक्ति सींग और पूँछ से विहीन पशु होता है, पशु।” आचार्यजी बोले, “...और फिर कन्हैया में कला की संभावनाएँ अधिक हैं। मैं उसे पिछले कई दिनों से बराबर देख रहा हूँ। मुझे लगता रहा है कि उसमें एक विराट् कलाकार अपने लघु रूप में सोया है। केवल उसे जगाने भर की देर है।”

मेरे पिताजी बड़े प्रसन्न हुए। अपने पुत्र की प्रशंसा पर कौन पिता प्रसन्न नहीं होता! किंतु उन्होंने जिज्ञासावश आचार्यजी के तर्कों को कुरेदा—“जब हर पत्थर से मूर्ति बनाई जा सकती है तब हर व्यक्ति को कलाकार क्यों नहीं बनाया जा सकता? ऐसा क्या विशेष है मेरे कन्हैया में, जो आपको दिखाई दे रहा है?”

“हर पत्थर से मूर्ति नहीं बनाई जाती, राजन्! यह आपका भ्रम है।” श्रुतिकेतु ने कहा, “यों शिल्पकार की दृष्टि हर पत्थर पर जाती अवश्य है; पर कोई-कोई पत्थर ही उससे कहता है कि मेरे भीतर एक मूर्ति है, तुम उसे तराशकर निकाल लो।”

“ऐसा नहीं हो सकता कि शिल्पकार के भीतर बैठी हुई मूर्ति ही उसे पत्थर में दिखाई पड़ने लगती हो?”

“यदि ऐसा होता तो उसे हर पत्थर में एक मूर्ति दिखाई पड़ती।” आचार्यजी बोलते रहे—“वह हर पत्थर के पास जाता है, पर कोई-कोई पत्थर ही उसे अपने पास बुलाता है। वैसे ही आपका कन्हैया मुझे बुला रहा था।...मुझे खींच लाई थी वृंदावन की प्राकृतिक सुषमा, अब चिपक गया हूँ कन्हैया से। मेरा मन उसे छोड़ नहीं पा रहा है!” वे भावविभोर हो बोलते चले जा रहे थे—“शिष्य को अच्छे गुरु बहुत मिल सकते हैं, पर गुरु को कोई योग्य शिष्य बड़े भाग्य से मिलता है।”

इसके बाद से ही मैं उनका शिष्य हो गया। वे मुझे संगीत की शिक्षा देने लगे। उनका पहला वाक्य था, जो मुझे आज तक याद है—‘गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते’। उनका कहना था कि गीत, वाद्य और नृत्य—तीन मिलकर ही संगीत की अवधारणा बनती है।...और एक संगीतज्ञ को तीनों को जानना चाहिए।

“जानना एक बात है और पारंगत होना दूसरी बात।” पिताजी के कथन ने एक विवाद को जन्म दिया; पर शीघ्र ही आचार्यजी उससे सहमत हो गए। उनका कहना था कि जानना तो तीनों को चाहिए, पर तीनों को आत्मसात् करना बड़ा कठिन है।

“कठिन नहीं, असंभव है।” पिताजी बोल पड़े।

“पर कन्हैया के लिए असंभव नहीं है।” आचार्यजी बोले, “उसके भीतर मुझे तीनों के बीज दिखाई देते हैं। बस तराशकर निकालने की जरूरत है।” वे इसे दैवी चमत्कार मानते थे। वे कहते थे कि संगीत की किसी एक शाखा के प्रति भी हमारा समर्पण हो जाए, तो अहोभाग्य; फिर तो हम उस कला को जीने लगते हैं। वह हमारे रोम-रोम में समा जाती है। हमारी हर साँस में उसकी सुगंध होती है। यह कलाकार की चरम उपलब्धि है। ऐसी स्थिति में कला भीतर से बाहर की ओर आती है। जानकारी बाहर से भीतर की ओर आती है। जानकारी का भौतिक संदर्भ है, कला का आत्मिक। आरंभ में या समर्पण की प्रक्रिया में एक नर्तक को छंद और ताल का ध्यान रखना पड़ता है और जब नर्तक कला को जीने लगता है तब छंद और ताल उसके अनुगामी हो जाते हैं।...पर कन्हैया में तो संगीत की तीनों विधाओं का संगम है।” पिताजी आचार्य के इस कथन से बड़े प्रभावित हुए।

श्रुतिकेतु मेरे कलागुरु हुए। वे मेरे यहाँ रह ही गए। उन्होंने अपनी संपूर्ण कीर्तन मंडली को आर्यावर्त भ्रमण के लिए बिदा किया। उस समय उन्होंने लोगों से जो कुछ कहा था वह बड़ा मार्मिक था—“हम लोग सामगाना गाते हुए गांधार देश से चले थे। कपीस, कंबोज, कुरुक्षेत्र, हस्तिनापुर होते हुए हम मथुरा आए थे। यहीं से शिवि, अवंती, उज्जयिनी होते हुए कौशांबी जाने की योजना थी। इसके बाद विदर्भ और वैशाली की ओर बढ़ते हुए उत्तरापथ की

यह परिक्रमा समाप्त होती। इसके बाद हम दक्षिणापथ की ओर जाते; पर किसलिए? कदाचित् उस परम सत्य की खोज में, जिसके चरणों में हम अपने संगीत का अर्घ्य चढ़ा पाते।...पर मुझे ऐसा लगता है कि परम सत्य मुझे यहीं मिल गया है। अब मैं उसीकी उपासना करूँगा।”

“तो हमें भी उसीके चरणों में कला का नैवेद्य चढ़ाने दीजिए।” आचार्यजी के कथन पर मंडली में से किसीने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की।

“अधूरा नैवेद्य चढ़ाया नहीं जाता, वत्स।” आचार्यजी ने कहा, “उसे पूरा करो। तुम्हारी कला अभी अधूरी है।...और तुम्हारा पहला कर्तव्य समाज के प्रति है। समाज के ऋण से उन्मूलन होने के बाद ही परम सत्य के चरणों में आना।” एक दार्शनिक की भाँति आचार्यजी बोलते गए—“जीवन की अपूर्णता गंतव्य नहीं है। भोग से भागा हुआ व्यक्ति उस मार्ग से भटका हुआ राही है, जो मोक्ष को जाता है।”

इतना सुनने के बाद किसीने कुछ नहीं कहा। चुपचाप कीर्तन मंडली बिदा हुई। उस समय आचार्य की आँखें छलछला आई थीं।

एक विचित्र बात और हुई। सुवासिनी हर समय कीर्तन में उपस्थित रहती थी। बड़ा तन्मय होकर गाती थी। उसके कंठ की मधुरिमा आचार्यजी को छू गई थी। बिदा के समय वह भी उपस्थित थी और बड़ी कातर दृष्टि से उन्हें देख रही थी; यद्यपि सान्निध्य बहुत थोड़े समय का था, फिर भी आँखों में नमी आ गई थी। आचार्य ने देखा और बड़ी सजगता से बोले, “यदि आप भी चाहें तो कीर्तन मंडली में चली जाएँ।”

“जाने की इच्छा तो बहुत थी, पर पैरों में पड़ी बेड़ियों का क्या करूँ?” सुवासिनी की विवशता मुखर हुई। आचार्य की दृष्टि अचानक उसके पैरों की ओर गई। वहाँ कोई बेड़ी नहीं।

“मथुरा के लोग लक्षणा में बोलते ही हैं, आप भी बोलने लगें। ऐसा तो नहीं कि आप भी मथुरा की हों।”

आचार्य से इतना सुनते ही सब लोग हँस पड़े। सुवासिनी भी एक सलज्ज मुसकराहट बिखेरकर हट गई।

कीर्तन मंडली बिदा हुई; पर मथुरा की चर्चा छिड़ गई थी। आचार्यजी खुलने लगे—“मैंने मथुरा में दो जगह कीर्तन किया था, ऐसा लगा कि मेरा संगीत वहाँ खिंचाव खो चुका है। लोगों में आकर्षण नहीं है। कुछ लोग आते अवश्य थे। उनकी आँखों में भय और चेहरों पर आतंक की छाया दिखाई देती थी। मन मारे आते थे और मन मारे चले जाते थे। ऐसा मालूम होता था कि मन से तो वे हमारे साथ रहना चाहते हैं, पर कोई प्रच्छन्न विवशता उन्हें हमसे दूर हटा देती है।”

लोग आचार्यजी को चुपचाप सुन रहे थे। पिताजी या किसीने कुछ कहना उचित नहीं समझा। आचार्यजी अबाधित बोलते रहे—“मेरी शंका उस समय और भी दृढ़ हो गई जब एक कीर्तन में कंस का महामल्ल चाणूर चला आया। लोग उसे देखते ही चुपचाप खिसकने लगे; जैसे कोई प्रेत हो। लोग उसकी छाया से भी दूर रहने का प्रयत्न करने लगे। केवल एक व्यक्ति था, जो हर कीर्तन में उपस्थित रहता था, जिसने बराबर हमारी सहायता की और उचित निर्देश भी दिए।”

इतना सुनना था कि पिताजी की जिज्ञासा बढ़ी; पर वे मौन ही रहे। आचार्यजी ने बिना पूछे ही बता दिया कि उस व्यक्ति का नाम छंदक था।

नाम सुनते ही पिताजी मुसकराए। अन्य और गंभीर हो गए। अन्यो की गंभीरता और पिताजी की मुसकराहट में जिज्ञासा का स्तर समान था। आचार्यजी बोलते गए—“छंदक ने ही मुझे बताया कि इस समय मथुरा की संवेदनशीलता पथरा गई है।”

“किंतु संगीत से तो पत्थर भी पिघल जाता है!” पिताजी ने कहा।

“पर मुझे तो मथुरा पिघलनेवाला पत्थर भी नहीं दिखा।” आचार्यजी ने कहा, “वहाँ का सामान्य जीवन तो दूर, कंस का आतंक मंदिरों तक में प्रवेश कर गया है। ब्राह्म मुहूर्त की पूजा समाप्त करा दी गई है। उससे महाराज की नींद में खलल पड़ता था।” इतना कहते-कहते आचार्यजी की आकृति की झुर्रियों से घृणा टपकने लगी।

“क्या आपकी मंडली के आगमन की सूचना कंस को मिली थी?” पिताजी ने निश्चय ही किसी विशेष प्रयोजन से पूछा।

“अवश्य मिली होगी। सुना है, वहाँ पग-पग पर गुप्तचर हैं। वे पत्ता हिलने तक की सूचना महाराज को पहुँचाते हैं। फिर मेरे आने की सूचना उन्होंने महाराज को न दी हो, यह कैसे संभव है?” आचार्यजी क्षण भर के लिए रुके। फिर बोले, “और मैं तो प्रासाद में भी गया था।”

“इतना होने पर भी आप प्रासाद में गए थे!” पिताजी ने आश्चर्य व्यक्त किया।

“मैं तो न जाता, पर मैं क्या करूँ! मैं छंदक के कहने पर चला गया था।” आचार्यजी ने पश्चात्ताप करते हुए कहा, “छंदक का कहना था कि महाराज से मिले बिना नगर से चले जाने का मतलब वह कहीं अन्यथा न लगाएँ। यह भी हो सकता है कि वह अपने प्रासाद में ही कीर्तन करवाना चाहें।...शायद इसीसे उनका भला हो।”

आचार्यजी ने बताया कि वे उस समय छंदक की नादानी पर हँसे थे। उनके कीर्तन से उसका भला क्या होता।

“‘बीन की धुन पर साँप भी सपेरे के वश में हो जाता है।’ छंदक बोला था। तब मैंने कहा था—‘साँप भले ही वश में हो जाए, पर बीन की धुन उसे विषहीन नहीं कर सकती।’

“उस समय छंदक तो निरुत्तर हो गया, पर उसकी नादानी ने अपना आत्मीय दबाव डालकर मुझे प्रासाद में भेज दिया।” श्रुतिकेतु मौन हो गए। उनका मौन पश्चात्ताप उगलता रहा।

“फिर क्या हुआ?” पिताजी की जिज्ञासा ने जोर मारा।

“होता क्या! हम लोग महामात्य प्रद्योत की कृपा से कंस के समक्ष उपस्थित किए गए। उसने बड़ा घूरकर हम लोगों को देखा। हम लोगों को भी लगा कि हम भी संसार के किसी बड़े पागल के सामने आ गए हैं।...वह अचानक बड़े झटके से पूछ बैठा—‘आप लोग क्या चाहते हैं?’

“भगवान् के चरणों में समर्पण के आकांक्षियों के समक्ष राजकीय अहं की यह बौछार। हमें क्या लेना था उसकी सत्ता से!” आचार्य कहते गए—“मैंने फटकार के स्वर में ही कहा था कि ‘आपका कल्याण चाहता हूँ।’ वह जोर से हँसा। वह हमारी उपेक्षा करते हुए अपने सेनापति की ओर उन्मुख होकर बोला, ‘इन नादानों को देखो। ये गाने-बजानेवाले लोग हमारा कल्याण करेंगे!’ फिर उसने मेरी ओर देखकर कहा, ‘अरे नासमझो, मेरा कल्याण चाहनेवालों के हाथ में पणव (ढोल), झंझर (झाँझ) या मर्दन (मृदंग) नहीं होते। उनके हाथों में होती है तलवार!’

“‘तलवारों ने कभी मनुष्य का कल्याण नहीं किया है, राजन्।’ ” आचार्यजी ने बताया—“मैंने छूटते ही कहा, ‘तलवार हमारी आसुरी वृत्ति का प्रतीक है।’

“कंस एकटक मेरी ओर देखने लगा और बोल पड़ा, ‘क्यों?’

“‘क्योंकि वह रक्त से अपनी प्यास बुझाती है। उसके जन्म के मूल में हिंसा है—और मानवता सहयोग, प्रेम तथा हार्दिकता पर आश्रित है। यही हार्दिकता संगीत का आधार है। वह देव चरणों में ले जाती है।’

“‘देव चरणों में! हा! हा! हा!’ कंस जोर से हँसा। उसके साथ उसका सेनापति भी। फिर व्यंग्य करते हुए बोला, ‘लगता है, वृंदावन से आ रहे हो।’

“‘वृंदावन से आ तो नहीं रहा हूँ, पर वहाँ जाने का विचार अवश्य है।’

“‘तो अभी चले जाओ वृंदावन! मथुरा तुम्हारे जैसे पागलों के लिए नहीं है।’ कंस ने कहा।”

आचार्यजी ने बताया कि “जी में आया कि कह दूँ, पागल दूसरों को पागल ही समझता है। पर मैंने परिस्थिति को और अधिक बिगाड़ना उचित नहीं समझा; क्योंकि छंदक ने मुझे समझा दिया था।”

“क्या समझाया था?”

पिताजी के पूछने पर आचार्यजी ने बताया—“छंदक ने स्पष्ट कहा था कि ‘हो सकता है, राजभवन में आपका अपमान भी हो। पर आप जरा भी विचलित मत होइएगा।’...मैं चुपचाप वहाँ से चल पड़ा।

“चलते-चलते मैंने सुना, कंस अपने सेनापति से कह रहा था—‘देखा, ये भगवान् की महिमा गाते हैं! अरे, मेरी महिमा गाते तो बात भी समझ में आती। कहाँ है भगवान्? कौन है भगवान्?’ वह जोर से हँसा। उसके साथ ही सेनापति की हँसी भी सम्मिलित हो गई।”

आचार्यजी ने आगे बताया—“मुझसे सुना नहीं गया। मैं तत्क्षण लौटा और आवेश में बोला, ‘भगवान् को देखनेवाली तुम्हारी आँखें फूट चुकी हैं।’

“ ‘क्या कहते हो, गायक?’ कंस आवेश में खड़ा हो गया। सेनापति ने अपनी असि निकाल ली।

“ ‘ठीक कहता हूँ, राजन्!’ आचार्य ने अपना पिछला वाक्य दुहराया—‘भगवान् को देखनेवाली तुम्हारी आँखें फूट चुकी हैं। और जिन नेत्रों से तुम काम ले रहे हो, उनपर भी तुम्हारे अहं का परदा पड़ा है।’

“ ‘तुम जानते हो, किसके मुँह लग रहे हो?’ सेनापति और ऐंठा।

“ ‘जानता हूँ, उसके मुँह लग रहा हूँ जिसका मुख तुम्हारे जैसे श्वान चाट रहे हैं।’ आखिर मैं आवेश में आ ही गया। वह मुझे मारने के लिए झपटा; पर कंस के संकेत पर थम गया। मैं आवेश में ही था—‘उसके मुँह लग रहा हूँ, जिसपर पाप की काली छाया उतर आई है; जिसने शायद कभी अपना प्रतिबिंब नहीं देखा है।’ उस विशाल कक्ष के माहौल में मेरी ध्वनि थरा उठी—‘कभी अपने को भी देखने की चेष्टा की है, राजन्?’

“इस बार भी सेनापति ने पुनः झपटने की चेष्टा की; पर पता नहीं क्या सोचकर कंस उसे रोकते हुए बोला, ‘जाने दो, जाने दो!’

“ ‘क्यों जाने दो? आगे बढ़ो। मेरा वध ही करना चाहते हो न! क्या मेरी हत्या से सत्य की हत्या हो जाएगी? मुझे शांत करने से क्या सत्य शांत हो जाएगा?...कभी आपने सत्य की व्यग्रता नहीं देखी है, राजन्!’ ” आचार्यजी ने बतलाया—“मैं और आवेश में आ गया था—‘सत्य जब व्यग्र होता है, तब पृथ्वी हिलने लगती है। तारे टूट-टूटकर गिरने लगते हैं। महानाश अटूटहास करता है। शिव का तांडव सत्य की व्यग्रता का ही प्रतीक है।’

“ ‘हुआ करे प्रतीक! आप अपना भाषण बंद करें और यहाँ से कृपा कर चले जाएँ, अन्यथा अनिष्ट होगा।’ कंस की ध्वनि कुछ सहमी-सहमी-सी लगी। स्वयं सेनापति को आश्चर्य था कि महाराज व्यर्थ क्यों दब रहे हैं!

“कंस ने सेनापति के कान में धीरे से कहा, ‘यह गंधर्व है, सामगान गायक है, अवध्य है।’

“ ‘अवध्य है।’ यह आवाज कान में पड़ते ही मैं मुसकराया—‘लगता है, अभी भी आपके मन में कहीं-न-कहीं सत्य जीवित है, सत् जीवित है। उसीका विकास करो, राजन्। इन चापलूसों के चक्कर में मत पड़ो।’ मेरा संकेत सेनापति की ओर था।

“सेनापति फिर तिलमिलाया। मंत्रबद्ध सर्प की तरह फुफकारकर अपने स्थान पर बैठा ही रहा।

“मैं अपनी मंडली के साथ बड़े शांतभाव से लौट आया। मुझे कोई दुःख नहीं था। जो कुछ हुआ, वह मेरी कल्पनानुकूल ही था। हाँ, चलते समय महामात्य प्रद्योत ने अवश्य क्षमा माँगी थी। मैंने प्रद्योत से कहा, ‘आज तक तो मैंने मंत्रियों के दुर्व्यवहार के लिए राजाओं को क्षमा माँगते हुए सुना था; पर आज मैं पहली बार राजा के दुर्व्यवहार के लिए महामात्य को क्षमा माँगते देख रहा हूँ।’

“ ‘अब मथुरा में सबकुछ उलटा ही हो रहा है, आचार्यजी!’ प्रद्योत बोला और उसीने मुझे सेनापति का परिचय भी दिया। बताया कि उसका नाम ‘अघ’ है।

“ ‘अघ! पाप! ऐसा भी किसीका नाम हो सकता है!’ मैं चकित था। प्रद्योत मुसकरा रहा था—‘आश्चर्य तो यह है कि कुछ लोग उसे ‘अघासुर’ भी कहते हैं। वस्तुतः यह उसका वास्तविक नाम नहीं है। उसके पिता परम तपस्वी थे। वे महाराज उग्रसेन के ऋत्विक् थे। उनके यज्ञ-कर्म के संचालक थे। इसीसे इसे अग्नीघ्न (यज्ञ की अग्नि जलानेवाला, उसकी रक्षा करनेवाला) कहा गया। बाद में यह कंस के अधिक निकट आया। पाप कर्मों में लिप्त हुआ और अब अग्नीघ्न से अघ हो गया।’ ”

आचार्य श्रुतिकेतु ने पिताजी को आगे बताया—“ज्यों ही मैं प्रासाद से अपनी मंडली लेकर निकला त्यों ही सिंहद्वार पर मुझे छंदक मिला। निश्चित रूप से वह मेरी प्रतीक्षा कर रहा था। देखते ही बोला, ‘आप अधिक विचलित तो नहीं हुए?’

“ ‘विचलित तो हुआ ही, पर घबराया नहीं।’ मैंने कहा और फिर जो कुछ हुआ, उसे कह सुनाया।

“ ‘चलिए, यही होना था।’ छंदक ने कहा।

“ ‘जब यही होना था तब तुमने मुझे वहाँ भेजा क्यों था?’

“ ‘जब मरण निश्चित है तब जीव क्यों जन्म लेता है?’ छंदक ने मुसकराते हुए कहा, ‘सीधा सा उत्तर है—कर्म की प्रेरणा से। मैंने भी आपको कर्म की प्रेरणा से ही भेजा था। आपने अपना कर्म किया, अब मैं अपना कर्म करूँगा।’

“ ‘क्या करोगे तुम?’ मैंने पूछा।

“ ‘चिनगारियाँ बिखेरूँगा।’ वही पुराना उत्तर। छंदक बोलता रहा—‘पूरे नगर को बताऊँगा कि एक भजन मंडली तिरस्कृत करके राजभवन से निकाली गई। अब सामगान करनेवालों को भी मथुरा में स्थान नहीं।’

“ ‘इसका लाभ क्या होगा?’ मैंने उससे पूछा।

“ ‘आखिर चिनगारियों के बोने पर क्या होगा?’ छंदक ने स्वयं प्रश्न किया और स्वयं उसका उत्तर भी दिया—‘आग पैदा होगी। जैसे लंका जली थी, मथुरा जलेगी।’ ”

आचार्य ने बताया कि इतना कहने के बाद छंदक हनुमान की तरह कूदता और पागलों की तरह हँसता, बड़बड़ाता चला गया।

□

प्रतिभा का अंकुर चट्टान फोड़कर उगता है। लोग कहते हैं, मेरी प्रतिभा की गंगा भी चट्टान तोड़कर निकल रही थी। उसकी अनेक धाराएँ थीं—नृत्य की, गायन की, वंशीवादन की और जाने किसकी-किसकी। अब मुझे गुरु भी मिल गए थे। उन्होंने उस धारा को उचित मोड़ देना शुरू किया। मेरे विकास के साथ ही मेरी कला में भी विकास होता गया। यों गोकुल की सहज धुनें मेरी वंशी में पहले से समाई थीं। अब उनका कलात्मक संस्कार होने लगा। सामगान मेरे कंठों में बैठने लगा। मेरे पगों की थिरकन लय-ताल में बँधकर कला के शिखर की ओर बढ़ी। यह सब जिस गति से हुआ, वह आचार्यजी के लिए भी अनसोचा था, अप्रत्याशित था। स्वयं उन्हें ही आश्चर्य था कि यह बालक है या कोई चमत्कार। उनकी इस मनःस्थिति ने भी मुझमें देवत्व के ही दर्शन किए। एक घटना और घटी, जिसने बड़ी सहजता से लोगों को यह विश्वास दिला दिया कि आचार्यजी की दृष्टि में मेरे प्रति ईश्वरत्व का आधान हो चुका है।

बात यह हुई कि नृत्य में उन्होंने सबसे पहले मुझे पूजा सिखाई। यह पूजा गुरु की होती थी। नृत्य की विभिन्न मुद्राओं से गुजरते हुए गुरु के समक्ष नतमस्तक होना था। जब मैं ऐसा करता, आचार्यजी बड़े कलात्मक ढंग से मेरे

समक्ष से हट जाते। मैंने एक बार देखा, दो बार देखा और अंत में पूछ ही दिया।

आचार्यजी ने पहले तो आनाकानी की, फिर मेरे बालहठ के सामने उन्हें झुकना ही पड़ा। वे बोले, “जिसे मैं पूज्य समझता हूँ, उससे पूजा कैसे स्वीकार करूँ?”

मैं हँसा—“कौन पूज्य है और कौन पूजक? क्या आप अनेक बार नहीं कह चुके हैं कि तुम मेरे भीतर बैठ चुके हो? तो क्या यह नहीं हो सकता कि मैं ही पूजक होऊँ और मैं ही पूज्य भी।”

एक छोटे से बच्चे से इस प्रकार का उत्तर! उनकी आँखें खुली-की-खुली रह गईं।

अब मुझे भी आश्चर्य लगता है कि मैं उस समय यह बोल कैसे गया। अवश्य ही मेरे भीतर कोई संस्कार था। मेरे पारिवारिक पुरोधा उपनिषद् की कथाएँ सुनाते थे। आत्मा-परमात्मा की बातें करते थे। हर जीवन में उस परम सत्य की स्थापना को स्वीकार करते थे। लगता है, उनके कथन मेरे अवचेतन में इकट्ठे होते गए—और संस्कार रूप में पके। उसका रस बहुधा छलक पड़ता था।

कितना हास्यास्पद लगता है यह कहते हुए कि अब मेरे गुरु अपने भगवान् को अपनी कला सिखा रहे थे।

धीरे-धीरे मैं अपने मार्ग पर चलता गया। दिन, मास और वर्ष बीतते गए। आचार्य श्रुतिकेतु मेरे परिवार के सदस्य जैसे हो गए। मैं भी बड़ा हो गया, मेरी कला भी बड़ी होती गई। मेरी कला में अब कई गुना अधिक मोहकता थी। अब मैं जब वंशी बजाता, उसका ऐंद्रजालिक प्रभाव पड़ता। गोप तो गोप, गोपियाँ तक उसको सुनने के लिए चली आतीं। यों तो मुझे अनुभव था ही, अब और अनुभव करने लगा कि संगीत की मोहकता पशु-पक्षियों तक को अपनी परिधि में समेट लेती है।...वंशी बजती थी, गायें स्तब्ध रह जाती थीं। वे खड़ी होकर मुझे निहारने लगती थीं। पक्षियों के पंख अपना स्पंदन खो देते थे।

मेरी कला का आकर्षण तो था ही, मेरे अभिनय और विशेष रूप से मेरे नटखटपन का आकर्षण कम नहीं था। चर्चा तो मेरे नटखटी स्वभाव की ही होती थी।

एक मजेदार घटना सुनाऊँ।

गोकुल की बस्ती से थोड़ा हटकर वृंदावन की सघनता में एक सरोवर था। सरोवर पड़ता तो था यमुनातट से थोड़ी दूर, पर एक छोटे नाले से यमुना से मिला था। उसमें यमुना का ही जल आता था। चारों ओर तमाल के वृक्षों और करील के कुंजों से घिरा यह सरोवर भीतर से जितना रमणीक था, बाहर से उतना ही अदृश्य भी। वृक्षों की सघनता उसे अपने में ऐसा छिपा लेती थी कि दूसरों को उसके अस्तित्व तक का भान नहीं हो पाता था।

गरमियों के दिन थे। सूर्योदय के पूर्व ही प्रकाश की आभा फैलने लगती थी। मैं वंशी लेकर कुछ ग्वाल मित्रों के साथ निकल पड़ता था। पहले तो मेरी देखरेख के लिए कुछ लोगों को साथ किया जाता था; किंतु ज्यों-ज्यों मेरे ईश्वरत्व का विश्वास दृढ़ होता गया, मुझपर लगाए गए सारे बंधन ढीले पड़ते गए। अब मेरी उम्र भी पहले से अधिक हो चली थी। बहुधा मैं एकाकी निकलता था। मार्ग में लोग साथ हो जाते थे।

दुर्भाग्य या सौभाग्य से आज कोई साथ नहीं था। टहलते हुए मैं उस सरोवर के निकट पहुँच गया था। जो कुछ देखा, स्तब्ध रह गया। कई तरुणियाँ नग्न होकर बड़े उन्मुक्त भाव से सरोवर में स्नान कर रही थीं। मैंने इतनी तरुणियों को एक साथ निर्वसन कभी नहीं देखा था। आश्चर्य मेरे मुख पर चिपक गया था। मैं कुछ बोल नहीं सका। आड़ में खड़ा-खड़ा देखता रहा। नेत्रों से मेरी उबाल मारती वासना छलकती रही। मुझे कितना अच्छा लग रहा था, सो कैसे बताऊँ!

आप यही समझिए कि मेरी वंशी सुनकर लोग खुद को भूल जाते थे; किंतु ये ऐसे क्षण थे जब हाथ में होते हुए भी मैं अपनी वंशी को भूल गया था। केवल देखने में तन्मय था। नारी की नग्न शरीरयष्टि और पुरुष की दृष्टि!

अभागे के घर में स्वर्ण की सृष्टि। नील मृगचर्म का बिछावन और यूथिका की वृष्टि!

यह सत्य है कि मैं बालक था। मेरी वासना पुरुष की वासना नहीं थी; फिर भी मेरा आश्चर्य पुरुष के आश्चर्य से कई गुना अधिक था। मैं वह देख रहा था, जिसे कभी देखा नहीं था; मैं वह सुन रहा था, जिसे कभी सुना नहीं था।

अचानक मेरा वंशीवाला हाथ हिला या हाथवाली वंशी हिली। खड़खड़ाहट हुई और सबकी सब सरोवर में डुबकी लगा बैठीं। मानो मेरा बाल व्यक्तित्व ही मुझे चिढ़ाते हुए बोला, 'लो, खेल खतम, सबकुछ हजम।'

मैं चुपचाप कुछ क्षणों तक खड़ा रहा। पानी में से एक गरदन धीरे से ऊपर आई। उसने चारों ओर देखा।

'अरे, कहीं कोई नहीं है। लगता है, कोई जानवर रहा होगा।' वह बोली।

और सारी गरदनें खिलखिलाती हुई पानी के बाहर निकल आईं। दो-एक बाँहों में बाँहें डालकर शिला पर बैठी थीं। मैं अब भी चुपचाप देखता रहा। मेरी आँखें उनके तन पर धीरे-धीरे रेंगती रहीं।

'कोई जानवर होगा!' उनकी आवाज अब मुझे चुभने लगी थी—'क्या मैं सचमुच जानवर हूँ?'

'चोरों की तरह छिपकर तुम वह देख रहे हो, जो तुम्हें नहीं देखना चाहिए; फिर भी तुम अपने को मनुष्य समझते हो? अवश्य ही तुम कहीं-न-कहीं जानवर हो!' एक किशोर अंतर इतना चिंतनशील होगा, इसकी कल्पना आपको न होगी। किंतु निश्चित रूप से मेरा व्यक्तित्व बचपन से ही कल्पनातीत था।

पशु की वासना तो आक्रामक होती है, पर किसी प्रकार की आक्रामकता मुझमें नहीं थी। मैं बड़े सहजभाव से देख रहा था; जैसे कोई बालक चलते-फिरते आकर्षक खिलौने को देखता हो। वे सब जल-कल्लोल कर रही थीं। तैरतीं, डुबकियाँ लगातीं, एक-दूसरे पर छींटे उछालतीं, पानी में ही दो छिपकलियों की तरह आपस में लिपट जातीं।...उन सबके वस्त्र एक ऊँचे शिलाखंड पर इकट्ठे कर रख दिए गए थे।

विचार आया कि उनके सारे कपड़े लेकर चंपत हो चलूँ। मजा आ जाएगा। देखूँ, वे क्या करती हैं। पर मैं ऐसा कर न सका। देखता रह गया। उनकी जलक्रीड़ा घंटों चलती रही। मैं चुपचाप वहाँ से खिसका और कुछ दूर आकर वंशी बजाने लगा।

सबकुछ सामान्य था; पर आज मेरी मनःस्थिति असामान्य थी। शीघ्र ही निवास पर लौटा। यशोदा माँ माखन-रोटी ले आई।

"तू इतना सवेरे ही निकल गया था, कन्हैया!" उसने कहा, "इतना सवेरे-सवेरे आखिर चला कहाँ गया था?"

"दूर, बहुत दूर।" आखिर और कहता ही क्या! इतना कहकर मैं उसके गले से लिपट गया था। मैं माँ की कमजोरी जानता था। उसने बड़े प्यार से मुझे अपनी गोद में समेट लिया।

मस्तिष्क में दृश्य तो बैठा ही था। दिन में कई ऐसी गोपियाँ भी आईं, जिन्हें मैं निर्वसन देख चुका था; पर वे इस समय वसनाच्छादित, सलज्ज और नारोचित गरिमा से युक्त थीं। फिर भी मेरी दृष्टि उन्हें देखती रही—और यदि ईमानदारी से कहूँ तो वस्त्र हटाकर उन्हें टटोलती रही।...यह बात किसीसे कहने की नहीं थी, मन-ही-मन मैं रस लेता रहा।

दूसरे दिन अचानक मेरी नोंद बहुत पहले ही खुल गई। ब्राह्म मुहूर्त का अंतिम चरण था। शुक्र पूर्व के आकाश में झिलमिला रहा था। माता यशोदा स्नान की तैयारी कर रही थी। पिताजी पूजन पर बैठ चुके थे। उनके गायत्री जाप की ध्वनि स्पष्ट सुनाई दे रही थी। पर मैं शय्या से उठूँ भी तो कैसे उठूँ। यदि माताजी ने कक्ष से निकलते देख लिया तो क्या कहूँगा? चुपचाप करवटें बदलते हुए बिस्तर पर ही पड़ा रहा।

थोड़ी देर बाद ही माता-पिता दोनों प्रातः अग्निहोम के लिए यज्ञशाला की ओर गए। मुझे मौका मिला। मैं अपनी वंशी लेकर निकल भागा। सीधे उसी सरोवर की ओर पहुँचा। कल की भाँति आज भी गोपांगनाओं का नग्न स्नान

चल रहा था। मैंने पहले से ही योजना बना ली थी। छिपे-छिपे उस शिलाखंड की ओर पहुँच गया था, जहाँ सबके वस्त्र रखे थे। मैंने खड़खड़ाहट की, सबने एक साथ डुबकी लगाई। मैंने झट से सबके वस्त्र समेटे, वंशी कमर में खोंसी और वहीं खड़े एक विशाल कदंब की डाल पर चढ़ गया।

...और वंशी पर मैंने भैरवी छेड़ी। अब उनके होश उड़े। उन्होंने मेरी ओर देखा। सबके वस्त्र डाल पर लटक रहे थे। वे स्वयं जल में डूबी थीं। अब भैरवी की तानों में उनका मन भी डूबने लगा। एक इंद्रजाल-सा छाने लगा। सारा वातावरण राग और अनुराग से भर गया।

विराग से संन्यास, राग से 'सुर' और अनुराग से जीवन सार्थक हो उठता है। वहाँ राग और अनुराग के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। कुछ भी निरर्थक नहीं, सबकुछ सार्थक। ज्यों ही वंशी का सुर टूटा, उनकी चेतना लौटी। अब सब अपने वस्त्र माँगने लगी थीं।

“श्याम, ऐसा अनर्थ मत करो।” किसीने कहा।

“तुमसे ऐसी आशा नहीं थी, कन्हैया। मेरे वस्त्र दे दो।” कोई बोली।

कोई-कोई लज्जावश जल में ही बैठी रहीं। कोई-कोई उझक-उझककर आग्रह करती रहीं। मैं उनकी विवशता और लाचारी का आनंद भोगता रहा। वे खीजती रहीं, मैं मुसकराता रहा। उनके नेत्र मेरी मुसकराहट बटोरते रहे। अब सब निरुपाय हो गई एकदम असहाय-सी दिखीं। तब तक एक महिला थोड़ा और ऊपर उझकी। उसका कटि तक का भाग जल के बाहर निकल आया। वह बड़ी कातर दृष्टि से मुझे देखती रही। सचमुच उसकी आँखों में जादू था।

“तुम वस्त्र नहीं लौटाओगे, मेरे कन्हैया!” वह जिस भंगिमा से बोली, वह अवर्णनीय है।

उसके ‘मेरे कन्हैया’ में रस की गागर ही ढुलक गई थी। मैं बिल्कुल भीग गया। वह बार-बार अपना कथन दुहराती रही और बार-बार मेरी नसों में संगीत की मूर्च्छना के समान कुछ मचलता रहा। आखिरकार मैंने उसका वस्त्र उतारकर फेंक दिया।

वह अपने वस्त्र उठाने के लिए उधर झुकी तक नहीं। अब अधिक कातर दृष्टि से मुझे देखती रही।

“मैंने तुम्हारे वस्त्र फेंक दिए।” मैंने कहा। फिर भी वह मुझे देखती रही।

फिर वह धीरे से बोली, “किंतु मैं इसे नहीं पहनूँगी।”

“क्यों?”

“अन्य सखियाँ नग्न रहें और मैं वस्त्र पहन लूँ! यह कैसे हो सकता है!”

“फिर तुम नारियाँ एक-दूसरे के सामने नग्न क्यों हो जाती हो?”

“क्योंकि हममें आपस में ऐसा कुछ नहीं, जिसमें वस्त्र की आवश्यकता पड़ती है।”

“फिर पुरुषों के सामने वस्त्र क्यों पहनती हो?”

“तुम्हारे जैसे लोगों के भय से।” वह मुसकराई। उसकी मुसकराहट बहुत दूर तक मुझे चुभती चली गई। मुझे लगा कि यह केवल मुझपर नहीं, पूरे पुरुष समाज पर आक्षेप है।

अब मैं बोला, “हम लोग तो कभी एक-दूसरे के सामने निर्वस्त्र नहीं होते!”

“इसका कारण तुम स्वयं जानो!” उसने कहा, “शायद तुम अपने बीच की दूरी बनाए रखना चाहते हो।...हर आक्रामक ऐसा ही करता है।” उसकी बात उस समय समझ में नहीं आई, पर उसकी मुसकराहट मुझे छूती रही।

आज सोचता हूँ तो लगता है, उसने उस समय पूरे पुरुष समाज को आक्रामक कहा था। यह कोई गलत बात तो नहीं। पूरी प्रकृति के यौन संदर्भ में नर ही आक्रामक होता है। चाहे सिंह हो, चाहे गज हो, सर्प हो, वृषभ या बिडाल

(बिलाव) हो—सबमें नर ही आक्रामक होता है। फिर यदि पुरुष आक्रामक होता हो तो आश्चर्य ही क्या है! यह प्रकृति का नियम है। सृष्टि-सत्य है।

किंतु उस समय न तो मेरी अवस्था ही इतनी थी और न मैं इतनी दूर तक सोच ही सकता था। मैं उसपर मुग्ध था।...उसका नाम था राधा। सिंदूर रेख से तो वह सधवा जान पड़ती थी। वय में वह मुझसे बड़ी थी। मैंने इसके पूर्व भी उसे कई बार देखा था, इसी गोकुल गाँव में ही। पर वास्तव में वह कहाँ की है? कौन उसका पति है? मैं कुछ नहीं जानता। ऐसा लगता है, वह जन्म-जन्मांतर से मेरे साथ है। उसके माँग की सिंदूर रेखा भी शायद किसी जन्म में मैंने ही खींची हो, जो आज तक ज्यों-की-त्यों बनी है। उसकी आत्मीयता की सघनता ने जंगल की दीवारों को धक्के मार-मारकर चूर-चूर कर दिया। अब उसका शरीर मेरा शरीर था, मेरा शरीर उसका शरीर।

मैंने उसके आग्रह पर सबके वस्त्र लौटा दिए। पूर्व सोची हुई मैं यह प्रतिज्ञा भी नहीं करा सका कि अब तुम सब नग्न स्नान नहीं करोगी।

सब अपने वस्त्र पहनने लगीं—और मैं उसी डाल पर बैठा-बैठा वंशी पर आशावरी का आलाप लेने लगा।

□

मेरी संगीत शिक्षा के समय मेरे माता-पिता भी बहुधा बैठे ही रहते। एक ओर वे संगीत का आनंद लेते, दूसरी ओर अपने बालक की प्रतिभा पर प्रसन्न होते। प्रातःकाल श्रुतिकेतुजी स्वयं अपना अभ्यास करते। घड़ी भर दिन चढ़ते-चढ़ते मेरी शिक्षा आरंभ हो जाती।

सामगान के एक छंद की स्वरावृत्ति बार-बार हो रही थी। आचार्यजी का विश्वास था कि कला की असि बार-बार अभ्यास से ही धारदार होती है। इसीलिए हर अभ्यास के बाद मेरी प्रशंसा में उनकी गरदन का हिलना कुछ अधिक ही हो जाता।

ऐसे उल्लसित वातावरण में परिचर ने सूचना दी कि सेनापति अघ पधारे हैं। उसका नाम सुनते ही सब सन्न रह गए। मेरी आवृत्ति भी बंद हो गई। फिर भी पिताजी उसकी अगवानी के लिए उठे।

पिताजी को भी क्या सूझी कि संगीत कक्ष में अघ को सीधे ले आए और अपनी बगल में बड़े सम्मान से उसे बैठाया। कितना विचित्र था, भीतर से दूरी और बाहर से इतनी निकटता। भीतर से घृणा और बाहर से प्रेम।

“बड़ी कृपा की कि आप पधारे!” पिताजी का कृत्रिम सम्मानभाव बोल पड़ा—“कोई विशेष प्रयोजन हो तो दूसरे कक्ष में चलूँ!”

“नहीं-नहीं, ऐसी कोई विशेष बात नहीं।” अघ बोला, “ऐसे ही वृंदावन घूमने आया था। सोचा, आपसे मिलता चलूँ।”

“सचमुच आपकी यह कृपा है। आपके आगमन से कृतकृत्य हुआ।” पिताजी बोले, “यदि कोई कार्य नहीं है तो थोड़ी देर तक संगीत का ही आनंद लीजिए।”

आचार्यजी ने एक जलती दृष्टि उसपर डाली—“यह वही नीच है, जिसका हाथ मेरी हर बात पर तलवार की मूठ पर जाता था। चबा जाने के लिए दाँत किटकिटाता था; पर इस समय कैसा भद्र बना बैठा है।” फिर भी वह आचार्यजी से आँखें मिला नहीं पा रहा था।

आचार्यजी स्वयं ही बोले, “संगीत वह कला है, श्रीमान, जिससे आत्मा का संस्कार होता है।”

“जहाँ आत्मा होती है वहाँ न संस्कार होगा! वहाँ तो आत्मा ही नहीं है।”

निश्चित रूप से अघ का संकेत कंस के राजभवन में हुई घटना की ओर था। पर यह आज इतना बदल कैसे गया है? इसकी सारी क्रूरता तथा पाशविकता ब्रज की धूल में मिल गई क्या? या उसने अपने ऊपर एक बनावटी

नम्रता ओढ़ ली है? निश्चित ही पहली बात की संभावना बहुत कम थी, इसे पिताजी भी जानते थे और आचार्यजी भी।

पिताजी चुप थे। आचार्यजी बोल पड़े—“कंस तो असुर है, असुर!”

‘असुर’ शब्द सुनते ही अघ जैसे तिलमिला-सा गया। उसके जैसे व्यक्ति के लिए अमर्ष का आवेग झेल पाना हिम में अग्नि का आह्वान करना था। वह उठकर चलने ही वाला था कि आचार्यजी ने मुसकराते हुए बड़ी योग्यता से स्थिति को सँभाला—“मेरे असुर कहने से लगता है, आप घबरा-से गए। लेकिन आपको घबराना नहीं चाहिए। मैं तो उन सबको असुर कहता हूँ, जिन्हें ‘सुर’ की चोट नहीं लगती।”

परिस्थिति कुछ नियंत्रण में आई।

“बात यह है कि आजकल महाराज की मानसिक स्थिति कुछ ठीक नहीं है। वह संगीत आदि मनोरंजन का नाम सुनते ही झुँझला उठते हैं।” अघ ने कंस की ओर से सफाई दी।

“हम तो मनोरंजन के लिए नहीं गए थे। हम तो भगवान् की आराधना के लिए गए थे। हमने बस इतना चाहा था कि आराधना में उन्हें भी सम्मिलित करें।”

“वे कैसे सम्मिलित होते? भगवान् में उनका विश्वास नहीं।” अघ बोला।

श्रुतिकेतुजी बड़ी गंभीरता से मुसकराए—“प्रकाश में अविश्वास करनेवाला व्यक्ति अंधकार को भोगता अवश्य है, फिर भी उसके मन की किसी परत के भीतर प्रकाश का अस्तित्व अवश्य सोता रहता है। वह यह देखता है कि अंधकार है; पर वह समझता है कि अंधकार कभी नहीं भी होगा। यह न होने की संभावना ही प्रकाश के अस्तित्व की पहचान है।”

अघ को इतनी बुद्धि कहाँ, जो वह आचार्य के तर्क तक पहुँचता। पर आचार्य बोलते रहे—“तैरकर पार होने का विश्वास हमें सागर के थपेड़ों से निकाल ले जाता है और अविश्वास हमें डुबो देता है। विश्वास को भी सागर की अस्मिता का ज्ञान है और अविश्वास को भी; अंतर बस इतना है कि विश्वास सागर में जाना चाहता है और अविश्वास उससे दूर भागता है।...लगता है, आपके महाराज भगवान् से दूर भागना चाहते हैं!”

“भगवान् खुद उनसे दूर भागता है।” अघ बड़े तपाक से बोला।

“बात लगभग एक ही है। दोनों में दूरी बनी रहती है। जब अस्तित्व नहीं तब दूरी कहाँ?”

निश्चित ही अघ का मानसिक स्तर आचार्य को छू नहीं पा रहा था। वह मात्र इतना ही समझ रहा था कि यह एक गवैया हमारे महाराज की अवमानना कर रहा है। फिर भी वह अपनी प्रकृति के प्रतिकूल आवेश पीता गया। लगता है, उसे ऐसा करने के लिए कहा गया था। वह बस इतना ही बोला, “मैं जिसका अन्न खाता हूँ, उसके विरुद्ध कुछ भी सुनना पसंद नहीं करता।”

“एक स्वामीभक्त सेवक का यही तो गुण है।” पिताजी ने बीच में हस्तक्षेप किया और बातों का क्रम दूसरी ओर मुड़ चला।

थोड़ी देर बाद अनुमति लेकर आचार्यजी उठ चले; क्योंकि उनका समय हो गया था।

“कहिए, कैसे कष्ट किया आपने?” पिताजी ने मतलब की बात छेड़ी।

“यों ही कन्हैया को देखने चला आया था।” अघ ने मुसकराते हुए कहा और मुझे खींचकर अपनी गोद में बैठा लिया। मुझे ठीक याद है, मैं भी थोड़ा घबराया अवश्य था।...और पिताजी की व्यग्र मानसिकता का अनुमान तो आप ही लगा सकते हैं। उन्होंने बाद में लोगों को बताया था कि मुझे तो ऐसा लग रहा था कि कहीं अपनत्व दिखाने के बहाने वह कोई विषाक्त सुई कन्हैया को चुभो न दे।...फिर भी मैं सहजता पहने रहा।

अघ आया था अपना बनकर, पर उसकी मित्रता के झीने वस्त्र के नीचे से उसकी शत्रुता नंगी दिखाई देती थी, जो बड़ी नम्र थी। सिंह, कमान और शत्रु की नम्रता बड़ी आक्रामक होती है। यह जानते हुए भी पिताजी उसकी आवभगत में लगे रहते। भवन के सभी लोग सजग थे। एक ओर कंस के सेनापति को अपनी सेवा अर्पित कर रहे थे और दूसरी ओर उसके संपूर्ण क्रिया-कलाप पर दृष्टि रखे थे।

एक दिन ब्राह्म मुहूर्त में अघ उठा और चुपचाप गायब हो गया। पता लगते ही कुहराम मच गया। गोकुल का हर व्यक्ति मेरी कुशलता पूछने के लिए दौड़ा। यह सब एक घड़ी तक होता रहा। अचानक अघ प्रकट हुआ।

“अरे भाई, कहाँ चले गए थे?” पिताजी ने उसे देखते ही पूछा, “बिना किसीसे कुछ कहे और बिना कुछ खाए-पीए। हम लोग तो घबरा गए थे।”

“इसमें घबराने की क्या बात थी!” अघ मुसकराया—“मन में आया, जरा वृंदावन का एक चक्कर लगा आऊँ। प्रभात का शीतल मंद समीरण मुझे खींच ले गया।”

इतने से मेरे पिताजी को संतोष होने वाला नहीं था। कोई बात जरूर है, जो रह-रहकर उनके मन में कौंध जाती थी। वे अघ को खोलना चाहते थे—“तो क्या देखा आपने वहाँ?”

“झूमते हुए वृक्ष देखे, लचकती हुई लताएँ देखीं, मुसकराती हुई प्रकृति देखी।” और एक रहस्य भरी हँसी हँसने लगा।

पिताजी के साथ और जो लोग थे वे और भी गंभीर हो गए।

“मेरे लौटते-लौटते ग्वाले अपनी गायें लेकर वहाँ पहुँचने लगे थे। लगता है, और दिन चढ़ते-चढ़ते बहुत सारे पशु वहाँ पहुँच जाते होंगे?” अघ बोला।

“हाँ, ऐसा तो है ही। गोकुल की बहुत सी गायें वृंदावन में चरने जाती हैं।” पिताजी बोले।

“यों भद्रवन इससे अधिक घना है।”

“पर वह यमुना के उस पार है।”

“इसीलिए तो सोचता हूँ, यदि गायें बढ़ती गईं तो एक-न-एक दिन वृंदावन की आवश्यक सुषमा लुप्त हो जाएगी।”

“आप भी कैसी बातें करते हैं, सेनापतिजी! कहीं पक्षियों के पीने से यमुना का नीर घटता है!” पिताजी ने कहा, “यमुना का संश्रय तो शाश्वत है—वैसे ही वृंदावन की प्रकृति का भी संश्रय शाश्वत है।”

पिताजी की बात सुनकर अघ गंभीर रूप से चुप हो गया। स्पष्ट लगा कि वह कुछ कहना चाहता है, जिसका मौका नहीं निकाल पा रहा है।

“महाराज की इच्छा थी कि वृंदाविपिन के किनारे एक सुंदर चरक्षेत्र बना दिया जाए, जिसमें लोग अपनी गायें ले जाएँ और आराम से चराएँ।” फिर उसने मेरी ओर देखा—“जिसमें मेरा कुँवर कन्हैया भी विचरण करे और उसके पगों में एक शूल भी न धँसने पाए।” इतना कहते हुए उसने फिर मुझे खींचकर अपनी गोद में बैठा लिया।

योजना स्पष्ट लगी कि वह वृंदावन में कुछ करना चाहता है।

इसके बाद उसका मेरे यहाँ आना-जाना लगा रहा। उसके प्रति लोगों का मन रहस्याकुल होता गया; पर कोई उससे न कुछ पूछ पाया और न समझ पाया।

□

गरमियाँ बीत चलीं। आषाढ़ के मेघ दुंदुभी बजाने लगे। चातुर्मास आरंभ हुआ। यात्रा वर्जित हो गई। फिर भी अघ आता-जाता रहा। लोगों के मन में यह आम धारणा हो गई थी कि मात्र गुप्तचरी करना ही इसका उद्देश्य है,

इसलिए उससे कोई खुलता नहीं था। पिताजी भी बहुत कम बोलते थे।

बहुधा वह कुछ लोगों के साथ भी आता। उनके हाथों में शेल और परशु भी होता। आखिर वह कंस का सेनापति था। उसके अनुसरणकर्ताओं के हाथों में शस्त्र हो तो आश्चर्य क्या! किसीको भी शंका नहीं होनी चाहिए थी; पर लोग शंकालु थे।

श्रावण के उत्तरार्द्ध में हिंडोल पर्व पड़ता था। उस दिन गोकुल की हर गोरी रात भर झूला झूलती और गाती थी। धरती से संगीत फूट पड़ता था। शायद ही उस रात को कोई पूरी नींद सोता हो। जवान मादकता रात भर हवा में तैरती और भीगती थी। सवेरा होते ही ग्वाले अपनी गायें लेकर वृंदावन की ओर चल देते थे। दिन भर वहीं भोजन बनाते थे, खाते-पीते थे। रात्रि जागरण और दिन की मस्ती अलस भरे वातावरण में अँगड़ाइयाँ लेने लगती थी।

इस त्योहार की तैयारी बहुत पहले से ही आरंभ हो जाती थी। आज राधा भी इसी संदर्भ में मेरे यहाँ आई थी। वह जब भी आती—आने का बहाना कुछ भी होता, पर वह आती थी मेरे ही लिए। वह मेरी दुर्बलता थी। उसे देखते ही मेरी नसों में जैसे कुछ रेंगने लगता। वह जब भी आती, मुझे अपने सीने से लगा लेती। वह मुझसे वय में बहुत बड़ी थी और मैं छोटा।...तो लोग इसे राधा का सहज बालप्रेम ही समझते। पर हम दोनों के संदर्भ में निश्चित ही कुछ और था, जिसे मैं न तो कह सकता हूँ और न लिख सकता हूँ, वरन् मन-ही-मन समझता हूँ। उसकी अभिव्यक्ति को मैं अपनी मूकता को ही सौंपता हूँ।

जब तक राधा मेरे यहाँ रहती, वह किसी-न-किसी बहाने मेरे आसपास ही रहती। जाने के बाद भी वह मेरे मन से उतरती नहीं थी। एक दिन उसने एकांत में मुझे उठा लिया और बार-बार चूमती रही। मैंने भी उसे दाँत काटे। एक बार तो इतनी तेजी से काटा कि वह 'सी' करके रह गई। उस 'सी-सी' में एक ऐसी चिह्नुक थी, जो आज भी मेरे मन से नहीं उतरती।

बात हिंडोल की हो रही थी। माँ कहती थी कि कन्हैया मानेगा नहीं। उस दिन वृंदावन में 'गैया चरावन' में जाएगा अवश्य।...और इधर अघ बराबर वृंदावन में ही रह रहा है। पता नहीं कौन सा षड्यंत्र रच रहा हो!

“रचा करे षड्यंत्र! मेरे कन्हैया का कुछ होने वाला नहीं है।” राधा मुझे अपनी गोद में खींचते हुए बोली।

“कुछ भले ही न हो, पर ग्रह-नक्षत्र इसके इस समय अनिष्टकारी हैं।”

“किसने कहा?”

“ज्योतिषियों ने बताया है।”

“उन ज्योतिषियों ने यह नहीं बताया कि वे अनिष्टकारी ग्रह भी इसका कुछ नहीं कर सकते?”

“बताया तो है।” माँ कुछ सोचते हुए धीरे से बोली।

“तब आप क्यों घबराती हैं?” राधा ने कहा।

“माँ का मन नहीं मानता, बेटी!” माँ बोली।

राधा मुसकराई—“पर मेरा मन मानता है।”

इतना कहते-कहते उसने मुझे फिर अपनी गोद में खींचा और मेरी माँ के सामने ही एक चुंबन ले बैठी। समवयस्क प्रेम की शंकाएँ, आशंकाएँ और संदेह विषम वयस्क प्रेम तक तो नहीं पहुँचते—और कभी पहुँचते भी हैं तो दुर्बल होकर कि उनकी ओर देखने का न तो किसीके पास समय है और न कोई आवश्यकता ही समझता है। राधा और मेरे संबंध में यह एक ऐसी दीवार थी, जिसकी आड़ में मेरा प्रेम ही नहीं वरन् मेरी वासना भी खुलकर खेलती थी।

उस दिन भी संध्या तक बातें चलती रहीं। यज्ञशाला में अग्निहोम आरंभ हो गया। मंदिरों की आरती की शंखध्वनि

सुनाई पड़ने लगी। अचानक आकाश बादलों से घिर गया। अंधकार पहले से ही अपना श्याम आँचल पसार चुका था। नभ ने उसमें मोती बरसाने आरंभ किए।

राधा घबराई। उसे घर जाना था—“अब क्या होगा?”

माँ ने उसे ढाढ़स बँधाया—“घबराओ नहीं। मैं किसीसे तुम्हें घर भिजवा दूँगी।”

किंतु राधा किसीके साथ जाने को तैयार नहीं। यह अँधेरी रात। पर पुरुष। कैसा पड़े, कैसा न पड़े! वर्षा भी कुछ तेज हो गई।

मेरा मन कह रहा था कि वर्षा बंद न हो। राधा यहीं रह जाए। राधा का मन क्या कह रहा था, यह तो वही जाने। थोड़ी देर बाद वर्षा बंद हो गई। मैंने स्वयं राधा को पहुँचा देने का प्रस्ताव किया। माँ ने प्रस्ताव तो मान लिया, पर एक परिचर मेरे साथ कर दिया। दाल-भात में यह मूसलचंद! मैंने मना कर दिया—“मैं स्वयं पहुँचा दूँगा, माँ।”

“अरे, अकेले तुम लौटोगे कैसे? किसी व्यक्ति को ले लो।” माँ बोली। पर मैं किसीको साथ ले जाना नहीं चाहता था। किंतु कहूँ तो क्या कहूँ? उधर राधा आँख दबाए जा रही थी। वह बराबर संकेत कर रही थी कि किसीको साथ मत ले चलना।

“मैं किसीको साथ नहीं ले जाऊँगा।” मैंने माँ से स्पष्ट कहा।

“तब लौटोगे कैसे?”

“अपने मित्र के साथ।”

“अपने मित्र के साथ!” माँ के नेत्र विस्फारित हो गए। राधा की मुद्रा भी विस्मयात्मक हो चली।

“यह क्या कह रहा है? कौन तेरा मित्र?”

“तू ही बता रही थी न, माँ, कि मैं ऐसी अँधेरी रात में पैदा हुआ हूँ।...यह अंधकार ही मेरा बंधु है, भाई है, साथी है।”

आप क्या किसी किशोरवय के बालक से ऐसे उत्तर की आशा कर सकते हैं? तब मेरी माँ कैसे करती? आज भी लगता है, यह वाक्य मैं नहीं बोला था। मेरे भीतर कोई था, जो बोल पड़ा था। बात यह है कि बच्चे जो सुनते हैं, बहुत कुछ अंश उनके अवचेतन में बैठ जाता है। वह अचानक किसी समय निकल पड़ता है, तब वह चमत्कारी लगता है।

इस चमत्कारी उत्तर ने भी मेरे ईश्वरत्व पर एक पानी और चढ़ाया। माँ ने शीघ्र ही मुझे राधा के साथ जाने की अनुमति दे दी।

हम दोनों खुश थे। माँगी मुराद मिली थी। घना अंधकार था। आकाश पसीजता हुआ और धरती तमाल के पत्ते की तरह काली। हाथ को हाथ नहीं सूझता था; पर मैं राधा को सूझ रहा था और राधा मुझे। दोनों हाथ में हाथ डाले चले जा रहे थे।

मैं और राधा। अंधकार और सन्नाटा। प्यार और वासना। पैर कहाँ पड़ रहे थे? पता नहीं। मन कहाँ था? पता नहीं। एक विचित्र प्रकार की अनुभूति हो रही थी। कभी-कभी हमारे भावातिरेक की प्रबलता हमारी चेतना को भी बहा ले जाती है। जाना हमें कहीं होता है, हम पहुँच कहीं जाते हैं। इस समय भी हम राधा के घर नहीं पहुँचे और पहुँच गए यमुना के किनारे। वर्षा बंद हो चुकी थी। बादलों के घूँघट से झाँकता चंद्रमा हमसे कुछ कहने लगा था। कितनी विचित्र होती है यह वासना। न भय, न लज्जा। न कीचड़ देखती है और न पानी। हम दोनों यमुना के बहाव से दूर, एक ऊँचे टीले पर जमे एक घने वट की छाया में ढुलक गए। घास पानी से सराबोर और हम एक-दूसरे से आलिंगित। जैसे मेरा तन राधा का तन हो और राधा का तन मेरा। दोनों में कोई भेद नहीं। सामने यमुना लहरा रही

थी। वायु रह-रहकर हिलोरें ले रहा था और अभिसारतप्त राधा की उसाँसों मेरे कपोलों को छूती हुई निकल जा रही थीं। मेरे जीवन में इतनी सुखद रात शायद पहली बार आई थी; जिसमें वाणी नहीं और सबकुछ था। जिसमें सन्नाटा भी तृप्त हो रहा था।

“यदि इस तरह से कहीं सवेरा हो जाए तो?” राधा बोली।

“तो हो जाने दो।”

“तुम्हारे यहाँ लोग क्या सोचेंगे?”

“थोड़ा-बहुत इधर-उधर खोजकर सो जाएँगे।”

“और सवेरे जब माँ पूछेगी तो क्या कहोगे?”

“कहूँगा कि मैं राधा के पास था।”

“और यदि मुझसे पूछा गया तो क्या जवाब दूँगी?”

“तुम भी कह देना कि मैं कन्हैया के पास थी।”

मेरे इतना कहते ही वह एकदम खिलखिला उठी। उसने और जोर से मुझे जकड़ लिया।

अचानक कुछ लोगों की बातें करने की आवाज मुझसे टकराई—‘अब रात का दूसरा प्रहर शुरू हो गया है।...अब किसी प्रकार की आशंका नहीं।’

आवाज इतनी दूर से आ रही थी कि हम तक आते-आते क्षीण होकर बिखर जाना उसका स्वाभाविक था, इसलिए कुछ सुनकर अनुमान लगाना पड़ता था।

हम लोगों ने समझ लिया कि रात काफी जा चुकी है। वृंदावन में कुछ लोग कुछ कर रहे हैं। उनकी संख्या अधिक भी हो सकती है। हम लोग चुपचाप चल पड़े। अब हमारी चेतना धरातल पर थी। वासना की उतरती बाढ़ के बाद अब हमें ऊँचा-खाला दिखाई देने लगा था। अब हम सोचने लगे थे कि कीचड़ में लथपथ हमारे वस्त्रों को देखकर लोग क्या कहेंगे। दोनों का एक ही संभावित उत्तर था कि हम फिसल गए हैं। पर कहाँ फिसले हैं? कैसे फिसले हैं? इसे तो आप जानते ही हैं। हमें घर के लोगों की चिंता भी व्यग्र करने लगी थी।

हमें यह भी अनुभव हो गया था कि वन की सघनता में कुछ लोग कुछ कर रहे हैं। इस अंधकार और सन्नाटे में कुछ करने का मतलब था, कोई षड्यंत्र रचा जा रहा है। पर इसपर विचार करने का हमें अवसर कहाँ! मैं तो राधा के लपकते पाँव का अनुसरण कर रहा था।

दूर से ही, जहाँ उसका घर दिखाई पड़ने लगा, राधा ने मुझसे कहा, “अब तुम जा सकते हो; लेकिन सीधे घर जाना।”

“अब कौन है, जिसके पास मैं रह जाऊँगा?” इतना सुनना था कि वह खिलखिला पड़ी। उसने एक बार फिर मुझे अपने से लगा लिया।

अब मैं लौटकर अपने भवन की ओर भागा जा रहा था। मैंने दूर से ही देखा, कोई आ रहा है। मेरे हाथ में और कुछ होना तो दूर रहा, वंशी भी नहीं थी; पर घबराने की बात नहीं, यह तो मेरा परिचर ही है।

पता चला कि कई परिचर मुझे खोजने के लिए छोड़े गए हैं। घर के लोग घबरा रहे हैं। मानसिक रूप से मैं अपने माता-पिता का सामना करने के लिए पहले से ही तैयार हो चुका था, तब मैं इन परिचरों की जिज्ञासा को क्या समझता था। उन्हें मैंने उलटा-सीधा समझा दिया। आखिर बातें बनाने में तो मैं प्रवीण था ही।

मैं पिताजी के सामने जाने से सहमा। उनके नेत्र मुझे देखते ही विस्फारित हो गए। पर उनमें क्रोधाग्नि नहीं थी। मेरे मिल जाने के संतोष की शीतल छाया अवश्य दिखी। फिर भी उन्होंने डाँटते हुए पूछा, “कहाँ थे?”

“पानी बरस रहा था। एक पेड़ के नीचे खड़ा हो गया था।” मैंने रुआँसे स्वर में कहा।

तब तक माँ यशोदा आती दिखाई दी। अब मैं आँखें मींजते हुए सिसकने लगा। माता के ममत्व की कमजोरी से मैं लाभ उठाना अच्छी तरह जानता था। तीर निशाने पर लगा। माँ उलटे पिताजी पर बिगड़ने लगी—“देखते नहीं हो, बेचारा बुरी तरह भीग गया है! कपड़े कीचड़ में सने हैं—और तुम डाँटने लगे।”

इतना कहते हुए वह मुझे खींचकर भीतर ले चली।

कीचड़ की कालिमा के पहले ही मेरे भय की कालिमा माँ ने धो डाली थी।

□

ठीक से याद नहीं है। तीसरे या चौथे दिन हिंडोल का त्योहार था। अचानक अघ मेरे यहाँ आया। उसे देखते ही लोगों की दृष्टि शंकित हो उठी।

प्रातःकाल था। संगीत की मेरी कक्षा समाप्त हो चुकी थी। नृत्य का अभ्यास चल रहा था। श्रुतिकेतु का कंठ स्वर और मेरी मुद्राएँ तथा पगों की थिरकनें। मेरे माता-पिता भी अग्निहोम समाप्त कर आ गए थे। परिचर अघ को सीधे यहीं ले आया। अगवानी करने के बाद पिताजी ने उसे अपने पार्श्व में ही बैठाया। तन की निकटता मन की दूरी के बीच कोई सेतु नहीं बनाती। इसीलिए पास रहकर भी पिताजी एक छोर पर थे और अघ दूसरे छोर पर। पर दोनों एक ही आत्मीयता ओढ़े हुए। बातें भी आत्मभाव में भीगी हुई।

जहाँ नृत्य का सम आता, अघ की ताली अपने आप बज उठती। लगता, मेरे नृत्य से बहुत प्रभावित है। यद्यपि यह सबकुछ अभिनय था, फिर भी मेरे जैसे बालक के लिए कृत्रिम और यथार्थ में अंतर कर पाना तो दूर, सोचना भी असंभव था। मैं और उत्साह से नाचने लगा।

“सचमुच आपका पुत्र बड़ा कलाकार है, नंद!” अघ ने नृत्य समाप्त होते ही कहा। उसके ‘कलाकार’ शब्द का प्रयोग मुझे आज तक याद है। और इस शब्द का संदर्भ आज जो मैं समझता हूँ, उस दिन समझ नहीं पाया था।

पिताजी बड़े सहजभाव से बोले थे—“यह सब भगवान् की कृपा है।”

“भगवान् की कृपा तो है ही; पर बालक के निर्माण में पिता की गंभीर भूमिका होती है।” उसने मेरे पिता को खुश करने के लिए कहा था।

एक आवाज पीछे से खींचकर पत्थर की तरह उसपर मारी गई—“क्या आपके निर्माण में पिता की यही भूमिका थी?”

वह एकदम तिलमिला उठा; किंतु कुछ बोल नहीं पाया। उसकी आग्नेय दृष्टि चारों ओर नाचकर अपनी जगह पर रह गई। पिताजी भी बड़े संकोच में पड़े। उन्होंने उस समय और बाद में भी जानने की बड़ी चेष्टा की कि आवाज का यह पत्थर किसने मारा था; पर कुछ पता नहीं चला।

पिताजी ने उसकी क्षुब्धता को धोने की नीयत से ही पूछा था—“इधर कई दिनों के बाद आप पधारे?”

“मथुरा चला गया था।” अघ का अत्यंत संक्षिप्त उत्तर और फिर वही गंभीरता।

“क्या कोई विशेष आवश्यकता पड़ गई थी?” गंभीरता को एक बार फिर पिताजी ने तोड़ने की चेष्टा की।

“नहीं, कोई विशेष बात तो नहीं थी।” अघ कुछ सहज हुआ—“केवल महाराज के आदेश का पालन था। इसी संदर्भ में उन्होंने बताया कि गोधन की वृद्धि के लिए एक चरस्थल का निर्माण हिंडोल के पहले हो जाए, जहाँ गायें सुखपूर्वक चर सकें।”

“महाराज का यदि आदेश है और आप जैसे सुयोग्य की देखरेख है तो चरस्थल का निर्माण अवश्य हो जाएगा; पर इससे लाभ क्या है?”

“वन्य पशुओं से गायों की रक्षा होगी।” अघ ने कहा, “महाराज को सूचनाएँ मिली हैं कि अनेक गायें हिंस्र पशुओं का शिकार हो जाती हैं।”

अघ का तर्क उचित था; किंतु उसमें कुचक्र की गंध थी।...पर कोई क्या कहता! कुछ देर बाद अघ चला गया। लोगों को स्पष्ट लगा कि आज वह तिलमिलाकर गया है।

“चोट खाए सर्प का विष दूना हो जाता है।” अचानक मुसकराते हुए श्रुतिकेतु ने कहा।

“बुरा तो हुआ है; पर हम कर क्या सकते हैं, महाराज?” पिताजी ने कहा, “यह नियति की लीला है। साँप के फन पर मारा किसीने और उसका विष सहना पड़ेगा हमें।”

उस दिन पिताजी अत्यधिक व्यग्र दिखे। यह जानते हुए भी कि अघ मात्र दो नेत्रों से नहीं वरन् अनेक नेत्रों से देखता है। उसके विशाल हाथ-पाँव हैं। फिर भी पिता की आत्मा थी—कैसे मानती। उन्होंने अघ के पीछे कई गुप्तचर लगाए। शायद इस घटना की चर्चा उन्होंने यशोदा माँ से नहीं की। वह इतनी चिंतित नहीं दिखी।

दिन खिसक गया। संध्या हो गई। गायें चरकर लौट चुकी थीं। कुछ ग्वालबाल मेरे यहाँ भी आ गए थे। खेलने के लिए निकलने का कार्यक्रम बन ही रहा था कि बादल फिर आकाश पर छाने लगे। पिताजी की इच्छा आज मुझे निकलने देने की नहीं थी। उन्होंने बादलों की ओर संकेत कर कहा, “पानी बरसने वाला है। इसी उपवन में खेलो।” और हम घर से लगे उपवन में ही रह गए। वहाँ वृक्षों पर झूले पड़े थे। उन्हीं पर हम झूलने और गाने लगे।

कितना विचित्र था। पिताजी की व्यग्रता का अनुभव करते हुए भी मैं उसकी छाया से दूर था। आप इसे मेरी बाल-सहजता भी कह सकते हैं। एक बात और भी थी। मेरे बनते व्यक्तित्व का तवा धीरे-धीरे इतना तपने लगा था कि व्यग्रता की हर बूँद पड़ते ही छनछनाकर भाप बन जाती थी। अब मैं अनुभव करने लगा था कि मुझमें कोई दैवी शक्ति अवश्य है, अन्यथा लोग मुझे भगवान् क्यों समझते। मूर्ति पहले ईश्वर की संज्ञा से अभिहित होती है। फिर एक ऐसी स्थिति आती है जब मूर्ति स्वयं को ईश्वर समझने लगती है। मैं लगभग ऐसी ही स्थिति में था।

मैं झूल रहा था। मेरे साथ पृथ्वी झूल रही थी। आकाश झूल रहा था। मेरे भीतर राधा झूल रही थी। बाहर मेरे साथी गा रहे थे। मेरे झूले पर पेंग भरनेवाले दोनों ग्वालबाल बड़े जोर से स्वर में स्वर मिला रहे थे। मेरे ओठ हिल रहे थे; पर शायद स्वर नहीं निकल रहा था। मैं तो अपने भीतर ही गा रहा था, राधा के साथ।

अपनी तन्मयता की अंतिम सीमा पर भोग ही योग हो जाता है। इसी चरम स्थिति पर दो जुड़कर एक हो जाते हैं। यह जुड़न ही योग है। इसीलिए मैं राधा के साथ भोगी भी था और योगी भी; रागी भी था, विरागी भी।...इस समय भी मैं एक दिखाई पड़नेवाला दो था और दो न दिखाई पड़नेवाला एक। पर यह सब मेरे भीतर था। बाहर का संगीत का कोलाहल, झूले का कमान, प्रकृति की मादकता—सबकुछ बाहर। भीतर थी मात्र राधा! राधा!! राधा!!!

जब वर्षा आरंभ हुई, लोग भागने लगे तब मेरे पेंग भरनेवाले साथी भी झूले से कूद पड़े। उन्होंने मेरा हाथ पकड़ते हुए कहा, “कहो, कहाँ खो गए हो?” तब मेरी चेतना बाहर आई। हम सब भागते हुए प्रासाद में आए।

साथियों को बिदा करने के बाद मैं पिताजी के कक्ष में आया। देखा, छंदक कुछ गंभीर बातें कर रहा है। जब भी वह हमारे यहाँ आता है, वातावरण अप्रत्याशित रूप से गंभीर हो जाता है।

मुझे देखते ही उनकी बातें एकदम बंद हो गईं। छंदक ने उठकर मेरे चरण छुए। इतना बड़ा आदमी और मेरे पैर छूता है। मेरे संकोच का उसने अनुभव किया—“प्रभु, आपने मेरी बंद आँखें खोल दीं। अब आप कंस की भी आँखें खोल दीजिए।”

“तुम तो अंधे थे।” पिताजी बोले, “पर तुम्हारे महाराज की आँखें तो ठीक-ठाक हैं।”

“ठीक नहीं, उसकी आँखें भी फूटी हैं। मेरी तो केवल बाहर की आँखें गड़बड़ थीं, उसकी तो भीतर की भी फूटी हैं।”

आप विश्वास करें, मैं उस समय छंदक की बातों का अर्थ बिल्कुल समझ नहीं पाया था।

□

कल हिंडोल है। आज रात से ही उत्सव आरंभ हो जाएँगे। लोग रात भर गाते-बजाते और नाचते रहेंगे। प्रकृति भी उन्मत्त है। भीगी-भीगी, लथपथ। आकाश पर बादलों के उमड़ते हुए चीथड़े। चंद्रमा से आँखमिचौनी करते, वायु में तैरते मेघशावक।

संध्या होते ही राधा मेरे यहाँ आ गई। उसे देखते ही मैं एक अनिर्वचनीय आनंद से पुलकित हो उठता। मुझे लगता, मैं उसे पाकर पूर्ण हो जाता हूँ। राधा के बिना मैं आधा रहता। हम दोनों की शरीरयष्टि के सान्निध्य से गुजरते हुए कुछ ऐसा जरूर है, जो एक हो जाता है। दो पुष्पों की निकटता में द्वैत का आभास होता है, पर गंधोंमें वह अद्वैत हो जाता है। हम अलग-अलग भले ही दीखते थे, पर हमारी गंध एक थी।

मैं अपने ही आम्रवन की एक डाली पर पड़े झूले पर राधा की गोद में लेटा था। वह भी झूले पर लगभग दुलक-सी गई थी। झूला वायु के भरोसे ही अपनी साँस भर रहा था।

अचानक दूर पर कुछ कंपन हुआ। मैंने देखा, बलराम भैया अपने लघु हल से धरती पर प्रहार कर रहे थे। मुझे जितनी वंशी प्यारी है, उन्हें उतना ही हल। पिताजी ने उनके लिए एक स्वर्णजटित छोटा सा हल बनवा दिया है। उसके लौह का नुकीला भाग अत्यधिक तीक्ष्ण है। वह उससे अस्त्र का भी काम लेता है। वह इस समय अवश्य किसी सरसिप्त को मार रहा होगा। मैं धीरे से राधा की गोद से अलग हुआ। वह भी सँभलकर बैठ गई। उचित-अनुचित की परिधि से हटकर जीनेवाले हम आखिर निर्लज्ज नहीं थे। झटका तो लगता ही था।

एक बात मैं स्पष्ट कर दूँ। बलराम भैया की प्रवृत्ति एकदम मुझसे भिन्न थी। वह कला का आनंद तो लेते थे, पर कला के प्रति उनकी रुचि नहीं थी। एक दिन श्रुतिकेतु जब मुझे नृत्य सिखा रहे थे तब उन्होंने भैया से पूछा था —“तुम्हारा मन नृत्य सीखने को नहीं करता?”

वह कुछ नहीं बोले।

आचार्यजी ने पुनः कहा, “नृत्य कला के साथ-साथ व्यायाम भी है।”

इस बार भी उन्होंने कुछ नहीं कहा और लगे उनके सामने व्यायाम करने। सब हँसने लगे; पर धड़ाधड़ उन्होंने योग के कई आसन कर दिखाए और चुपचाप वहाँ से चलते बने। उनका मौन मानो उस समय कहता गया कि तुम्हारी कला से मुझे कुछ लेना-देना नहीं है। मैं तो हलधर हूँ—सीधे-सीधे किसान का बेटा।

कृषक के अनुसार ही उन्होंने व्यक्तित्व और स्वभाव पाया था। व्यायाम, योग मल्ल और गदायुद्ध अभ्यास में ही उनकी विशेष रुचि थी। बलिष्ठ इतने कि मेरे जैसे दो को दोनों बाजुओं में आसानी से दबा लें। सीधा और सहज जीवन जीने के अभ्यासी। न छल, न प्रपंच। न ऊधो का लेना और न माधो का देना। सीधे-सीधे दो टूक बातें करना। इस समय भी उन्होंने आते ही कहा, “यहाँ क्या कर रहे हो?”

उनकी आवाज गंभीर और तपी हुई धरती की तरह खुरदरी थी। वासना की तृषा जहाँ एक ओर दुश्चरित्र नारी की तरह नंगा करती है, वहीं लज्जा माँ का आँचल ढाकती है; पर इस समय यह आँचल विवशता बन गया था।

“तुम लोग यहाँ आनंद ले रहे हो, वहाँ अघ पिताजी के पास बैठा जाल बुन रहा है।” उन्होंने कुछ आवेश में कहा। हम दोनों झूले से उतरकर धरती पर आ गए थे।

“पर वह तो आता ही रहता है।” मैंने कहा।

“आता रहता होगा, पर इस समय वह विशेष प्रयोजन से आया है।”

‘प्रयोजन’ का नाम सुनते ही राधा के कान खड़े हो गए।

मैंने पूछा, “क्या है प्रयोजन?”

“वह कह रहा था कि चरस्थल का कार्य पूरा हो गया है। कल उत्सव के साथ ही उसका उद्घाटन होना चाहिए।”

“तो करे उद्घाटन। इसमें हम लोगों को क्या लेना-देना है?” राधा बोली।

“पूरी बातें सुनीं नहीं और तुम बीच में ही बोल पड़ीं।” बलराम अपनी प्रकृति के अनुसार झिड़के—“अघ का कहना है कि कल ब्राह्म मुहूर्त में ही उसका उद्घाटन होना चाहिए। आगे-आगे आपके बच्चे चलें और पीछे-पीछे ब्रज की गायें और ग्वालबाल।”

‘आगे-आगे आपके बच्चे चलें!’ राधा कुछ सोचने लगी। मेरे मन में भी आशंका हुई। मस्तिष्क में वह चित्र उभर आया, जब अर्द्ध रात्रि तक यमुना के कछार पर हम दोनों पड़े थे। जंगल में कुछ खटपट होने की आवाज आ रही थी। इतनी रात को चरस्थल बन रहा था या किसी षड्यंत्र की अवतारणा हो रही थी। मैंने समझ लिया कि कुछ होने वाला है।

“तो क्या कहा पिताजी ने?” मैंने बलराम से पूछा।

“उन्होंने स्वीकार कर लिया।” बलराम बोलते रहे—“अघ कह रहा था कि ज्योतिषियों ने बताया है कि कल उषःकाल के पूर्व तक ही मुहूर्त है। फिर ऐसी शुभ घड़ी शीघ्र आने वाली नहीं।”

“मुझे तो इसमें कुछ रहस्य लगता है।” राधा बोली।

“यही तो मैं भी समझता हूँ।” बलराम ने कहा।

“तब हम नहीं जाएँगे।” मैं बोला।

“पिताजी ने वचन दे दिया है।”

“वचन देने से क्या होता है?” राधा ने कहा, “इतनी सुबह कौन आएगा? जब गोप और गायें ही नहीं इकट्ठी होंगी तब उत्सव में हमारी अगुआई का प्रश्न नहीं उठता।”

“तुम भ्रम में हो। संध्या से ही ढिंढोरा पीटा जा रहा है। देखना, मध्य रात्रि के बाद से ही द्वार पर भीड़ जुटनी आरंभ हो जाएगी।”

एक बार हम सभी सोच में डूब गए। राधा की स्पष्ट इच्छा थी कि हम न चलें। पर बलराम भैया परिस्थिति की गंभीरता को समझते हुए भी पिता की अवज्ञा के लिए तैयार नहीं थे।...किंतु चिंता और व्यग्रता मेरी प्रकृति के प्रतिकूल थी। द्विविधा के अंधकार में टटोलने और आपस में टकराने की स्थिति में भी मुझे हँसी आ गई। वस्तुतः मैं नहीं, मेरे अधरों से मेरी नियति हँसी थी।

मैंने बड़े हलके-फुलके ढंग से कहा, “भैया, घबराने की कोई बात नहीं। मुझमें ईश्वरत्व का वास है—और ईश्वर का कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता।”

मेरे कहने का ढंग ऐसा था कि राधा को भी हँसी आ गई और भैया को भी। बलराम तो मेरे अहं की मूर्खता पर हँसते रहे; राधा क्यों हँस रही थी, यह वही जाने। मैं इतना जानता हूँ कि इस हँसी के बाद तनाव कुछ ढीला पड़ गया था। फिर भी हमारा चिंतन चलता रहा। हम अँधेरे में मार्ग खोजते रहे।

इस मानसिकता में न झूला रह गया था और न राधा का सान्निध्य; यद्यपि वह साथ ही थी। हम तीनों आम्रवन से प्रासाद की ओर चल पड़े थे।

घटा और घनी हो चली थी। आकाश टपकने लगा था।

अचानक मुझे ऐसा लगा कि कोई बड़ी तेजी से मेरा पीछा कर रहा है। मैं जब तक मुड़कर देखूँ तब तक वह मेरे चरणों पर गिर पड़ा था। अरे, यह तो छंदक है। फिर उसने बलराम के भी चरण छुए।

“इस समय आप यहाँ कैसे?” वह कुछ बोले, इसके पहले ही बलराम भैया बोल पड़े।

“आप ही लोगों से कुछ बातें करनी हैं।”

उसने एक तीक्ष्ण दृष्टि राधा पर डाली। हम लोग समझ गए कि वह राधा की उपस्थिति में कुछ कहना नहीं चाहता। राधा स्वयं पैर बढ़ाती आगे निकल गई।

“कल आप लोगों को चरस्थल की ओर जाना है।”

“हाँ, जाना तो है।” बलराम बोले।

“तब बड़ी कृपा हो, आप मेरी योजना के अनुसार कार्य करें।” और लगा अपनी योजना विस्तार से बताने—“कल ब्राह्म मुहूर्त के कुछ पहले ही हमारे आदमी प्रासाद द्वार पर आ जाएँगे। उनमें से किसीके हाथ में शंख, किसीके हाथ में तूर्य और किसीके हाथ में पणव होगा। हो सकता है, वे व्रज में रहनेवाले न हों; पर आप किसी पर शंका मत कीजिएगा। उनके वाद्य बजते ही आप चल पड़िएगा।...यह भी संभव है कि वे मुहूर्त के पहले ही अपने बाजे बजाने लगें। ठीक उसी समय आपको चलना है।”

“यदि उस समय वर्षा होने लगे तब?” बलराम ने पूछा।

“तब भी आपको चल पड़ना है। और यदि वर्षा हो तो और भी अच्छा है। मैं नहीं चाहता कि व्रज के अधिक लोग वहाँ एकत्र हो पाएँ। मैं नहीं चाहता कि अधिक लोगों की जानें जाएँ।”

“जानें जाएँ! यह क्या कहते हो, छंदक?” बलराम बोले, “क्या तुम्हें किसी प्रकार के षड्यंत्र की आशंका है?”

“आशंका नहीं, निश्चित है।”

“क्या निश्चित है?”

“यही कि जितने लोग वहाँ जाएँगे, सभी मारे जाएँगे।”

“कैसे?”

“यही तो मालूम नहीं। यदि मालूम होता तो उन्हें बचा न लिया जाता!”

फिर उसने मेरी ओर मुसकराते हुए देखा; जैसे उसकी मुसकराहट कह रही हो—‘लीलामय, आप सब जानते हैं।’ उसे मैं नहीं, मेरा ईश्वरत्व दिखाई देता था। यह स्थिति मेरे लिए एक ऐसी मानसिकता को जन्म देती थी, जिसके समक्ष मैं बोल नहीं पाता था। मेरा ईश्वरत्व मेरे मौन के भीतर महिमामय होता रहा। इस समय भी बलराम ही बोलते रहे—“मैं समझ नहीं पाता कि इतने लोग चरस्थल पर जाने पर मारे कैसे जाएँगे?”

“यही तो रोना है। हो सकता है, आसपास के जंगलों में कंस के सैनिक छिपे हों। वे अचानक आक्रमण कर दें या कोई और बात हो।...पर हमने इन सबकी व्यवस्था कर ली है।”

“क्या व्यवस्था की है?”

“यह तो नहीं बताऊँगा।” छंदक पुनः मुसकराया—“लौह ही लौह को काटता है। षड्यंत्र का उत्तर षड्यंत्र से ही संभव है।” इस बार उसकी मुसकराहट हँसी में परिवर्तित हो गई—“...और षड्यंत्र की अस्मिता रहस्य में ही सुरक्षित रहती है।”

वह हँसता रहा। हम दोनों उसका मुँह देखते रहे।

“आपने पिताजी से बातें की हैं?” बलराम ने पूछा।

“बातें तो की हैं, किंतु इधर-उधर की। इस योजना के संबंध में उनसे कुछ नहीं कहा।”

“क्यों?”

“मैं नहीं चाहता कि मेरी योजना की गंध भी किसीको लगे।”

“जो पिता मुझे छिपा सकता है, वह योजना न छिपा लेता।” मैंने पहली बार मुँह खोला था। छंदक निरुत्तर भी हो गया; पर मैं बड़ी द्विविधा में पड़ा। मेरे जन्म की कहानी उड़ते-उड़ते मुझ तक आई थी। मेरा मन पकड़कर उसे रखता गया था। उसने एक क्रम भी बैठा लिया था। हो सकता है, मेरे जन्म और यहाँ आने की कहानी बलराम भी जानते हों; किंतु आमने-सामने कभी इस संदर्भ में बातें नहीं हुई थीं। यदि वह इस संदर्भ में पूछ देते तो मैं क्या उत्तर देता? संयोग ऐसा कि उन्होंने ध्यान नहीं दिया।

मैं कह रहा था छंदक के बारे में। उसके मस्तिष्क में तो मेरे पिता की पुरानी छवि पर निर्मित एक ऐसी छवि थी, जो बड़ी सहजता से लोगों से मिलती और खुलकर बातें करती थी।

“नहीं। मैंने उन्हें बताना उचित नहीं समझा। व्यर्थ मैं वह घबराते और परेशान होते। फिर उन्होंने वचन दे दिया था। उन्हें धर्मसंकट में कैसे डालता!”

छंदक स्वयं में एक रहस्य था। वह मुझे ईश्वर भी मानता था। मुझसे जगत् की रक्षा की भी आशा करता था और मेरी रक्षा के प्रयत्न में भी संलग्न रहता था। इस समय भी उसने बताया कि मैंने सारी व्यवस्था कर ली है। आप लोग बस शंखध्वनि होते ही चल पड़िएगा।

“चलना पिताजी की आज्ञा से होगा या आपके निर्देश पर?” बलराम की अक्खड़ता पुनः मुखर हुई।

छंदक कुछ सोचने लगा। फिर वह बोला, “मेरी प्रार्थना स्वीकार कीजिए। मैं चेष्टा करूँगा कि पिता का आदेश इसमें बाधक न हो।” फिर उसने अपनी योजना का उत्तर पक्ष बताया—“चरस्थल पर पहुँचने के कुछ पहले ही जो पगडंडी यमुना के कछार की ओर जाती है, वहीं पणव बजाते कुछ लोग पहले से दिखाई पड़ेंगे। वहाँ पहुँचते ही आप दोनों भाई उधर मुड़ जाइएगा।”

“इसका मतलब यह है कि हम अपने अनुयायियों को विपत्ति में झोंककर स्वयं किनारा कसें! यह हमसे नहीं होगा।” बलराम बोले।

छंदक पुनः सोचने लगा, ‘परिस्थिति क्या होगी, यही तो पता नहीं है।’ वह बोला, “फिर भी हम चेष्टा करेंगे कि आप लोगों के हटते ही हमारे आदमी गोपों को पीछे कर दें और गायों को आगे। जनहानि न हो, केवल गोधन की हानि से स्थिति का सामना किया जाए।”

“मेरे विचार से यह भी उचित नहीं है।” बलराम बोले।

मुझे छंदक कुछ परेशान दिखाई दिया। उसकी हर योजना निरस्त कर दी गई। हर घायल मानसिकता को सहलाने में मेरी बचपन से रुचि थी। मैं निरपेक्ष भाव से हँसा। छंदक मुझे देखने लगा।

मैंने कहा, “उचित-अनुचित का विचार करना हमारा काम नहीं। हमें अपना कर्तव्य करना चाहिए।” मैंने कहा बड़े सहजभाव से था, पर छंदक ने इसे ईश वचन की तरह गंभीरता से लिया।

“आखिर अघ भी तो हमारे साथ ही रहेगा न?” मैं पुनः बोला।

“नहीं, तात! हमें सूचना मिली है कि वह उस समय गोवर्धन पर्वत पर रहेगा—अपने कुछ साथियों के साथ। वह वहीं से मरणोत्सव देखेगा।”

“मरणोत्सव!” मुझे आश्चर्य हुआ।

“यह उसीके शब्द हैं।” छंदक बोला, “पर घबराने की कोई बात नहीं। मैंने उसकी व्यवस्था कर ली है।” शायद वह यह भी बताता कि हमने क्या व्यवस्था

की है; पर दो परिचरों को साथ आते देखकर वह चुप हो गया। पिताजी ने हम लोगों को बुलाने के लिए उन्हें भेजा था।

वह मौन हमारे साथ ही प्रासाद में आया।

उस रात मैं सो न सका। सोने के दो घड़ी बाद ही एक झटका-सा लगा। जैसे कोई कह रहा हो, 'उठो, तैयारी करो।' मैं जग गया। एक आतंकित सन्नाटा चारों ओर से घिरा था। निश्चित है, अभी प्रासाद द्वार पर छंदक के आदमी नहीं आए हैं।

मैं उठा। धीरे-धीरे अपने निजी कक्ष की ओर गया। दीप के झिलमिलाते प्रकाश में मुझे दूर से ही दिखाई दिया कि बलराम अपने हल की नोक तेज करने में लगे हैं।

मैं बस एक ही अस्त्र का अभ्यास करता था। वह था चक्र। परंपरागत अस्त्र-शस्त्र मुझे अच्छे नहीं लगते थे। धनुष, असि, शेल आदि मेरी रुचि के अनुकूल नहीं थे। मेरी प्रकृति परंपराओं और रूढ़ियों में बँधनेवाली नहीं थी। लीक पर चलना और जीना मैंने कभी जाना ही नहीं था। शायद इसीलिए चक्र मुझे अधिक प्रिय था। उसकी सहजता भी उसके साथ मेरी आत्मीयता का कारण थी। हलका होने के कारण मैं बड़ी सरलता से उसे अपने पास रख लेता था।

चक्र का मेरा अभ्यास भी अच्छा था। कदाचित् ही मेरा संचालन कभी लक्ष्य-भ्रष्ट हुआ हो; जिसे खींचकर मारा, वह सीधे यमलोक का अधिकारी हुआ।

नित्य के चक्र को छोड़कर मैं इस समय कुछ भारी और बड़े चक्र की खोज में गया था। ज्यों ही उसे लेकर अँगुली पर घुमाता हुआ मैं कक्ष के बाहर आया, एक चिर परिचित आवाज मुझसे टकराई—“इस समय तुम क्या कर रहे हो?”

यह राधा थी। लगता है, आज अपने घर नहीं गई। मध्य रात्रि का सुनसान उसे मेरे कक्ष की ओर खींचे ला रहा था। पर वह परिस्थिति से अनजान थी। उसने अपना प्रश्न पुनः दुहराया—“इस समय क्या कर रहे हो?”

“मरणोत्सव की तैयारी।”

“मरणोत्सव या हिंडोल उत्सव?” अब वह मेरे काफी निकट आ चुकी थी।

“हाँ, तुम उसे हिंडोल उत्सव भी कह सकती हो।”

वह मुझको कुछ और निकट खींचते हुए बोली, “यह क्या कह रहे हो, कन्हैया?” उसका विस्मय आशंका से भीगकर बोझिल हो रहा था।

“जीवन में बहुधा ऐसे भी अवसर आते हैं जब संगीत संघर्ष में बदल जाता है। आज मुझे वंशी से अधिक चक्र की आवश्यकता है, राधा।”

मैं अपनी वय सीमा से कहीं अधिक गंभीर बातें कर रहा था। मेरी इस समझदारी को भी राधा की मानसिकता ने देवत्व से जोड़ दिया। वह अवाक् मुझे देखती रही और फिर पीछे-पीछे मेरे कक्ष में भी आई।

वासना शांत मन की शय्या पर ही करवटें बदलती है। अशांति की झंझा में वह एकदम ऐसे कोने में दुबककर अस्तित्वहीन हो जाती है। यह एकांत, यह अँधेरा और राधा। फिर भी वासना का कहीं पता नहीं। मेरी तर्जनी चक्र के अभ्यास में लगी थी। मेरा मन संभावित आशंका के कल्पित चित्र उरेह रहा था।

अचानक द्वार पर तूर्य, गोमुख (उस काल का एक वाद्य), पणव बज उठे। रात्रि का अवरोह आरंभ हो चुका था। छंदक की व्यवस्था पूरी है। पूर्व निश्चयानुसार मुझे बलराम भैया से मिलना चाहिए। मैं सोच ही रहा था कि मुझे अपने कक्ष की ओर किसीके आने की आहट लगी। हो न हो, बलराम ही इधर आ रहे हों। यदि कक्ष में वह राधा

को भी देखेगा तो क्या सोचेगा? ऐसी स्थिति में भी मैं राधा को छोड़ नहीं पाया।

मैं बाहर निकलकर उसीकी ओर बढ़ा। मेरी आशंका ठीक थी।

“अपने परिचरों को भी जगाकर तैयार करना चाहिए। हमें उनको भी साथ ही रखना है।” बलराम ने कहा और मैं उनसे सहमत हो गया।

संघर्ष की इतनी गंभीर मानसिकता मेरे जीवन में पहली बार पैदा हुई थी। लोग मुझमें देवत्व देखते थे और मैं नियति पर विश्वास करता था। यह विश्वास मेरी कैशोर्य समझदारी के पूर्व ही जन्म ले चुका था।...इतना होने पर भी मैं इस बार अधिक व्यग्र था।

यह व्यग्रता कुछ क्षण और निगल गई। जब हम लोग चले, गाँव के ही कुछ गोप अपनी गायें लेकर आ चुके थे। ब्राह्म मुहूर्त निकट था। पिता ने हमें बिदाई नहीं दी; बल्कि कहा कि तुम लोग चलो, मैं आता हूँ।

हम चलते रहे। आगे-आगे तूर्य, गोमुख, शंख, पणव बजाते लोग थे। बाद में हम दोनों भाई और राधा। फिर गोप और गायें।

हम चलते गए, लोग बढ़ते गए। हमारी यात्रा अघ के प्रस्तावित समय से कुछ पहले ही आरंभ हो गई थी। ऐसा ही छंदक का निर्देश था, या नियति की इच्छा थी।

हम चलते रहे थे। हमें छंदक कहीं दिखाई नहीं दे रहा था; पर उसकी छाया हर कहीं थी। हमारी सजगता ने हमारी सहजता और नटखट प्रवृत्ति का गला दबा दिया था। लोगों को हमारी यह अप्रत्याशित सावधानी खटक रही थी। स्वयं राधा चकित थी। वह बार-बार मुझे देखती थी। उसे सारी बातें मालूम नहीं थीं। मैंने संकेतों से कुछ बताया अवश्य था। वह इतना ही समझ रही थी कि हो सकता है, यह यात्रा एक राक्षस के मुख में चली जा रही हो।

एक सबल तने से फूटते साख की तरह हमारे मार्ग से निकलती वह पगडंडी आखिर आ ही गई। हमें देखते ही उधर से गाजे-बाजे के साथ कुछ लोग हममें मिले और अपने वाद्य बजा-बजाकर नाचने लगे। अद्भुत कोलाहल और उछल-कूद का वातावरण। इसी बीच हम चुपचाप कुछ लोगों की आड़ में पगडंडी की ओर मुड़ गए।

हम बड़ी तेजी से यमुना के कछार की ओर बढ़ रहे थे। भैया हमसे कुछ आगे थे। मुझे ज्ञात नहीं, उस भीड़ में मैंने कब राधा का हाथ पकड़ लिया था। अब भी मैं उसका हाथ पकड़े था और वह मेरे पीछे भागती चली आ रही थी।

कुछ दूर जाकर हम रुक गए। कोलाहल अब भी सुनाई पड़ रहा था। दूसरी ओर बरसात की उन्मत्त यमुना का हाहाकार था। अब हमें क्या करना चाहिए, हम सोचने लगे; क्योंकि इसके आगे छंदक का कोई निर्देश नहीं था।

कितना विचित्र है यह सब! छंदक मुझे ईश्वर समझता है और इस समय मैं उसके निर्देश की शून्यता अनुभव कर रहा था। क्या संभव नहीं कि मैं छंदक के भीतर ही बैठकर स्वयं को निर्देशित कर रहा होऊँ?

ध्यान आया कि अघ इस समय चरस्थल पर नहीं वरन् गोवर्धन की पहाड़ियों पर होगा। मैंने भैया को याद दिलाया।...और हम दोनों गोवर्धन की ओर दौड़ पड़े। राधा ने भी हाँफते हुए मेरी गति से गति मिलाई।

तब तक अचानक एक बीभत्स कोलाहल सुनाई पड़ा। सैकड़ों चीखें समवेत हो गईं। चीत्कार के फूटे इस ज्वालामुखी के ताप से हम बुरी तरह झुलसने लगे। अब हम और तेजी से भाग रहे थे।

पहाड़ी के निकट पहुँचते ही पत्थरों से टकराकर एक आवाज मेरी ओर तीर की तरह आई—“देखो, बचने न पाए, अन्यथा अनर्थ हो जाएगा।”

निश्चित ही यह आवाज छंदक की थी। उसकी यह ललकार जीवन की अंतिम लड़ाई की ललकार जैसी लगी। हम उसी ओर भागे। हमने देखा कि अघ को कुछ लोग घेरे हैं। प्रहार पर प्रहार कर रहे हैं और वह धक्का देकर

भाग जाना चाहता है। उसकी स्फूर्ति और शक्ति को मानना होगा। छंदक की घबराहट बार-बार चीख रही थी—“देखो, निकल न जाए।”

बलराम तो चकित थे कि यह क्या हो रहा है। पर मेरे लिए क्षण भर भी रुकना अब संभव नहीं था। मैंने चक्र घुमाकर मारा। ठीक अघ की गरदन को काटता वह निकल गया। उसको घेरनेवाले प्रसन्नता में उछल पड़े। पहाड़ से हटकर पाषाणखंडों की तरह उसका सिर और धड़ ढुलकता हुआ नीचे की ओर चला। राधा अवाक्-सी मुझे देखती रही।

इसी समय पता नहीं कहाँ से आकर छंदक मेरे चरणों पर गिर पड़ा—“वह पापी बहुतों को निगल गया, पर आपको निगल न सका।”

उसकी आँखों में कृतज्ञता छलछला आई थी। मेरा कैशोर्य एक अवतारी पुरुष की तरह मुसकरा रहा था।

□

लगातार कोलाहल और चीखें। हाहाकार का आवर्त वातावरण को घेरता जा रहा था। छंदक मेरे पास रुक न सका। वह अपने आदमियों को लेकर चरस्थल की ओर दौड़ा। जाते समय वह कुछ शब्दों और कुछ संकेतों के माध्यम से विनम्र निवेदन करता गया कि अघ की मृत्यु का कारण किसीको पता न चले।

भैया इस पक्ष के नहीं थे। उन्होंने मुझसे पूछा, “अघ की मृत्यु को छिपाने से क्या लाभ?”

“इसे तो छंदक ही बता सकता था—और अब वह चला गया।” मेरे बोलने के पहले ही राधा बोली।

“क्यों, हम छंदक की बुद्धि से ही सोचते रहेंगे?” बलराम भैया ने कहा।

“आज के संदर्भ में तो हमने यही किया है।...और मेरी तो इच्छा है कि आज उसीके निर्देश पर हमें चलना चाहिए।” मैंने कहा।

राधा ने भी मेरी बात का समर्थन किया।

एक बात और स्पष्ट कर दूँ कि हमारे बीच में राधा का बोलना बलराम को बहुत अच्छा नहीं लगता था।

“लोग पूछेंगे तो क्या हम झूठ बोलेंगे?” वह झुंझलाए।

“हम झूठ नहीं बोलेंगे, भैया।”

“तब क्या कहेंगे?”

“कुछ नहीं कहेंगे। केवल मुसकराएँगे।” मैंने कहा।

मुझे अनुभव था कि मेरी मुसकराहट परिस्थितियों को गंभीर बनाने के साथ उसपर रहस्य का आवरण भी चढ़ा देती थी। अघ की मृत्यु को भी छंदक रहस्य बनाए रखना चाहता था। मेरे ईश्वरत्व की रक्षा के लिए यह अनिवार्य भी था।

इस समय भी बलराम कुड़बुड़ाकर रह गए। फिर भी उन्होंने हमारे निश्चय के विपरीत कुछ नहीं किया।

कोलाहल इतना तीव्र था कि चरस्थल तक पहुँचने के लिए हमने जंगल का ही मार्ग पकड़ा। वस्तुतः यह मार्ग नहीं था। हमारी व्यग्रता झाड़-झंखाड़ को चीरती ज्यों-ज्यों बढ़ती, हाहाकार गाढ़ा होता गया। अब कुछ आवाजें स्पष्ट हो रही थीं—“हे भगवान्, इतना जघन्य षड्यंत्र! इतना बड़ा धोखा!! हम लोगों को कभी विश्वास नहीं था कि कंस का सेनापति इतनी बड़ी नीचता करेगा!”

“अरे, कन्हैया कहाँ है? उसे खोजो। बलराम भी उसके साथ है।” घबराया हुआ कोई कह रहा था।

“आगे-आगे वे ही चल रहे थे।” यह दूसरी आवाज थी।

“मालूम होता है, वह राक्षस उसे निगल गया। अवश्य निगल गया होगा। अब शायद उसका शव भी न मिले।” ये

सारी आवाजें अस्पष्ट थीं; पर उनकी व्यग्रता स्पष्ट थी। वे मेरे लिए छटपटा रही थीं। मैंने बलराम की ओर देखा। आगे बढ़ते हुए उनका संकेत था कि जल्दी करो।

विचित्र स्थिति थी। आवाजों से लगता था कि चरस्थल पास है, वस्तुतः वह पास था नहीं—और न पथ, न पगडंडी। बलराम अपने हल से काट-काटकर रास्ता बनाते जा रहे थे। हम लाँघते-फाँदते आगे बढ़ रहे थे। एक स्थिति ऐसी आई जिसके आगे चलना असंभव था। वहीं एक विशाल पीपल पर हम चढ़ने लगे। राधा नीचे खड़ी रह गई।

पीपल के शीर्ष पर पहुँचकर हमने जैसा बीभत्स दृश्य देखा, सो क्या बताऊँ! वस्तुतः वृंदाविपिन के मध्य में जो चरस्थल बनाया गया था, वह चरस्थल था ही नहीं। उस विशाल क्षेत्र को बड़ी गहराई तक खोदकर उसपर जंगल की झाड़ और हरी घास बिछा दी गई थी। हमने हाथियों के फँसाने की जो कहानी सुनी थी, उस क्षेत्र को लगभग वैसा ही बना दिया गया था।

हमने देखा, हाथी नहीं, ब्रज की गायें और गोप उनमें फँसे हैं और नीचे धँसते ही चले जा रहे हैं। ‘बचाओ-बचाओ’—सब एक साथ चिल्ला रहे हैं। किनारे खड़े लोग भी हाय-हाय कर रहे हैं। कोई कुछ कर नहीं पा रहा है। उनकी दृष्टि केवल हमें खोज रही थी। निश्चित रूप से दोनों भाइयों को यह चरस्थल चबा गया।...जब बलराम और कन्हैया ही नहीं, तो हम क्या करेंगे रहकर? लोगों की व्यग्रता का निष्कर्ष कुछ ऐसा ही था। केवल छंदक के आदमी रस्सी फेंक-फेंककर लोगों को बचाने में लगे थे।

हमें दूर तक दिखाई दे रहा था। सारा ब्रज चीत्कार करता इकट्ठा हो गया था। जो नहीं आ सके थे, दौड़कर चले आ रहे हैं। लोगों के मुख में बस एक ही आवाज है—‘कन्हैया कहाँ है? बलराम कहाँ है?’

स्पष्ट दिखाई दे रहा था—भीड़ में अलग-थलग पड़े नंदजी एक ओर संज्ञाशून्य यशोदा को संभालने में लगे थे, दूसरी ओर उनकी विकल दृष्टि हमें खोज रही थी।...अरे, अब तो माँ रोहिणी भी दहाड़ मारकर गिर पड़ी।

अब मैं वहीं से जोर से चिल्लाया—“घबराइए नहीं। हम सब ठीक हैं।” केवल एक बार नहीं, हमें बार-बार चिल्लाना पड़ा। हमारी आवाज पहुँचते ही कोलाहल सन्नाटे में बदलने लगा। लोगों की दृष्टियाँ मेरी ओर घूमीं, एकदम मेरी ओर।

“उधर ही रहिए, इधर मत आइएगा।” छंदक के आदमियों की सामूहिक वर्जना चिल्ला उठी।

अब अंधकार में सूर्य दिखा। सूखते धान पर जलवृष्टि हुई। उस मरणोत्सव में भी लोगों की उदास आकृतियों पर प्रसन्नता उगने लगी। अब भी आवाजें हमें इधर ही रोकने के लिए उठती रहीं। मैंने पीपल की ऊपरी डाल से नीचे मोटे तने पर आते हुए देखा कि नंदजी मेरी ओर तर्जनी से संकेत करते हुए माँ यशोदा को झकझोर रहे थे। दुःख और निराशा के ताप से निकलकर अचानक शीतलता का अनुभव करनेवाली उनकी चेतना धुंध बनकर आँखों में छा गई थी। वह आँखें फाड़-फाड़कर हमारी ओर देख रही थी। फिर भी स्वप्न और सत्य में अंतर नहीं कर पा रही थी।

इसपर सुरक्षित रहने के समाचार ने ब्रजवासियों में एक नया उत्साह भर दिया। अब बचाव कार्य तेज हो गया था। पूरा ब्रज एक-दूसरे को बचाने में लगा था। मुझे उस ऊँचाई से बहुत दूर तक दिखाई दे रहा था। अभी भी लोग दौड़े चले आ रहे थे; पर कहीं छंदक दिखाई नहीं दिया।

पीपल से उतरकर हम फिर उधर लौटे, जिधर से गए थे और फिर वही पुरानी पगडंडी पकड़ी। थोड़ा आगे बढ़ा होऊँगा कि बाजा बजाते और नाचते लोग मेरी अगवानी में आते दिखाई दिए। अद्भुत उत्साह! अद्भुत कोलाहल! अद्भुत आह्लाद! मरणोत्सव में भी जीवन का समारोह! ज्वालामुखी के वक्ष पर ही यह हरियाली!

जो जानते थे, वे अपनी योजना पर प्रसन्न थे। जो नहीं जानते थे, उन्हें आश्चर्य था कि हम बच कैसे गए। वे पूछते थे, हम मुसकराते थे। उनकी जिज्ञासा पर हम रहस्य का पट डालते गए। मेरा देवत्व उनके समक्ष विशाल होता गया।

□

यह मरणोत्सव व्रज के इतिहास का सबसे धिनौना अध्याय था। इससे कंस के प्रति लोगों की घृणा और बढ़ी। वह राक्षस, पापी, नीच, दुष्ट आदि जितनी भी संज्ञाएँ हो सकती थीं, उससे संबोधित किया जाने लगा। साथ ही लोगों का यह विश्वास और भी बढ़ा कि मैं रक्षा कवच लेकर जनमा एक अवतारी पुरुष हूँ। अब लोगों में यह सामान्य धारणा हो गई थी कि जब वह अघ का पेट चीरकर निकल आया तब वह निश्चित ही अमर है।

जब हम उस जनसमूह के साथ अपने द्वार पर पहुँचे तो माँ ने हमारी आरती उतारी; जैसे हमारा पुनर्जन्म हुआ हो।...किंतु यहाँ पर भी छंदक नहीं था। यहाँ भी यही प्रश्न बार-बार हिलोरें मारता रहा कि आप लोग बच कैसे गए?

हर बार एक रहस्यमय मुसकराहट अधरों से चिपकाता रहा।...और जब मुसकराहट भी थक गई तब मेरे मुख से निकल पड़ा—“यह सब हमारी बुद्धि के परे है।”

फिर मुझे किसीने कुछ नहीं पूछा। हर व्यक्ति मानसिकता के अनुसार इसका अर्थ लगाता रहा। पिताजी पुनः बाहर चले गए; पर माँ मुझे छोड़ना नहीं चाहती थी। उसकी छाती अब भी धड़क रही थी। अब वह मुझे अपनी आँखों से ओझल नहीं करेगी। पर मैं और भैया निकलना चाहते थे। हम जानने के लिए आतुर थे कि कितने लोगों की जानें गई हैं, कितने गोधन की हानि हुई है। मैंने माँ को समझाते हुए कहा, “जब अब तक कुछ नहीं हुआ, तो आगे भी कुछ नहीं होगा।”

“यदि तुझे अब वह राक्षस देखेगा तो कच्चा चबा जाएगा।” माँ बोली, “यह सारा षड्यंत्र तेरे लिए ही रचा गया था। भगवान् की कृपा थी कि तू बच गया।”

मैं कैसे कहता कि यह भगवान् की कृपा नहीं, छंदक की योजना थी कि मैं बच गया। सोचता हूँ, छंदक तो निमित्त मात्र है। मुझे बचना ही था और अघ को मरना था।...मैं कुछ ऐसा ही सोच रहा था कि बलराम भैया बीच में ही बोल पड़े—“अरे, जब जीवित होगा तब न चबा जाएगा।”

“तो क्या अघ मारा गया?” माँ की दृष्टि में प्रसन्नता और आश्चर्य दोनों था।

पर मैं कहता क्या! भैया के मुख से बात निकल चुकी थी। मैं कुछ कहूँ, इसके पहले ही मुझे लगा जैसे छंदक अपने अधरों पर अँगुली धरे हुए कुछ संकेत कर रहा है। मैं चुप हो गया। पर माँ कब मानने वाली थी। उसने पूछा, “तुम लोग बोलते क्यों नहीं? अघ कैसे मारा गया?”

“यह तो हम नहीं जानते।” मैंने कहा, “पर वह जीवित होता तो अवश्य दिखाई देता।”

माँ अब भी द्विविधा में थी। मैंने अपनी चपलता का सहारा लिया—“विश्वास कर, माँ, अब वह मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकता। वह अपने पाप से ही मर रहा होगा। यदि कहीं जीवित मिला भी, तो तू मेरे हाथ का चक्र देख। भैया के हाथ का हल देख। हम लोग भला उसे जीवित छोड़ सकते हैं! फिर हमारे पास इतने गोप लोग हैं, वह क्या कर सकता है हमारा?”

मैंने अपनी तर्जनी पर चक्र घुमाना आरंभ किया। माँ मुझे देखती रह गई। अनुमति देना तो दूर, वह सिर तक न हिला सकी।

“अच्छा तू ही बता, जो गोप मेरे लिए प्राण तक देने को तैयार रहते हैं, मैं उन्हें देखने तक न जाऊँ ! आखिर वे

किस विपत्ति में फँसे होंगे? क्या यही हमारा धर्म है?”

“नहीं, बेटा, तुम अपने धर्म का पालन करो।” मैंने मुड़कर देखा, पिताजी मेरे निकट आते हुए बोलते रहे—“मेरे जीवन का यह सबसे दुःखद दिन है। ब्रज के इतिहास का रक्तरंजित पृष्ठ। आखिर इतनी नीचता किसके लिए?”

मृत्यु का ताप कभी-कभी चिंतन के कंचन को निखार देता है। हमारी दार्शनिकता जाग उठती है।...और यह मृत्यु ही नहीं, मरणोत्सव था। पिताजी की निर्विकार बुद्धि के समक्ष जीवन की लिप्सा नंगी हो गई थी। वह उसे स्वयं देखना और दूसरे को दिखाना चाहते थे। वह हमें भी लेने ही आए थे। यदि उनका वश चलता तो वे कंस को भी पकड़ ले आते और उसे दिखाते हुए पूछते कि तुमने इतना बड़ा अनर्थ किसके लिए किया है—उस सत्ता के लिए, जो तुम्हारे साथ जानेवाली नहीं है? आखिर किसके साथ गई है यह सत्ता? सबकुछ यहीं छोड़कर जाना है। यदि तुम्हारे साथ कुछ जाएगा तो तुम्हारा धर्म और कर्म।

राधा वहीं रह गई। हम लोग पिताजी के साथ घटनास्थल पर आ गए थे। विचित्र दृश्य था। किसीका सिर फूटा था तो किसीकी टाँग टूटी थी। कोई अपनी कटि पीड़ा से कराह रहा था। जिसने भी चरस्थल पर चरण रखा, वह धँसने लगा। यह तो कहिए, छंदक के आदमियों ने पशुओं को आगे कर दिया, उन्हींका मरणोत्सव हुआ। ब्रज के अधिकांश लोग घायल होकर रह गए। पिताजी ने उनकी चिकित्सा की व्यवस्था की। हर व्यक्ति से उन्होंने कुशलक्षेम पूछा। अभी तक किसीके मरने की सूचना नहीं थी। लगभग दो घड़ी तक हम लोग व्यवस्था और चिकित्सा में लगे रहे। जब प्रासाद में लौटे, मध्याह्न हो चुका था।

ब्रज उबलने लगा था। विनाश का विषाद हिंडोल का सारा आह्लाद चबा चुका था। हर व्यक्ति दुःखी था। ब्रज के संताप से उठे धुएँ के ढेर आकाश पर छाने लगे थे। आकाश रो देने की स्थिति में आ गया था।

हमें याद है, उस दिन हम लोगों ने दोपहर का भोजन नहीं किया। मेरे लिए तो यह नियति की एक लीला मात्र थी; पर औरों के लिए इस लीला का केंद्रबिंदु मैं था। भैया रह-रहकर दाँत किटकिटाने लगते थे। उनका आक्रोश मचल उठता था। यदि वे कंस को पा जाते तो निश्चय ही प्रहार कर बैठते, भले ही उसका परिणाम चाहे जो होता। मध्याह्न ढुलकते ही छंदक के आने की सूचना मिली। अरे, कहीं दिखाई न पड़नेवाला छंदक अचानक इस समय कैसे आ धमका। हम सबको आश्चर्य और कुतूहल भी।

“बधाई हो, महाराज!” छंदक ने आते ही कहा।

“किस बात की बधाई?” पिताजी एकदम बौखला उठे—“क्या ब्रज के साथ इस प्रकार का धोखा होने की बधाई? इतने निरपराध प्राणों की आहुति के लिए बधाई?”

“इसलिए बधाई कि इतने बड़े षड्यंत्र के बाद भी ब्रज बच गया। हमारे दोनों भैया बच गए और उनकी ही कृपा से...” छंदक कहते-कहते रुक गया और मेरी ओर देखकर मुसकराने लगा। फिर अचानक उसकी नाटकीयता अपनी ही मुसकराहट पीकर गंभीर हो गई—“आखिर सबको बचाने के बाद भी हम शूद्रक को बचा नहीं पाए।”

“क्या कहा, शूद्रक नहीं रहा?” दुःख के साथ ही अमर्ष से बलराम की आकृति लाल हो गई। उन्होंने हल धरती पर पटकते हुए कहा, “यह कैसे हो गया? वह हमारा साथी था। प्रतिदिन अक्षवाट (अखाड़े) में मिलता था। हम साथ ही व्यायाम करते थे। कितना बलिष्ठ था! फिर यह कैसे हो गया?” जैसे उन्हें विश्वास ही न हो।

छंदक ने विस्तार से बताया—“वह दलदल से निकाल लिया गया था। पहले तो लगा, वह साधारण चोट है; पर घर लाते-लाते उसका तन नीला पड़ने लगा, चेतना शून्य होने लगी। लगता है, उसे किसी सर्प ने काट लिया था।” इसी प्रसंग में उसने यह भी बताया कि “चरस्थल के नाम पर उस नीच ने ब्रज में मृत्यु प्रकोष्ठ बना दिया था। ऊपर से झाड़ रखे गए थे और भीतर काले नाग छोड़े गए थे। आखिर इतने दिनों तक वह दुष्ट करता क्या रहा?”

“आश्चर्य तो यह है कि उसकी नीचता की गंध तक हमें न लग सकी।” नंद बोले।

“लगती कैसे? दिन में तो वह कोई काम करता नहीं था। चोरों की तरह वह रात्रि के दूसरे प्रहर कार्य आरंभ करता था और तीसरे प्रहर के अंत होते-होते समाप्त कर देता था—वह भी वृंदाविपिन के मध्य आरण्यक सघनता में।...और दिन में उसके आदमी उधर आने भी नहीं देते थे।”

“इधर वह बहुधा मेरे यहाँ आता था। कितनी निकटता बढ़ाई थी उसने!”

नंद कह ही रहे थे कि छंदक बीच में ही दार्शनिकों जैसी गंभीरता में बोला, “निकटता! दुष्ट की निकटता उस कोयले की निकटता की भाँति है, जो जलने पर ताप और बुझने पर कालिख ही लगाती है।”

पर बलराम भैया यह दार्शनिक प्रहसन सुनने की स्थिति में नहीं थे। उनके मित्र का प्राणांत हुआ था। रुकना उनके लिए संभव नहीं था। छंदक ने भी उनका समर्थन किया—“हम लोगों को भी चलना चाहिए। उसका पिता मेघज बिलख-बिलखकर रो रहा है।”

मेरे जीवन में यह पहला शव था, जिसे हम दोनों भाइयों ने कंधा दिया। नियति का परिहास भी मेरे समक्ष विचित्र था। वह मेरे जीवन के हर मोड़ पर मृत्यु को लाकर खड़ा कर देती थी। इस मोड़ से ही मेरा राजनीतिक जीवन आरंभ हुआ। लोगों की मानसिकता में मेरे देवत्व का रेखांकन था ही, उसमें एक रंग और भर गया। मुझे ठीक याद है कि उस समय किसीने आवेश में कहा था—“देखना, यह शूद्रक की शवयात्रा कंस के अत्याचार की शवयात्रा सिद्ध होगी।”

“पर कब?” यह दूसरी आवाज थी।

“शीघ्र ही।” इस बार छंदक बोला था—“अब उसके पाप का घड़ा भरने ही वाला है।”

मैं निश्चित कह सकता हूँ कि उस दुःख और हताशा के अंधकार में भी लोगों को एक ज्योति दिखाई दी, जिसका केंद्रबिंदु मैं ही था।



दस

अघ की मृत्यु का श्रेय भी मेरे ईश्वरत्व को मिला। मेरी अलौकिकता अक्षय वट की तरह बढ़ती चली और उसकी छाया में घृणा का सागर कंस की अस्मिता को डुबो देने के लिए थपेड़े मारने लगा। छंदक की बोई चिनगारियाँ भभकने लगी थीं। भवितव्यता की गंभीर भूमिका के हम केवल माध्यम थे। नियति का पुष्प मैं भी था और छंदक भी। अंतर केवल डाल-डाल का था। इसीलिए मैं समझता था कि जो मैं हूँ, वही छंदक है; पर छंदक मुझमें स्वयं को देख नहीं पाता था। शायद यह एक ऐसी स्थिति थी, जिससे मेरे और छंदक के बीच दूरी सदा बनी रही—नदी के दो किनारों की तरह। हम दोनों की कल-कल निनादित अस्मिता समय की उस सरिता के समान थी, जिसके उद्गम और संगम का हम दोनों को पता नहीं था; पर छंदक समझता था कि मुझे सब पता है। मैं सर्वज्ञ हूँ।

लोगों ने मुझे सर्वज्ञ कह-कहकर मेरी सर्वज्ञता को जाग्रत किया। मुझे स्वयं लगने लगा कि मैं सबकुछ कर सकता हूँ। एक ओर मेरे संगीत और नृत्य का अभ्यास चलता रहा तो दूसरी ओर भैया के साथ मल्लयुद्ध के अभ्यास के लिए मैं अखाड़े में भी जाता रहा।...और सवेरे की पहली किरण के साथ मैं तैरने के लिए यमुना मैया की गोद में स्वयं को डुबो देता। इस संदर्भ की एक ऐसी घटना आपको सुनाऊँ, जो अत्यंत सामान्य है, पर जिसने असामान्य रूप ले लिया। धुएँ की मामूली लकीर बढ़ते-बढ़ते एक प्रेत बन गई।

वर्षा समाप्त हो चुकी थी। शरद् की धवलता बक पंखों पर उड़ती चली जा रही थी। यमुना का तट भी घटकर अपनी स्वाभाविक स्थिति पर आ गया था। जल की निर्मलता सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेती थी। हम दोनों भाई अन्य ग्वालों के साथ घड़ी-दो घड़ी तक तैरते रह जाते थे। जल की क्रीड़ा करते। आनंद आता; स्वास्थ्यवर्द्धन भी होता। मेरी चपलता और स्फूर्ति भी बढ़ती गई।

उस प्रभात में काफी देर तक यमुना में ही रह गया। थक गया था। भैया भी शीघ्रता करने के लिए कह रहे थे। वह निकलकर कछार पर आ गए थे कि कहीं से उड़ते बगलों (बकों) का एक समूह आ गया था। सुंदर श्वेत बगले। ऐसे तैरते हुए जैसे पानी पर स्वयं फिसल रहे हों। यमुना की नील धार पर ये रजतवर्णी बगले नीले आकाश में सरकते हुए चंद्रमा के छोटे-छोटे टुकड़ों जैसे मालूम हो रहे थे। मेरा उस ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक था।

उनमें से एक बकशावक था। छोटा सा, लुभावना सा, नन्हा सा। सोचा, उसे पकड़ लूँ और ले चलकर उसे अपनी पुष्करिणी में पालूँ। मेरे पहुँचते ही बहुत सारे बगले उड़ गए; पर मेरी क्षिप्रता से वह बकशावक निकल नहीं पाया। मैं उसे बगल में दबाकर अपने घाट की ओर चला।...तब तक मुझे लगा, किसीने मेरी पीठ पर जोर से मारा; जैसे एक प्रखर शेल (भाला) का प्रहार हो। मैं झट से जल में उलट गया और चित तैरने लगा। मैंने देखा, एक विशाल बगला मेरे ऊपर पंख फड़फड़ाता हुआ प्रहार कर रहा है। जरा सी मैंने डुबकी न लगाई होती तो निश्चित था कि वह मेरी आँख निकाल लेता। निश्चित रूप से मैंने इतना विशाल बगला इसके पूर्व कभी नहीं देखा था। मेरे पीठ पर लगे घाव से रुधिर बहने लगा था। धारा में एक टेढ़ी-मेढ़ी लाल रेखा-सी खिंचने लगी थी।

बलराम ने देखा और वे तीर की तरह पानी को चीरते हुए आ गए। वह बगला चाहता था कि मैं उसके बच्चे को छोड़ दूँ; पर मेरा बालहठ और अधिक प्रगल्भ हो गया था। दूसरे बचपन से ही मेरी प्रवृत्ति युद्ध से भागने की नहीं रही। मैं स्वयं युद्ध के पास कभी नहीं गया; पर जब युद्ध मेरे पास आया, मैंने उसे गले लगाया। संघर्ष को जीने में मेरी रुचि थी, झेलने में नहीं। झेलने के मूल में वितृष्णा होती है, जीने में रस। इसीसे संघर्ष में मुझे एक प्रकार के आनंद की अनुभूति होती थी। इस समय भी मैंने डटकर संघर्ष करना आरंभ किया। मैंने उस शावक को और तेजी

से बगल में दबाया और जल में खड़ी लगाई। अब मैं खड़ा होकर तैरने लगा था। मेरे ग्रीव और कपाल चोट खाने के लिए जल के बाहर थे। वह विशाल बगला उन्हीं पर प्रहार करने लगा।

मेरा केवल एक हाथ खाली था। जब वह बगला मेरे पास आता, मैं खींचकर एक धौल जमाता। दूसरी ओर से बलराम भैया भी मुष्टि का प्रहार करते। यह संघर्ष खूब चला। अब मैं भी शिथिल हो चला था और वह आक्रामक बगला भी।

अब तक मैं पक्षी को नियंता की आकर्षक और कोमल सृष्टि ही समझता था; किंतु पक्षी में भी इतनी शक्ति होती है, इसका सही अनुमान मुझे आज ही लगा। अब मैं समझता हूँ कि जटायु ने रावण को कितना परेशान किया होगा।

शीघ्र ही वह बगला उड़ने की स्थिति में नहीं रह गया। श्लथ हो जल पर उतराया। भैया ने अब उसकी गरदन धर दबाई। अब वह लाचार था।

हम दोनों घाट की ओर चले।

किनारे खड़े लोग यह युद्ध देख रहे थे। धीरे-धीरे भीड़ जुट आई थी। यह सब अनायास सहज और अप्रत्याशित हो गया था; पर मेरे चिंतन को कुरेदने लगा था। पुत्र के लिए जब एक बगला अपनी जान दे सकता है, तब मेरे पिता की क्या मनःस्थिति रही होगी, जब उनसे छीनकर उनके पुत्र मार डाले जाते रहे होंगे। वह भी एक नहीं, सात-सात पुत्रों के साथ ऐसा किया गया। किस यंत्रणा से गुजरे होंगे वे? पिता की आत्मा होता है पुत्र।...और उसे पिता से छीनना शरीर से आत्मा को छीनने जैसा ही है। सात-सात बार उनकी आत्मा छीनी गई, फिर भी वे संज्ञाशून्य नहीं हुए। अद्भुत जीव के व्यक्ति थे मेरे पिता वसुदेव भी।...और माँ देवकी? संघर्ष झेलते-झेलते उसका हृदय पत्थर हो गया था। फिर भी जब वह मुझे देखती थी, उस पत्थर पर संवेदनशीलता की दूब उग आती थी।

घाट पर आते ही मैंने अपने बगल से बकशावक को निकाला। जाने वह कब का दम तोड़ चुका था। लगता है, मेरी भुजाओं का दबाव उसपर अधिक पड़ गया। निश्चित रूप से मेरे पिता मुझसे कहीं अच्छे तैराक थे। मैं एक बकशावक को नहीं बचा पाया। वे उस भादों की अँधेरी काली रात में मुझे बचाकर ले आए थे। यह साधारण काम नहीं था; किंतु इसका श्रेय भी उन्हें नहीं मिला। श्रेय मिला मेरे ईश्वरत्व को।

मैं बकशावक को देखता और सोचता रहा। उधर उसका पिता अब भी साँसें भर रहा था।

“क्या देखते हो? छोड़ दो उसे प्रवाह में। उसकी यही गति होनी थी।” बलराम बोले, “और आओ उसकी गति लगाई जाए।” इतना कहते-कहते उन्होंने उस बगले को पटकने के लिए उठाया। वह पंख फड़फड़ाकर उनके हाथों से छूटकर फिर जल में चला गया। मैंने तुरंत पानी में छलाँग लगाई और उसे धर दबोचा।

उसे किनारे लाकर उसकी चोंच को हम दोनों ने दोनों ओर से खींचा और उसे चीर डाला। किनारे खड़े लोगों ने बड़े जोरों से करतलध्वनि की; मानो हमने कोई बड़ा शिकार मारा हो।

बलराम ने चीरे गए बगले के एक भाग को उठा लिया। मैं दूसरे भाग को वहीं छोड़कर चलने लगा।

“उसे उठाकर ले चलो।” उन्होंने कहा।

“क्यों? आपने तो उस बकशावक को फिकवा दिया और इसे ले चलने के लिए कहते हैं!”

“क्योंकि वह स्वयं मरा था, शव था; और इसका हम लोगों ने शिकार किया है।” उनकी वाणी में स्वाभिमान था, और यही स्वाभिमान उस मरे हुए बगले के दोनों खंडों को प्रसाद के रूप में उठा लाया।

□

अफवाह बिना अग्नि का धुआँ है। ऐसा ही धुआँ इस संदर्भ में भी उठा। बात यह हुई कि कंस के मल्लों में ‘बक’ नाम का एक राक्षस भी था। वह पिशाच था। कहते हैं, वह मनुष्य का कच्चा मांस तक खा जाता था। लोग

उसके नाम से थर-थर काँपते थे; किंतु अघ की मृत्यु के बाद वह अचानक मथुरा से गायब हो गया था। इस बगले की हत्या के बाद लोगों ने कहना शुरू किया कि यह वही बक राक्षस है, जिसने बगले का रूप रखकर तैरते समय कन्हैया पर आक्रमण किया और मारा गया।

एक मुँह की बात हजारों मुँह की होती हुई अफवाहों की संक्रामकता को बढ़ाती रही। संध्या होते-होते पूरे मथुरा में बात फैल गई। लोग मेरे यहाँ उस बक शव को देखने आने लगे।

भैया ने शिकार के बाद बगले का मांस अपने साथियों में बाँट दिया था और पंख लाकर उद्यान में सूखने के लिए फैला दिया था। लोग आते और उसे ही देखते रहे।

कोई कहता—“कितना विशाल बगला रहा होगा, जिसके पंख इतने बड़े हैं!”

कोई कहता—“अरे, उसका साहस तो देखो, उसने चोंचें मार-मारकर कन्हैया को डुबो देना चाहा था।”

“अरे, दुष्ट पिशाच था, पिशाच! कन्हैया के अतिरिक्त और किसीसे मारा नहीं जा सकता था।” किसी और ने कहा।

वस्तु जैसी होती है व्यक्ति उसे वैसा नहीं देखता, वरन् द्रष्टा की दृष्टि अपने अनुसार वस्तु को बना लेती है। इस समय हर आँख उस बगले के पंख को पिशाच का पंख देख रही थी। औरों को जाने दीजिए, इतने समझदार थे मेरे पिता, वह भी इस भ्रम में पड़ गए थे।

मेरे यहाँ आनेवालों का ताँता लगा रहा। मैंने देखा, सुवासिनी भी महादेवी के दोनों बच्चों को लेकर आई थी। वह उन बक पंखों से अधिक मुझे देखती रही। उसके लिए तो मैं मात्र कन्हैया नहीं, देवकी का आठवाँ पुत्र था। उसके मस्तिष्क में गूँजती हुई नारद की भविष्यवाणी थी। उसने धीरे से उन बच्चों से कुछ कहा। वे दोनों मेरे चरणों की ओर लपके। मुझे अच्छा नहीं लगा। औरों का पैर छूना तो मैं सह लेता था, पर उन समवयस्कों को तो मैंने गले ही लगाया।

भैया बलराम उद्यान से बहुत पहले ही चले गए थे। मैंने उन्हें खोजने की बड़ी चेष्टा भी की, पर वहाँ वे दिखाई नहीं दिए। यद्यपि इस बगले के आखेट में उनकी भूमिका मुझसे कम नहीं थी; पर हरेक ने इसके संहार का कारण मुझे ही माना। इस स्थिति से उनका खिन्न होना स्वाभाविक था। पर मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि उनमें न तो कोई ऐसी खिन्नता थी और न द्वेष ही। उनकी कुछ प्रकृति ही ऐसी थी कि अपनी किसी स्तुति और आलोचना से वे निरपेक्ष रहते थे। भीड़भाड़ भी उन्हें बहुत अच्छी नहीं लगती थी। मैंने पता लगाया तो ज्ञात हुआ कि वे अपने कक्ष में विश्राम कर रहे हैं और थोड़ी देर बाद ही गदायुद्ध के लिए जाने वाले हैं।

यदि इस प्रसंग में कोई उद्यान में नहीं आया तो वे थे हमारे आचार्य श्रुतिकेतु। मेरे मन में भी एक शंका थी। मैंने सोचा, मैं स्वयं गुरुजी के यहाँ चलूँ और उनसे समाधान लूँ।

आचार्यजी शय्या पर ढुलके विश्राम कर रहे थे। ज्यों ही मैं उनके यहाँ पहुँचा, वे उठकर बैठ गए। उनकी स्वाभाविक मुसकराहट ने मेरा स्वागत किया।

“आचार्यजी, एक जिज्ञासा है।” वे कुछ बोलें, इसके पहले ही मैं बोल पड़ा।

“क्या?”

“क्या कोई राक्षस बगला बन सकता है?”

वे जोर से हँसे। जैसे उन्होंने सारा संदर्भ समझ लिया हो। फिर ज्यों-ज्यों हँसी थमती गई, उनकी गंभीरता बढ़ती गई। वे बोले, “मनुष्य राक्षस बन सकता है। उसकी प्रवृत्ति उसे पशु भी बना सकती है।”

“मैंने प्रवृत्ति के प्रसंग में नहीं, शारीरिक रचना के प्रसंग में आपसे पूछा था।”

आचार्यजी और गंभीर हुए—“विश्वास हमारी आँखें खोलता है और अंधविश्वास उसे बंद कर देता है। जब आँख ही बंद हो गई तब मनुष्य और बगले में अंतर क्या है?” इसके बाद वह जोर से हँसने लगे।

अंधविश्वास के संबंध में उनकी की गई टिप्पणी मैं उस समय समझ नहीं पाया था। पर आज समझता हूँ। मनुष्य प्रकृति से राक्षस हो सकता है, पशु हो सकता है; पर रूप से नहीं।...किंतु इस भीड़ को कौन समझाए कि यह वह असुर बक नहीं है, मात्र एक पक्षी बक है।

इस अंधविश्वास को ध्वस्त करने की न तो मैंने आवश्यकता समझी और न चेष्टा ही की। जब अंधविश्वास के पंखों पर चढ़कर ही मेरा ईश्वरत्व मेरे पास आ रहा हो तो उसके रोकने से लाभ क्या!...पूज्यता एक ऐसी लिप्सा है, जो देवताओं तक को नहीं छोड़ती, फिर मैं तो मनुष्य हूँ।

संध्या होते-होते प्रद्योत के साथ गर्गाचार्य पधारे।

दिन डूब रहा था। सूर्य की अरुणिमा काली पड़ती जा रही थी। गोप गायों को चराकर लौट रहे थे। मेरे पिता ने उन दोनों का स्वागत किया; किंतु उनके इस स्वागत में पहले जैसी आत्मीयता नहीं थी। वे आशंकित थे कि कहीं किसी नई विपत्ति की सूचना तो नहीं मिलने वाली है। उनकी दृष्टि में प्रश्न था।

मेरे पिता की मानसिकता तक पहुँचने में उन दोनों व्यक्तियों को जरा भी देर नहीं लगी।

आचार्यजी बोल पड़े—“आप घबराइए नहीं, हम लोग छिपकर नहीं आए हैं। राजकीय यात्रा में आए हैं।” और फिर एक उन्मुक्त अट्टहास वायुमंडल में तैरने लगा।

पिताजी का तनाव ढीला पड़ा।

“मुझे भेजा गया है कि मैं आपके पुत्र का कुशलक्षेम ले आऊँ।” आचार्यजी बोले, “सुना है, किसी जंगली बगले ने उसे घायल कर दिया?”

“हाँ, उसे चोट अवश्य लगी थी; पर लेप लगा दिया गया है। घबराने की कोई बात नहीं है।” पिताजी ने कहा।

“मेरे लिए तो कोई घबराने की बात नहीं है; पर उसके लिए अवश्य है, जिसका हम लोग नमक खाते हैं।” आचार्यजी के बोलने का ढंग ऐसा था कि सभी लोग हँस पड़े।

उन्होंने भी उस जंगली बगले के पंख देखे। उसकी विशालता, उसकी भयंकरता के होते हुए भी बस एक ही प्रश्न उन्हें भी व्यग्र कर रहा था—क्या एक राक्षस बगले का रूप धारण कर सकता है?

पर प्रद्योत का कहना था कि इस सृष्टि में क्या नहीं हो सकता!

पर आचार्यजी के गले के नीचे बात उतर नहीं रही थी। यह सत्य है कि बकासुर न तो मथुरा में है और न उसके आसपास। यदि होता तो वह इस अफवाह के सिंधु में थपेड़े खाता हुआ कहीं-न-कहीं जरूर उतराता।

“अघ की मृत्यु के बाद वह एक दिन मुझसे मिला था। चिंतित था। कह रहा था कि ‘अब मेरी भी कुशल नहीं। निश्चित ही महाराज उस बालक की हत्या के लिए अब मेरे माध्यम से कोई योजना बनाएँगे—और मैं भी मारा जाऊँगा।’ ” प्रद्योत ने कहा।

“तब तुमने क्या कहा उससे?” आचार्यजी ने पूछा।

“मैंने कहा, ‘तुम्हें मारनेवाला इस संसार में कौन पैदा हुआ है!’ ” प्रद्योत बोला, “तब उसने कहा, ‘जब महाराज का ही विनाशक इस संसार में पैदा हो चुका है तब मेरी क्या बिसात है!’ ” इस संदर्भ में प्रद्योत ने बताया कि बक को पूर्ण विश्वास है कि देवकी का आठवाँ बेटा कृष्ण ही है।

“जब उस मूर्ख पिशाच को यह विश्वास है तो वह अवश्य ही मथुरा छोड़कर कहीं चला गया होगा।” आचार्यजी बोले।

“क्या यह नहीं हो सकता कि कंस ने इस बगले की मृत्यु का सहारा लेकर उसने बकासुर की मृत्यु की अफवाह फैलाई हो और उसे कहीं छिपा दिया हो।...और बाद में उसके ही माध्यम से घात किया जाए?” नंद की शंका थी।
“नहीं जी, इतनी बुद्धि कहाँ है कंस को। यदि यह बात होती तो वह इतना व्यग्र न होता; फिर हम क्यों भेजे जाते? हमें तो यही देखने के लिए भेजा गया है कि सचमुच बक मारा गया क्या!” आचार्यजी बोले।

“तो क्या कहेंगे आप यहाँ से जाकर?”

“मैं तो यही कहूँगा कि लगता है, बक ही मारा गया।” प्रद्योत बोला।

“और आप क्या कहिएगा?” पिताजी ने आचार्यजी से पूछा।

“प्रद्योत के कुछ कहने के बाद मेरे कहने की स्थिति ही नहीं आएगी।” आचार्यजी बोले और हँसने लगे। राजनीति के विषाक्त परिसर में भी आचार्यजी की नैतिकता हर स्थिति में जीवित रहना चाहती थी। यही उसकी लाचारी भी थी और विशेषता भी।

आचार्यजी ने कंस की व्यग्रता का विशद वर्णन किया और बताया कि अघ की मृत्यु से वह लगभग विक्षिप्त हो गया है। इतनी गोपनीय योजना, इतना रहस्यपूर्ण संघर्ष।...और वह सब बालू की भीत सिद्ध हुआ। उसे कभी विश्वास नहीं था कि अघ असफल हो जाएगा। वह मारा जाएगा। निश्चित रूप से उसके मस्तिष्क में नारद की वाणी कौंध रही होगी।

“फिर आप लोगों की सूचना से तो वह और भी व्यग्र हो जाएगा।” पिताजी बोले।

“व्यग्र नहीं, जल उठेगा।” आचार्यजी ने कहा, “इसीसे तो मैंने सोचा है कि जो कुछ सूचित करना होगा, उसे महामात्य महोदय ही कहेंगे।” आचार्यजी मुसकराए—“अग्नि में घी डालते समय उससे दूर ही रहना चाहिए।”

“इसका मतलब है कि आप चाहते हैं कि यदि झुलसना हो तो महामात्य महोदय ही झुलसें!” पिताजी बोले।

“मेरा तो सारा जीवन ही झुलस गया।” प्रद्योत बोला। फिर एक गहरी निराशा उसके नेत्रों से टपकने लगी। ऐसा लगा जैसे वह कहना चाह रहा हो—‘पत्नी मारी गई। बच्चे कहाँ होंगे, कैसे होंगे, पता नहीं। अब क्या रह गया झुलसने को?’

मुझे तो उसकी इस अभावग्रस्त हताशा की सूचना उस समय मिली जब वह हमारे यहाँ से जा चुका था, अन्यथा मैं उसे किसी-न-किसी तरह सुवासिनी से अवश्य मिलवाता, चाहे उसका परिणाम जो कुछ भी होता।

मैं इतना जानता हूँ कि प्रद्योत सुवासिनी से मिलकर निश्चित प्रसन्न होता। उसकी सारी हताशा धुल जाती। वह उसमें अपनी महादेवी को पाता। शायद वह उससे भी कुछ अधिक ही पाता; क्योंकि वह सुवासिनी से अतृप्त था, अछूता था। उसका संपर्क आत्मिक स्तर पर था।...और बिना शरीर के आत्मा बिना पुष्प के सुगंध है, जिससे केवल हमारी धारण शक्ति तृप्त होती है। अन्य इंद्रियाँ काल्पनिक संसार में छटपटाती रह जाती हैं।...और सुवासिनी के अतिरिक्त मैं उसे उसके बच्चों से भी मिलाता। अभी उस बकशावक की घटना मेरे मस्तिष्क में ताजा थी। उस नर बगले की व्याकुलता का मैं प्रद्योत में अनुभव करने लगा था। पर क्या करता, वह जा चुका था।

पिताजी बता रहे थे कि यहाँ से जाते समय गर्गाचार्य ने एक बात बड़े महत्त्व की कही थी—“यह तो संभव नहीं लगता कि कोई नर पिशाच बगले का रूप धारण कर ले; पर यह अवश्य संभव है कि किसीकी बुद्धि उसे बगला बना दे।”

इसके बाद वे खुलकर हँसे थे। उनकी हँसी बता रही थी कि इस अफवाह के मूल में हो न हो, छंदक की बुद्धि हो। वह यह भी बता रहे थे कि इसके पूर्व असुर बक के साथ छंदक कई बार देखा गया था। हो सकता है, उसने ही बक को इतना भयभीत कर दिया हो कि वह मथुरा छोड़कर भाग गया हो।

बात चाहे जो हो, पर इतना सच है कि मरनेवाला बक भले ही था, बकासुर नहीं था; पर अफवाहों ने उसे बकासुर बना दिया था।

□

घटनाओं को झेलते-झेलते दुर्घटनाएँ भी मेरे लिए सहज होती गईं। मेरा साहस बढ़ता गया।...और अपनी सीमा से बढ़ा हुआ साहस ही दुस्साहस है। मेरी मस्ती और अल्हड़ता दुस्साहस की अंतिम सीमा भी छूने को बहुधा तैयार हो जाती थी; बस ललकारने भर की देर रहती।

इस संदर्भ में एक घटना सुनाता हूँ। यह घटना ऐसी नहीं, जो मेरे जीवन का अध्याय बन सके; किंतु यह मेरी प्रकृति को रेखांकित अवश्य करती है।

व्रज में एक बड़ा ही शक्तिशाली साँड़ था। बिगड़ैल और मरखना भी। बलिष्ठता के कारण ही वह पाला गया था। गायों के संसर्ग से उसकी व्रज में अनेक सुंदर संतानें थीं। हस्तिन् उसका नाम था। वह चलता तो मतवाले हाथी की तरह। क्या मजाल कि कोई उसके सामने से निकल जाए। अपरिचित को देखते ही उसके दोनों नथने फुफकारने लगते। लोग कहते कि नंद बाबा ने यह वृषभ नहीं, जंगली हाथी पाला है। तीन परिचारक केवल उसीकी सेवा में लगे रहते थे। गोकुल ग्राम के बाहर यमुना के किनारे एक विशाल पीपल के मोटे तने से वह बराबर बँधा रहता। बहुत कम वह खुला छोड़ा जाता था; क्योंकि वह अपरिचित को देखते ही दौड़ा लेता था। यमराज की कृपा से यदि वह बच भी जाता था, तो पंगु होकर। बँधे रहने पर भी अपने खुरों से वह धरती कुरेदता और अपने नुकीले सींग पीपल के तने पर ही मारा करता; जैसे उसे उखाड़कर ही दम लेगा।...अद्भुत ऊर्जा थी उस वृषभ में!

जब भी हम लोग उधर जाते थे, वह सींग हिलाता हुआ हमें फुफकारता। उसकी आँखों से चिनगारियाँ फूटतीं और नथनों से धुआँ।

उस दिन दूर खड़े हम लोग भी उसकी लीला देख रहे थे।

“कितना भयानक है यह वृषभ भी!” श्रीदाम बोला।

“इसीलिए तो पास जाने का साहस नहीं होता।” उद्धव ने कहा।

“मैं अभी पास जाकर दिखाता हूँ।” मैंने कहा।

“पास जाने से क्या होता है! यदि तू सवारी करके दिखा तो समझूँ!” बलराम ने ऐसे कहा जैसे उन्होंने मेरे अहं को ललकारा हो।

मैंने झट चुनौती स्वीकार की—“तो क्या समझते हो, भैया! मैं उसपर सवारी करके दिखाऊँगा।”

“और यदि न कर सका तो?” बलराम बोले।

“तो पूरे गोकुल गाँव में तुम्हें कंधे पर बैठाकर घुमाऊँगा।”

“अच्छी बात है, तो मारो हाथ।”

बाजी लग गई। अब मेरे मित्र घबराए। उन्हें शीघ्र अनुभव हुआ कि यह मजाक भारी पड़ेगा—“नहीं-नहीं, कन्हैया, ऐसा कभी मत करना! जान का खतरा है।” श्रीदाम बोला।

“वृषभ के जान का खतरा तो होगा ही।” मैंने कहा।

“वृषभ के जान का नहीं, तेरे जान का।”

“तो होने दो जान का खतरा। मैं इन सबसे डरता नहीं।” मैंने कहा, “मेरी अहंता को कोई चुनौती देकर निकल जाए, यह मुझे सहन नहीं।”

सबने अनुभव किया कि व्यर्थ में एक विपत्ति मोल ले ली गई। मेरे हठ से सभी परिचित थे। फिर भी भैया बोल पड़े

—“अरे भाई, जाने भी दो। परिहास को परिहास ही रहने दो।”

“परिहास ही रहेगा। मैं परिहास-परिहास में ही हस्तिन् पर चढ़ूँगा।” मैंने कहा।

मेरी प्रकृति समझनेवालों ने जान लिया कि भूल हो गई। मेरा उत्तर पाकर बलराम तो चले गए, पर श्रीदाम और उद्धव अब भी भूल सुधारने में लगे रहे। उन्होंने मेरी दुर्बलता पकड़ी और सोचा, यदि राधा कहे तो शायद कृष्ण मान जाएँ।

मैं उस वृषभ को दूर खड़ा देखता ही रहा कि दोनों चुपचाप वहाँ से खिसक गए। उन्होंने उसी समय राधा से संपर्क किया और सारी बातें बताईं। वह भी घबरा गई। उसकी पहली प्रतिक्रिया यही थी कि इसके पीछे कंस की कोई चाल तो नहीं।

“नहीं, बिल्कुल नहीं। यह हम लोगों का विशुद्ध परिहास था, जिसे कन्हैया ने गंभीरता से लिया।” श्रीदाम बोला।

“तुम्हें चुनौती नहीं देनी चाहिए थी। तुम तो उसकी प्रकृति जानते हो।” राधा बोली और उसी समय चल पड़ी। कुछ दूर आकर उसने मेरे उन दोनों मित्रों को भी चले जाने के लिए कहा। किसीने प्रतिवाद नहीं किया; क्योंकि वे जानते थे कि जड़ रहते चुनौती का वृक्ष कभी सूख नहीं सकता। निदान, गोधूलि में लौटी गायों की तरह वे चुपचाप अपने-अपने घर चले गए।

मैं अब भी हस्तिन् को निहार रहा था। उसकी गति देख रहा था। कवच-सी कठोर उसकी पीठ पर मेरे नेत्र टहल रहे थे कि अचानक पीछे से आकर किसीने मेरी आँखें बंद कीं। मैंने शीघ्र ही जान लिया कि यह राधा है। उसका स्पर्श ही मुझमें एक विचित्र सिहरन पैदा करता। दूसरे आँखें मूँदने का ढंग भी उसका बड़ा विचित्र था। वह बड़ी जोर से आँखें दबाती थी और सिर को पीछे खींचकर अपने वक्ष से लगा लेती थी। ऐसी स्थिति में उसे पहचानना कितना सरल था! फिर भी मैं उसकी छाती से चुपचाप चिपका रहा—रति के वक्ष से काम की तरह। जहाँ तृप्ति नहीं, मात्र अतृप्ति थी। जहाँ शांति के भीतर अशांति छटपटा रही थी। फिर भी मैं चुप था; पर कब तक?

उसी अतृप्तावस्था में बोल पड़ा—“मैं जानता हूँ तुम्हें कि तुमने मेरी आँखें क्यों बंद कीं?”

“इसलिए कि तुम जो कुछ देख रहे हो, उसे मत देखो।”

“तो क्या तुम्हें देखूँ?” इतना कहते हुए मैंने झटके से उसका हाथ छुड़ा लिया। वह मुसकरा रही थी। उसकी आँखों की अतृप्ति कह रही थी—“हाँ, मुझे देखो।”

“पर इस समय मुझे इस हस्तिन् को देखने दो।” मैंने कहा।

“क्यों?”

“मैं इसपर सवारी करूँगा।”

“क्या तुझपर पागलपन सवार है?”

“पागलपन मुझपर सवार है और मैं हस्तिन् पर सवार होऊँ। क्या बात कही है तुमने!” मैंने हँसते हुए उसके कपोलों पर प्यार की एक चपत जमाई। वह खिल उठी। उसकी आत्मीयता बार-बार रोक रही थी, मैं ऐसा जोखिम न उठाऊँ; पर मैं माननेवाला नहीं था। मैंने स्पष्ट कहा, “देख राधा, कोई मुझे चुनौती दे और मैं उसे स्वीकार न करूँ, यह हो नहीं सकता।”

“यदि यमराज चुनौती दे तो भी तू स्वीकार करेगा?”

“निश्चित करूँगा!” मैं बोला।

राधा मेरे हठ को जानती थी; पर थी बड़ी चालाक। उसने इस चुनौती के साथ एक चुनौती और जोड़ दी—“तो तुझे मुझे साथ लेकर ही सवारी करनी पड़ेगी।”

“नहीं-नहीं, यह नहीं होगा।”

“क्यों, हट गए न अपनी प्रकृति से!” राधा बोली, “एक चुनौती के लिए तो हठ ठान बैठे और अब हमारी चुनौती के समक्ष साहस ही छूट गया!”

“यदि तू मेरे साहस को ललकारती है, तो चल, मुझे यह भी चुनौती स्वीकार है!” मैं बोल तो गया, पर सोचने लगा कि इस वृषभ पर अकेले चढ़ना ही कठिन है; फिर राधा को लेकर चढ़ना तो मृत्यु को दोहरा आमंत्रण है। पर चुनौती तो चुनौती थी। मैं क्यों पीछे हटूँ? मेरा साहस जागा। साहस वह बाली है, जो मृत्यु की आधी शक्ति हर लेता है।

अब कभी मैं उस वृषभ को देखता और कभी राधा को। इन दोनों के बीच नई स्थिति का संदर्भ बैठाने में मेरी बुद्धि सक्रिय रही।

□

एक दिन बीता, दो दिन बीता और फिर कई दिन बीत गए।

यदि कोई दूसरा अवसर होता तो मेरे मित्र बार-बार मुझे छेड़ते, मेरी स्वीकार की गई चुनौती याद दिलाते और फिर हँसी उड़ाते; पर इस विषय में वे मौन रह गए। चाहते थे कि मैं भूल जाऊँ; पर मैं भूलने वाला कहाँ था!

मैं अब लोगों से आँखें चुराकर उस वृषभ के पास जाता और उसे अपनी मुरली सुनाता। जिस वंशी के समक्ष गाये स्तब्ध रह जातीं, उसका प्रभाव उस हस्तिन् पर क्यों नहीं पड़ता! मैंने अनुभव किया कि उसे भी वंशी अच्छी लगती है, और विशेषकर भोरे-भोरे जब मैं भैरव बजाता हूँ तब वह मंत्रमुग्ध-सा मुझे देखने लगता है। इस स्थिति में मैं उसकी पीठ भी सहलाता, उसके सींग भी पकड़ता और कभी-कभी वंशी बजाते-बजाते उसकी पूँछ भी पकड़कर हिलाता; पर वह कुछ नहीं बोलता। उसके परिचारक भी उसकी इस स्थिति पर आश्चर्य करते।

फिर एक प्रभात मेरे मन में आया कि भैरव तो शिव की आराधना का राग है—नाम ही है भैरव। और वृषभ उनका वाहन। वह इस राग पर मुग्ध हो तो आश्चर्य क्या!...मैंने उस समय अहीर भैरव बजाना आरंभ किया। अद्भुत प्रभाव पड़ा उसका। उसका सारा असुरत्व मेरे सुर प्रवाह में बह गया। वह पालतू श्वान की तरह अपनी गरदन उठाकर मेरा मुख चाटने की कोशिश करने लगा। उसकी परवशता का लाभ उठाकर मैं उसपर चढ़ बैठा। उस समय उस वृषभ की देखभाल करनेवालों के अतिरिक्त वहाँ कोई नहीं था। वे सब उछल पड़े। केवल इसलिए कि मैं चुनौती की लड़ाई जीत गया था। पर इससे क्या होता! जंगल में मोर नाचा, किसने देखा। मेरे मित्र होते तो बात कुछ बनती भी। फिर मैंने तो एक चुनौती और स्वीकार की थी—राधा को बैठाने की। वह कहाँ पूरी हुई?

हस्तिन् की पीठ पर बैठा जरूर था, वह भी वंशी बजाता हुआ; पर बराबर लड़खड़ा रहा था। बिना अभीषु (लगाम) के सवारी संभव नहीं। मैं कूदकर उतर गया। पर एक विश्वास जागा। हस्तिन् पर सवारी संभव है। अंगारे को हथेली पर उठाया जा सकता है।

मुझे एक उपाय सूझा। उसके गले में घंटी लगी एक रस्सी बाँधी। ढीली नहीं वरन् खूब कसी। उसने दो बार गरदन झटकारी, पर कुछ किया नहीं। उससे रागात्मक स्तर पर कहीं-न-कहीं मैं जुड़ने लगा था।

उसी दिन मैंने घोषणा कर दी—“कल मैं सूर्योदय के पूर्व ही हस्तिन् पर सवारी करूँगा।”

खलबली मच गई। क्या करने जा रहा है कन्हैया! कुशल यही थी कि किसीने मेरे माता-पिता से नहीं कहा। बात केवल मेरे मित्रों के बीच रह गई।

दूसरे दिन राधा ब्राह्म मुहूर्त में ही मेरे यहाँ आई। यशोदा और नंद दोनों शय्या त्यागकर नित्यकर्म में लग गए थे। मैं अभी सोया ही था। वह उद्यान में टहलती रही। ज्यों ही मेरी नींद खुली, नक्षत्र दर्शन के लिए मैंने वातायन से

देखा। धुँधलके में उसकी व्यग्रता मुझे चक्कर काटती दिखाई दी। मैंने सारा संदर्भ समझ लिया। फिर भी मैं उसे देखता रहा। अंधकार के नीले झीने परदे के भीतर वह मुझे और अच्छी लगी।

किंतु मेरे माता-पिता स्नान-ध्यान के बाद प्रकृतिस्थ हों, इसके पहले ही मुझे निकल पड़ना था। मैं तैयार हुआ और सीधे बगीचे में आया।

मुझे देखते ही राधा की व्यग्रता और मचल उठी—“यह तुम क्या करने जा रहे हो, मोहन?”

“कुछ तो नहीं। केवल तुम्हारी चुनौती स्वीकार करने जा रहा हूँ।”

“मैंने कोई चुनौती नहीं दी—और न मैं चाहती हूँ कि तुम कोई चुनौती स्वीकार करो।”

“बस डगमगा गया साहस!”

“साहस मुझे क्या, साहस तो तुम्हें करना है।”

“क्यों? तुमने मेरे साथ सवारी करने की बात नहीं कही थी?” मैं इतना कहते हुए हँसा—“अरे, मेरे साथ हस्तिन् पर बैठने के लिए कलेजा चाहिए, कलेजा!” इतना कहते-कहते मेरी दृष्टि अचानक उसके उरोजों पर पड़ी। क्षण भर के लिए मेरी वाणी मेरी आँखों में समा गई।...और फिर हँसते हुए बोला, “तेरा कलेजा तो चार अंगुल का भी नहीं होगा, राधे।”

वह भी हँसी और मुझे वक्ष से लगा लिया।

सूर्योदय के पूर्व ही मैं हस्तिन् के निकट पहुँच गया था। मेरे मित्र मुझसे पहले ही वहाँ आपस में बातें करते हुए खड़े थे। शायद उनका विचार था कि एक बार कन्हैया को और रोका जाए।

सुना है, बलराम भैया ने स्पष्ट कहा था कि वह बड़ा जिद्दी है। जो ठान लिया है, उसे करके ही रहेगा। केवल एक ही कार्य हम कर सकते हैं कि उसे घायल होने से बचाएँ।

इसीलिए मेरे सभी मित्र चुप थे। उनकी आँखों में भय था, विस्मय था और थी आशंका। दाँतों तले अँगुली दबाए सब देख रहे थे।...राधा मेरे साथ ही थी।

मैंने वंशी पर अहीर भैरव छेड़ा और तन्मय होकर बजाने लगा; क्योंकि आज वस्तुतः मेरी नहीं, मेरे वंशीवादन की परीक्षा थी। स्वर का जादुई प्रभाव उस वृषभ पर पड़ने लगा। वह झूमने लगा। मैंने अवसर देखा और उसके गले में घंटीवाली रस्सी में एक रस्सी का छोर कसकर बाँध दिया। यही मेरा अभीषु हो गया।

मैंने परिचर से कहा, “खोल दो हस्तिन् को।”

उसने हस्तिन् को खोलने के पहले मेरे मित्रों को और दूर चले जाने का संकेत किया।...और आपको जानकर आश्चर्य होगा कि बलराम भैया को छोड़कर सब थोड़ा पीछे हट गए। इतना आतंक था उस वृषभ का उनके मन पर।

पर राधा भयभीत-सी, सिमटती-सी मेरे पीछे खड़ी रही। मैंने उसे ढाढ़स बँधाते हुए कहा, “डरना मत। दोनों हाथ मेरी कमर में डालकर कसकर पकड़ लेना। छोड़ना नहीं। गिरेंगे तो दोनों साथ ही गिरेंगे।”

“और पंगु होंगे तो दोनों साथ ही पंगु होंगे। मरेंगे, तो भी साथ ही मरेंगे।” बलदाऊ भैया बोल बड़े। राधा को साथ लेने पर उनकी तीखी प्रतिक्रिया थी। उन्हें पिछला संदर्भ मालूम नहीं था कि उनकी चुनौती के बाद दूसरी चुनौती राधा ने ही मुझे दी है।

मैंने भैया को कोई उत्तर नहीं दिया। केवल वंशी बजाता रहा। हस्तिन् अब बैठकर मुझे सुनने लगा था। परिचर ने उसके बंधन खोल दिए थे। मैंने धीरे से राधा को संकेत किया और हम दोनों उसपर बैठ गए।

हमारे बैठते ही वह हड़बड़ाकर उठा। मैंने बाएँ हाथ से अभीषु कसकर पकड़ा और दाहिने हाथ से वंशी बजाता

रहा। राधा ने दोनों हाथों से कसकर कमर बाँध ली थी; पर हड़बड़ाकर उसके उठने से वह एकदम मेरे ऊपर झुक-सी गई। दूर खड़े मेरे मित्र चिल्लाए—“हो गया, हो गया! तुमने चुनौती जीत ली!”

बलदाऊ भैया ने भी संकेत किया—‘उतर आओ।’

पर मैं अधिक उत्साह में था। मैंने अभीषु खींचते हुए कहा, “हस्तिन्, चलो।”

वह चल पड़ा।

जब भी वह छल्लाँ लगाता या उछलता, राधा धक से मेरी पीठ पर गिर पड़ती। उसके उरोज टकराते। मेरी रगों में एक विचित्र स्पंदन होता। हस्तिन् की चाल ज्यों-ज्यों तेज होती गई, राधा मुझसे त्यों-त्यों सटती गई। उसका भय मेरे शरीर से चिपककर जिस उत्तेजना को जन्म दे रहा था, वह हस्तिन् को और तेज करता गया। हमने उस क्षेत्र के कई चक्कर लगाए। मेरे मित्र अवाक् थे। उनकी हाहाकारी दृष्टि हमें विस्मय से देखती रही।

मृत्यु की पीठ पर भी ऐसा प्रेमिल आनंदोत्सव शायद ही किसीने मनाया हो।

□

संध्या होते-होते इसकी भी चर्चा गोकुल में फैल गई और मेरे पराक्रम के इतिहास में एक रोचक अध्याय और जुड़ गया। कई लोग तो उस हस्तिन् का दर्शन करने भी आए। किंतु वृषभ के स्वभाव में कोई अंतर नहीं आया। पहले की ही भाँति जहाँ वह किसीको देखता, फुफकारने लगता। उसका क्रुद्ध होकर पीपल के तने से अपने सींग रगड़ना, खुरों से धरती खुरचना जारी रहता। उसकी स्फीत फुफकार लोगों को दूर ही खड़ा रहने के लिए विवश करती।

यह पहली घटना थी, जिसने बलदाऊ भैया पर विशेष प्रभाव डाला। अब उन्हें भी मुझमें चमत्कार दिखाई पड़ने लगा। साथ ही संगीत के प्रति उनकी निस्पृहता भी कुछ कम हुई।

एक दिन वे श्रीदाम से परिहास में ही बोले, “लगता है, एक दृष्टि से वह वृषभ मुझसे महान् है।”

“यह क्या कह रहे हैं आप?” श्रीदाम ने कहा। मैं भी श्रीदाम के बगल में ही खड़ा था और भैया के कथन पर चमत्कृत था।

“ठीक कह रहा हूँ, श्रीदाम।” बलराम ने कहा। फिर उनकी गंभीरता पर एक मुसकराहट उग आई—“जितने ध्यान से हस्तिन् ने कन्हैया की वंशी सुनी, हमने आज तक नहीं सुनी थी।”

हम लोग हँस पड़े। यह भैया नहीं बोले रहे थे वरन् संगीत की शक्ति को स्वीकारते एक कृषक की सहजता बोली थी।

फिर भैया भी मेरी वंशी सुनते और प्रभावित भी होते थे।

इस घटना ने मेरे माता-पिता के हृदय पर वह विश्वास छोड़ा कि अब मैं अपनी रक्षा करने में स्वयं समर्थ हूँ। मुझपर लगा नियंत्रण लगभग हटा लिया गया। मथुरा को छोड़कर अब मैं कहीं भी जाने और कुछ भी करने के लिए मुक्त था।

मेरे व्यक्तित्व का यह मुक्त विहग अब खुले आकाश में विचरता था; पर जब कभी राधा के स्नेह का पिंजड़ा देखता था, वह मंत्रमुग्ध-सा उसमें बंद हो जाता था। यह मेरी विवशता थी या दुर्बलता, आज तक जान नहीं पाया।

पर संसार जानने लगा था, कुछ समझने लगा था। फुसफुसाहट भी होने लगी थी; पर मेरा सारा व्यक्तित्व ही राधामय था। इस राधामयता को बेधकर इस फुसफुसाहट में शक्ति नहीं थी, जो मुझे तक आ सके।...मुझे बाद में अनुभव हुआ कि राधा अनेक अहीर बालाओं के लिए ईर्ष्या की वस्तु होती जा रही है।...तब मैंने उन सबसे संपर्क बढ़ाना आरंभ किया।

यमुना के कूल में, कछारों में, कुंजों में ग्वालबालाओं की भीड़-सी लगने लगी। जहाँ वे अपने काम से खाली होतीं वहाँ माता-पिता की आँखें चुराकर आ जातीं। हम तरह-तरह के खेल खेलते, रास रचाते।

बालाओं के आकर्षण ने बालकों को भी अपनी ओर खींचा। पुष्पवाटिका हो और भौरे न आएँ, यह कैसे हो सकता है! अब हमारे रास में ग्वालबाल भी आने लगे। सबके केंद्र में मैं ही था। इतने अनुयायियों के मध्य मेरे नेतृत्व को बढ़ावा मिला। नियति ने वे परिस्थितियाँ पैदा कीं कि मेरा नायकत्व स्थायी होता गया। उसकी गति अद्भुत थी। वह नारी के क्षेत्र से पुरुष के क्षेत्र की ओर आया। उलटी नदी बही। शायद ही संसार में कहीं ऐसा हुआ हो।

किंतु यह नारी संपर्क मेरे मित्र उद्धव को बहुत अच्छा नहीं लगता था। वह खुलकर विरोध तो नहीं कर सका, पर एक दिन किसी बात के क्रम में बोल ही पड़ा—“नारी घृत है और पुरुष अग्नि। दोनों की अधिक निकटता खतरनाक है।”

“क्या खतरा है?” मैंने पूछा।

“आग भभक उठेगी।”

“तो क्या बुरा होगा?” मैंने मुसकराते हुए कहा, “छंदक तो रोज ही कहता है कि मैं चिनगारी बोता हूँ, एक आग पैदा करने के लिए—और वह आग ऐसे ही पैदा हो जाए तो क्या आपत्ति है?”

“किंतु जिस आग की चर्चा छंदक करता है, वह नारी के माध्यम से पैदा होनेवाली नहीं है।” उद्धव बोला।

“तुम गलत समझते हो, उद्धव! नारी शक्ति है, पुरुष का प्रेरणास्रोत है।” मैं बोला। मैं तो कहना चाहता था, यदि राधा मेरे पीछे न बैठी होती तो क्या मैं उस वृषभ को इतनी निर्भीकता से दौड़ा पाता? ऐसी जमकर सवारी करता? पर मैं यह कह नहीं पाया।

कुछ भी हो, इन सारी फुसफुसाहटों और विरोधों के होते हुए भी मेरा नायकत्व वर्षा में शस्य की तरह फैलने लगा था। मैं नित्य ही कोई-न-कोई योजना बनाता। अब गोकुल का हर बाल मेरे निर्देश की प्रतीक्षा करता। मेरा राजनीतिक जीवन मुख्यतः इसी समय से आरंभ हुआ।

मथुरा और गोकुल में शीत युद्ध तो चल ही रहा था। मेरा चिंतन भला इस संदर्भ से कैसे अलग होता। मैंने एक दिन यमुना के कछार पर ग्वालबालों को इकट्ठा किया। उद्धव ने इसपर व्यंग्य भी किया—“क्या बात है कि आज तुमने ग्वालबालों को ही बुलाया है, बालिकाओं को नहीं?”

“आज मुझे राजनीति की बातें करनी हैं।” मैंने कहा।

“तो बालाएँ उसमें प्रेरणा देतीं।” उसने फिर व्यंग्य बाण मारा।

“राजनीति और बालाएँ!” मुझे हँसी आ गई—“रेत से तेल निकालने की बात मत करो, उद्धव!” मैंने देखा, वह अब भी मुझे विचित्र दृष्टि से देख रहा है। मैं पुनः बोला, “राजनीति जिस कठोरता और निष्ठुरता की अपेक्षा करती है, वह बालाओं में नहीं होती।”

इसके बाद वह मौन ही रह गया।

मैंने अब ग्वालों से कहा, “गोकुल का अधिकांश गोधन मथुरा चला जाता है—वह भी कंस के प्रासाद में। जब उससे बचता है तब गोकुल की जनता उसे खरीद पाती है।”

बात सीधी थी, सीधे ढंग से कही गई थी। तीर-सी लगी। सब मेरी मंशा समझ गए।

“हमें गोधन मथुरा नहीं जाने देना चाहिए।” उनमें से एक बोला।

“हमें अपनी ग्वालिनों को समझाना चाहिए।” दूसरे ने कहा।

“क्या समझाओगे कि गोधन बेचने मत जाओ? भला वे मानेंगी!” मैं बोला।

“तब क्या करना चाहिए?”

“आप ही लोग बताइए।”

सब सोच में पड़ गए। उन्हें कोई रास्ता न सूझा। पर मैं तो पहले ही सोचकर बैठा था। गोकुल से दधि और मक्खन ही मथुरा जाता था। दूध को तो कोई ले नहीं जाता था; क्योंकि एक तो ले जाना कठिन और दूसरे, ले जाने पर उसके फटने का भय। गरमियों में तो निश्चित रूप से वह खराब हो जाता था।

मैंने अपनी योजना बताई—“आप लोग अपने घरों का सारा दधि और नवनीत स्वयं खा जाइए।”

“यदि कोई न खाने दे, तो?”

“तो चोरी करके खाइए।” इतना सुनते ही मेरे साथी उछल पड़े। बात उनके मन की थी।

“पर उसके लिए नेता को आगे आना चाहिए।” यह उद्धव नहीं, उसकी नैतिकता बोली थी।

“मैं तैयार हूँ।” मुझे चोरी की अगुआई करना भी स्वीकार करना पड़ा। इस महान् योजना का उद्घाटन मैंने अपने घर से ही आरंभ करने का निश्चय किया।

मैंने श्रीदाम एवं उद्धव को साथ लिया और अपने प्रासाद की ओर चला। शेष साथियों को निर्देश था कि आप लोग यहीं प्रतीक्षा करें। हम सब नवनीत लाते हैं। सब लोग यहीं बैठकर खाएँगे।

कितना विचित्र था, मैं अपनी ही चीज चोरी करने जा रहा था—और अपने घर में ही। परिचरों को आदेश देकर मँगवा सकता था। पर मुझे तो चोरी का शुभारंभ करना था।

हम लोग चुपचाप गोरस के कक्ष में पहुँचे। उस समय संयोग से वहाँ कोई नहीं था। नीचे मटकों में दधि जमाई हुई थी; किंतु नवनीत की छोटी-छोटी मटकियाँ धरन से लटक रहे सिकहरों पर रखी थीं। उन्हें उतारा कैसे जाए? समस्या थी।

श्रीदाम की बुद्धि काम आई। उसने कहा, “मैं नीचे घुटने के बल बैठता हूँ। मेरे ऊपर उद्धव खड़ा हो जाए और तुम उद्धव के कंधे पर खड़े होकर मटकी उतारो।”

ऐसा ही किया गया। सिकहर पर चार मटकियाँ एक के ऊपर एक रखी थीं। संयोग कुछ ऐसा कि ज्यों ही मैंने उद्धव के कंधे पर चढ़कर मटकी पर हाथ लगाया ही था कि उद्धव का पैर लड़खड़ाया और मटकी को लिये मैं नीचे आ गया। सिकहर इतनी तेजी से हिला कि दो मटकियाँ और गिर गईं। केवल एक उसपर झूलती रह गई।

चोट भी लगी थी और नवनीत से हम नहा भी उठे थे। अद्भुत दृश्य था। श्रीदाम की तो हँसी नहीं रुकती थी। सबसे नीचे होने के कारण उसपर नवनीत भी कम गिरा था और उसे चोट भी कम लगी थी; पर हम दोनों की हालत खराब थी। न रोते बनता था और न हँसते। यहाँ से भाग चलने के सिवा कोई रास्ता नहीं था।

पर इस हालत में कोई देखेगा तो क्या कहेगा!

मटकी गिरने की आवाज सुनकर आसपास के परिचर आ गए थे।

“अरे, कन्हैया, यह क्या?”

जो देखता था, उसका मुख खुला रह जाता था। हमारी स्थिति और भी विचित्र हो गई। यशोदा और नंद भी आ पहुँचे। हर व्यक्ति को यही आश्चर्य था कि यदि मक्खन खाना ही था तो कृष्ण को यह सब करने की क्या आवश्यकता थी? मैं क्या उत्तर देता, केवल मुसकराता रहा। ऐसी द्विविधा की स्थिति में मुसकराहट हमारा पहला साथ निभाती थी और बाद में बुद्धि।

लोगों ने समझ लिया कि यह मेरे नटखटपने के सिवा और कुछ नहीं है। मैं शीघ्र ही वहाँ से अपने मित्रों के साथ

पलायित हुआ और उसी रूप में यमुना के तट पर वहाँ आया जहाँ अन्य मित्र मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। मुझे देखते ही वे हँसते-हँसते लोट-पोट हो गए। मेरा शांतभाव उनकी हँसी की पीठ थपथपाता रहा। जब हास्य का यह ज्वार थमा, मैंने रेत के ऊँचे टीले पर खड़े होकर कहा, “मित्रो! मैं इसी रूप में आपके बीच केवल इसलिए नहीं आया कि आप हमें देखकर हँसें, वरन् इस तरह मेरे उपस्थित होने का कुछ और भी कारण है।...यद्यपि आपके आनंदित होने से मैं भी आनंदित होता हूँ; क्योंकि आनंद जीवन की वह उपलब्धि है, जो बड़े भाग्य से मिलती है। हमें स्वयं को भाग्यशाली समझना चाहिए।...और हम उस समय और भी भाग्यशाली होंगे, जब इस आनंद को जीने लगेंगे। अभी तो यह ऊपर से ओढ़ा हुआ आनंद है। इसके लिए हमें वह सब करना होगा, जो मैं अभी करके आया हूँ।” इतना कहकर मैं रुका। मेरी प्रश्नवाचक मुद्रा स्वयं उन्हें कुछ पूछने के लिए विवश करने लगी।

“आप क्या करके आ रहे हैं?” एक आवाज मेरी ओर उछली।

“नवनीत नष्ट करके आ रहा हूँ।”

“इससे क्या लाभ होगा?”

मैं जोर से हँसा। सब मेरा मुख देखते रह गए। जैसे मैंने जो कुछ किया है, सब जानबूझकर किया है। उद्धव ने भी मुसकराते हुए श्रीदाम की ओर देखा—“देखा, अपनी कमजोरी छिपाने के लिए कैसी बातें बना रहा है!”

यह सब देखते हुए भी मेरा व्यक्तित्व अपनी नाटकीयता छोड़ने के पक्ष में नहीं था। मैं और जोर से हँसने लगा। फिर बड़ी गंभीरता से बोला, “जिन वस्तुओं से शत्रुओं को लाभ हो और जिनका उपयोग हम खुद न कर पाएँ, उन्हें नष्ट ही कर देना चाहिए।”

अपने अनुयायियों के बीच यह मेरा पहला राजनीतिक भाषण था। बात मैं कुछ व्यवस्थित ढंग से कह नहीं पाया था; फिर भी मैंने उन्हें समझाया कि मक्खन और दधि वे स्वयं खा जाया करें या उन्हें नष्ट कर दिया करें, जिससे वह मथुरा न जा सके।

आज मैं नवनीत चुराकर खाने का शुभारंभ करना चाहता था; पर शुभारंभ हो गया नवनीत नष्ट करने का। प्रहार किया था शत्रु के दाहिने हाथ पर और कट गया बायाँ हाथ। खैर, कोई बात नहीं। कटा शत्रु का ही हाथ न!

पर बलराम भैया की नैतिकता कह रही थी कि बुरे काम का फल भी बुरा ही होता है। हम चोरी करने गए थे, इसलिए गिरे।

किंतु मेरा कहना था कि कोई कार्य अच्छा या बुरा नहीं होता। अच्छा या बुरा मात्र उद्देश्य होता है। यदि अच्छे उद्देश्य से चोरी भी की जाए, तो भी वह पवित्र कार्य ही होता है।

यह वैचारिक संघर्ष केवल मेरे और बलराम के बीच था। भोलेभाले ग्वालबाल इससे बहुत दूर थे। मैंने उन्हें अच्छी तरह समझा दिया था कि ख़ूब दधि और नवनीत खाओ। यदि कोई ग्वालिन उसे लेकर मथुरा जाती दिखाई पड़े तो मटकी ही फोड़ दो।

फिर क्या था। गोकुल में मटकी फोड़े जाने का एक आंदोलन-सा आरंभ हो गया। जहाँ कोई ग्वालिन मटकी लेकर मथुरा जाते दिखाई देती वहीं उसकी मटकी हमारे ढेले का लक्ष्य बनती। मटकी फूटते ही हम लोग नाचते-गाते उसे घेर लेते। हमारी चेष्टा होती कि उसका क्रोध उल्लास में परिवर्तित कर दिया जाए।

□

धीरे-धीरे मथुरा में गोकुल गाँव का गोरस जाना बंद हो गया। पहले तो नहीं, पर शीघ्र ही नगरीय जीवन ने रस के अभाव का अनुभव किया। उसकी नसें तनने लगीं। जनता सबकुछ शीघ्र ही जान गई; पर कंस को इसका अनुभव

होने नहीं दिया गया। गुप्तचरों ने इसकी जानकारी प्रद्योत को यथासमय दी थी। वह महाराज से कहने ही वाला था कि गर्गाचार्य ने उसे मना कर दिया—“क्या करेंगे इसे कहकर?”

“सूचना है, महाराज के कानों तक पहुँचाना हमारा कर्तव्य है।”

“पर इसे सुनते ही वह भभक पड़ेगा। पागल है ही, और पागल हो जाएगा।” गर्गाचार्य ने कहा, “...और उस पागलपन में उसने आदेश दिया कि सेना भेजकर गोकुल की सारी गायें मथुरा में हँका लावें, तब क्या करोगे?” प्रद्योत सोच में पड़ गया।

“क्या सैनिक कार्यवाही के लिए तुम तैयार हो? क्या यह समय उपयुक्त है?” गर्गाचार्य की बात प्रद्योत के मन में उतर गई। उसने आग पर चादर ही ओढ़ाना ठीक समझा।

इधर पिता नंद को भी मेरी नीति की गंध लग गई थी। उन्होंने हम लोगों से इस संबंध में कुछ नहीं कहा। यदि कोई ग्वालिन शिकायत लेकर आती तो वह बड़े सहजभाव से कहते—“आजकल कन्हैया बड़ा नटखट हो गया है। उसने अपने साथियों का भी मस्तिष्क खराब कर दिया है। खैर, हम देखेंगे!”

उसे कुछ दे-लेकर, समझा-बुझाकर लौटा देते।

उन्होंने यह भी व्यवस्था की कि यदि विवशतावश किसीको अपना गोरस बेचना आवश्यक ही हो, तो उसे खरीद भी लिया जाए।

अब गोकुल के ग्वालबाल मक्खन और गोरस खाकर मस्त रहते। अनेक बातों का विरोधी होते हुए भी मेरी इस नीति का बलदाऊ भैया ने खुलकर समर्थन किया।

अब हमारी गोल पहले से बड़ी हो गई थी। वृंदा के जंगलों में अब हम दिन-दिन भर रह जाते थे। सवेरा होते ही वन तुलसी की गंध जैसे हमें अपनी ओर खींचने लगती थी और हम प्राकृतिक सुषमा भरे उस गोवर्धन की पहाड़ियों में चले जाते थे। भाँति-भाँति के खेल खेलते थे। आखेट भी उनमें एक था। हिंसक पशुओं के शिकार में विशेष आनंद आता।

विचित्र बात होती। मैं लोगों की मानसिकता को क्या कहूँ, जहाँ कोई विशाल हिंसक पशु मारा जाता, वहाँ लोग उसका संबंध किसी-न-किसी राक्षस से जोड़ लेते। इस प्रकार की अफवाहें मुझे अजेय सिद्ध करती गईं।

एक दिन एक विशेष घटना घटी।

हम लोग कुछ अधिक दूर निकल गए थे। गदराए कदंब के वृक्ष, चंपक, केतकी और कुंती के फूलों की मादक सुगंध, टहनियों से लिपटकर झूलती हुई फूली मालती हमें वन प्रकोष्ठ में खींचती चली गई। मध्याह्न हो गया था। जहाँ मुझे थकावट या क्षुधा की अनुभूति होती, मैं वंशी बजाता। गायें मेरी वंशी के प्रति अधिक संवेदनशील थीं। वे झुंड-की-झुंड चली आती थीं। मेरे मित्र पत्तों के दोने बनाते। उन्हींमें दुहते और पी लेते।

मेरे लिए श्रीदाम एक दूसरी युक्ति लगाता। मैं मुख खोलकर थन के पास बैठ जाता। श्रीदाम थन को दुहते समय दूध की धार मेरे मुख में डालता। मैं धारोष्ण दूध ही पीता था। दुहकर रखा या उष्ण किया हुआ दूध मुझे भाता नहीं था।

यह सब चल ही रहा था कि एक गोप दौड़ा हुआ आया।

“अरे, अनर्थ हो गया!” इतना कहते-कहते वह इतना भयभीत दिखा कि वह बोल नहीं पा रहा था।

“भयंकर, भीषण, प्रलयंकर!” ऐसे ही हाहाकारी शब्द उसके मुख से निकल रहे थे। उसने संकेतों से जो कुछ कहा, उसका सीधा अर्थ था कि वन की सघनता के कुछ और भीतर कुछ-न-कुछ जरूर भयंकर है।

मेरे मित्रों ने मेरी ओर देखा। आदेश माँगती उनकी दृष्टि में संदेह और भय का अद्भुत मिश्रण था। अभी लोग

अघवाली घटना भूल नहीं पाए थे। किसी दूसरे षड्यंत्र की भयावह कल्पना उनके लिए सहज थी। मैं भी एक बार घबरा ही गया। पर शीघ्र ही मैंने स्वयं पर नियंत्रण किया और कहा, “आप लोग घबराइए नहीं। सब लोग यहीं एकत्र रहिए। मैं अभी आता हूँ।”

मैं उस भयातुर गोप को लेकर चल पड़ा। उद्धव, बलदाऊ, श्रीदाम आदि अभिन्न मेरे साथ हो लिये। सभी शंकाओं में डूबे। किसी अप्रत्याशित विपत्ति या आक्रमण का सामना करने के लिए तैयार।

देखा गया कि एक विशाल अजगर है। वह खड़ी गाय को निगल रहा है। गाय का पिछला पैर बाहर रह गया है और वह छटपटा रही है।

बलराम क्रोध में अपना हल लेकर आगे बढ़े।

“यह क्या कर रहे हो, भैया?” मैंने उन्हें रोका—“इसके किस अंग पर प्रहार करोगे? और यह कहाँ से मरेगा?”

“इसका मतलब है कि गाय छटपटाती रहे और हम देखते रहें!”

“इसके अतिरिक्त हम इस समय कुछ कर भी नहीं सकते!” मैंने कहा और हम अजगर को बड़े ध्यान से देखते रहे। मैंने अजगरों के संबंध में बहुत सी कहानियाँ सुनी थीं। उसके एक स्थान पर पड़े रहने और हिल-डुल न पाने की रोचक कथाएँ भी मुझे सुनाई गई थीं; पर इतना विशाल अजगर जीवन में पहली बार देखा था।

मित्रों ने सोचा कि मैं किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया हूँ और कोई युक्ति सोच रहा हूँ।

मैंने उनकी निराशा को शीघ्र ही धोते हुए कहा, “यह आज नहीं, कल मारा जाएगा।”

सब चकित-से मुझे देखते रहे। मैंने शीघ्र ही उनकी शंका का समाधान किया।

“यह गायों को निगल चुका है। इसका पेट भर गया है। अब यह आँखें बंद कर कुछ देर सोता रहेगा। अब यह बिल्कुल घातक नहीं है। तब तक हम लोगों को पेड़ों को काटकर बड़े-बड़े कुंदे, विशाल शिलाखंड और विषैली घासों का ढेर इसके मुख के समक्ष लगाना चाहिए।”

किसी प्रकार की शंका किए बिना लोगों ने मेरे आदेश का पालन करना आरंभ कर दिया; क्योंकि यह आदेश किसी अधिनायक का नहीं था वरन् एक ऐसे नायक का था, जिसे वे अपना परम हितैषी समझते थे और जिसपर नियति ने ईश्वरत्व का पानी भी चढ़ा दिया था।

संध्या तक सबकुछ वहाँ इकट्ठा हो गया। एक पहाड़-सा लग गया। अब भी अजगर सो रहा था।

“यह कल तक ऐसे ही पड़ा रहेगा।” मैंने कहा, “जानते हो, अजगर आठ याम में एक ही बार पेट भरता है और फिर पड़ा रहता है।” इसी क्रम में मैंने उन्हें बताया कि कल पूर्वाह्न के बाद ही यह अपना मुँह खोलेगा। इस समय हमें चलना चाहिए।

दिन तो डूबने लगा था, हम लोग लौट पड़े। एक दुःस्वप्न की तरह हमारी आँखों में छाई रही—उस अजगर की विशालता, उसके मुख में प्रवेश करती गाय की छटपटाहट।

दूसरे दिन एक घड़ी दिन चढ़ते-चढ़ते हम वहाँ पहुँच चुके थे। इस बार और सारे लोग हमारे साथ हो गए थे। सबमें कुतूहल था, जिज्ञासा थी। सब देखना चाहते थे उस विशाल अजगर के अंत को; यद्यपि मैंने किसीसे कुछ नहीं कहा था।

अभी भी अजगर वहीं पड़ा था। तिल भर हिला-डुला नहीं था। हिलना उस विशालकाय के लिए संभव भी नहीं था। मैंने देखा, अब वह अपनी आँखें खोलकर गरदन हिला रहा था। फिर अचानक उसकी साँसें कुछ तेज हुईं। साँसों की तेजी से आसपास की वनस्पतियाँ झकझोर उठीं। मैंने अपने मित्रों से कहा, “सावधान हो जाइए, अब अजगर मुँह खोलने वाला है। जैसे ही यह अजगर मुँह खोले, इकट्ठा किए लकड़ी के कुंदे, शिलाखंड, विषैली

घास आप इसके मुँह में झोंकते जाइए और अपने को बचाए रखिए।”

और हुआ भी ऐसा ही। उसके मुँह खोलते ही लोगों ने झोंकना आरंभ किया; किंतु यह सबकुछ कितना भयानक था। उसकी साँस इतनी तेज थी कि आसपास के लोग यों ही खिंचे चले आ रहे थे। यदि मैंने पहले सावधान न कर दिया होता तो दो-एक जानें अवश्य चली जातीं। पर इतनी सतर्कता और इतनी क्षिप्रता से लोगों ने उसके मुख में फेंकना शुरू किया कि वह स्वयं घबरा गया होगा। उसकी साँसें धीरे-धीरे मंद पड़ती गईं। उसका मुख अनेक स्थलों पर कुचल गया। कहीं-कहीं से तो रक्त भी निकलने लगा।

बहुत से कुंदे और शिलाखंड तो वह निगल भी नहीं पाया। उसकी ग्रीवा कुछ फूली भी लगने लगी। मैंने समझ लिया कि यह मुसीबत में है। उसकी खुली आँखों से क्रोध झलक रहा था; पर अब वह कर क्या सकता था। निरुपाय था।

दूसरे दिन प्रातः हम सब वहाँ फिर आए। अब वहाँ अजगर नहीं, अजगर का शव था। आसपास बहुत दूर तक की घास रौंदी और दबी-दबी दिखाई पड़ रही थी। स्पष्ट ज्ञात हो रहा था कि मरते समय यह कितना छटपटाया होगा।

□

लगता है, इस घटना का समाचार भी मथुरा पहुँचा और इस अजगर के साथ ही एक राक्षस का व्यक्तित्व जड़ दिया गया। मेरी पराक्रम और संगठनात्मक प्रतिभा के आतंक ने एक बार फिर राजप्रासाद को धक्का दिया। देवकी के आठवें पुत्र होने में मेरे प्रति कंस का विश्वास दृढ़ होता गया।

उसने प्रद्योत से कहा, “सुना है, वृंदावन में कोई अजगर मारा गया?”

“जी महाराज, मैंने भी सुना है।”

“क्या सुना है?” कंस बड़े जोर से आक्रोश में उछलते हुए बोला।

स्पष्ट लगा कि उसका मानसिक संतुलन अत्यधिक गड़बड़ा चुका है। फिर वह पागलों-सा बड़बड़ाया—“कहीं अजगर भी मारा जा सकता है! यह सब झूठ है, बिल्कुल झूठ। अजगर अपनी मौत से मरा है, अपनी मौत से; क्योंकि हर अजगर अपनी मौत से मरता है। जैसे मैं मरूँगा, जैसे तुम मरोगे, जैसे तुम्हारे बच्चे मारे गए, जैसे महादेवी मारी गई। तुम क्या सोचते हो कि महादेवी को मैंने भेजा था, इसलिए मरी? अरे, उसे मरना था, इसलिए मैंने भेजा था।” कंस बड़बड़ाता रहा—“मैंने तो सुवासिनी को भी कहीं नहीं भेजा, तुम्हारे बच्चों को भी कहीं नहीं भेजा; पर सबके सब मारे गए।”

कंस के पागलपन ने प्रद्योत को भी पागल बना दिया। रह-रहकर उसके कानों में उसके बच्चों और सुवासिनी के मारे जाने की आवाजें बराबर गूँजती रहीं।

सुना है, उस दिन वह प्रासाद में अधिक देर तक टिक नहीं पाया। अपने आवास के एकांत प्रकोष्ठ में उसकी व्यग्रता छटपटाती रही।

‘क्या सचमुच सब मारे गए? यदि ऐसा होता तो मुझे कहीं-न-कहीं से अवश्य सूचना मिलती।...पर यह सूचना ही तो मिली है, कहीं और से न मिलकर सीधे महाराज से मिली है।’ वह सोचता रहा, सोचता रहा।

रात्रि के अंधकार में उसे कई आकृतियाँ उभरती ज्ञात हुई—सुवासिनी की, महादेवी की, अपने प्यारे बच्चों की। उसे सुनाई पड़ने लगा—हम सबके सब मारे गए और तुम जीवित हो! आखिर किसलिए? महामात्य के गौरवशाली पद की अहंता भोगने के लिए? एक अत्याचारी की चाकरी के लिए? महत्वाकांक्षाओं की स्वप्निल संतुष्टि के लिए? प्रश्नों पर प्रश्न टकराते रहे। प्रद्योत को ऐसा लगा मानो लगातार कोई मस्तिष्क में हथौड़े चला रहा है। वह

दोनों हाथों से सिर दबाकर पर्यंक पर दुलक गया। प्रासाद के सिंहद्वार पर रात्रि के मध्यांतर के घंटे सुनाई पड़े।

प्रद्योत को नींद कब आ गई, उसे नहीं मालूम। किंतु जब आँखें खुलीं, मंदिरों में ब्राह्म मुहूर्त की आरती के घंटे-घड़ियाल की ध्वनि कानों से टकराती हुई शेल की तरह चुभने लगी थी। आज उसने पहली बार अनुभव किया कि कंस ने किस मनःस्थिति में अपने प्रासाद के निकट के मंदिरों की प्रातःकालीन आरती का मुँह बंद कर दिया था।

वह व्यग्रता में उठकर अपने कक्ष में ही टहलने लगा। उसने वातायन से देखा, प्राची के आकाश में शुक्र उसकी निरीहता पर मुसकरा रहा है।

सचमुच मैं निरीह हूँ। बंधनहीन होकर भी मैं अपनी अभीप्सा के पींजर में ही पड़ा हूँ। नहीं-नहीं, ऐसा नहीं है। जब महादेवी आत्महत्या कर सकती है तब मेरी महत्वाकांक्षा भी आत्महत्या कर सकती है। आकांक्षा की आत्महत्या ही संन्यास है।

“संन्यस्तं मया, संन्यस्तं मया—मैंने छोड़ दिया, मैंने छोड़ दिया।” कहता हुआ प्रद्योत अचानक अपने आवास से निकल पड़ा। द्वारपाल उसकी इस स्थिति को अवाक् देखता रहा।

मुझे गर्गाचार्य ने बताया कि प्रद्योत जब उनके घर पहुँचा तब पसीने-पसीने हो चुका था। ‘संन्यस्तं मया, संन्यस्तं मया’ बराबर रट रहा था। पहले वे भी चकित थे कि क्या हो गया प्रद्योत को! तब तक वह उनके चरणों पर गिर पड़ा था। उन्होंने उसे उठाया। वह लगभग लड़खड़ा रहा था। उसे सहारा देकर वे शयनकक्ष में ले आए। तब तक आचार्य का विवेक उसकी व्यग्रता की गंभीरता का अनुमान लगा चुका था। उसे पर्यंक पर लिटा दिया गया।

“मैंने सबकुछ छोड़ दिया, आचार्य!” उसने करवट बदलते हुए कहा।

फिर संपूर्ण व्याकुलता द्रवित होकर आँखों से बह निकली। वह बिलखते हुए बोला, “जिसकी स्त्री मारी गई, जिसका पुत्र मारा गया और सुवासिनी भी नहीं रही, उसका अब क्या रह गया है संसार में!” फिर वह वही रट लगाने लगा—“संन्यस्तं मया, संन्यस्तं मया—मैंने छोड़ दिया, मैंने छोड़ दिया।”

आचार्य ने उसके सिर पर हाथ फेरते हुए बड़ी शांति से पूछा, “क्या छोड़ दिया?”

“संसार को।”

“तुम अपनी व्यग्रता तो छोड़ ही नहीं सके, तब संसार को क्या छोड़ोगे? संसार को छोड़ने के लिए बड़ी शांति चाहिए, महामात्य!” आचार्यजी और स्नेह से उसका सिर सहलाते हुए बोलते रहे—“व्यग्रता से संसार छोड़ने का तात्पर्य है संसार से भागना। क्या भागना और छोड़ना एक ही वस्तु है? क्या भागना और छोड़ देना एक ही स्थिति है? जलते हुए वस्त्र को शरीर से नोचकर फेंक देना और शीतल जल में स्नान हेतु वस्त्र को उतारकर रख देना क्या एक ही क्रिया है?...जलते हुए वस्त्र को नोचकर जितना फेंकोगे, आग तुम्हारे पीछे उतना ही दौड़ेगी। तुम संसार से भागने की जितनी चेष्टा करोगे, संसार उतनी ही तेजी से तुम्हें पकड़ता दिखाई देगा।”

इतना सुनने के बाद प्रद्योत का ज्वार कुछ थमा। आचार्यजी उसका सिर सहलाते हुए अब शांति पाठ करने लगे थे। सुना है, रात भर के छटपटाते प्रद्योत की आँखें इसके बाद लग गई थीं।

अभी तक आचार्यजी प्रद्योत की व्यग्रता का पूरा संदर्भ समझ नहीं पाए थे। दिन का प्रथम प्रहर बीतने को था, जब उसकी आँखें खुलीं। वह चुपचाप पर्यंक पर ही तकिए के सहारे बैठ गया। उसकी आकृति से स्पष्ट लगा कि आवेग की बाढ़ उतर चुकी है। उसने उष्ण दुग्ध पात्र ग्रहण करते हुए सारा संदर्भ बताया।

आचार्यजी हँसने लगे—“जो अपना अंत स्वयं निकट आता देख रहा हो, वह तुम्हारे अंत के बारे में बताने लगा और तुमने विश्वास कर लिया!” आचार्यजी बोलते जा रहे थे—“मृत्यु के द्वार पर खड़े व्यक्ति को सारा संसार मरा हुआ दिखाई देता है। कंस के लिए तो हम सब मरने वाले हैं। केवल एक वही अमर होकर आया है।...और स्थिति

एकदम इससे उलटी है।” इसी प्रसंग में उन्होंने यह भी बताया कि सुवासिनी और तुम्हारे दोनों बच्चे जीवित हैं, प्रसन्न हैं।

“सच!” प्रद्योत का दुःस्वप्न एक तारे की तरह टूटकर बिखर गया। उसे आशा का नूतन प्रकाश दिखाई दिया।

“क्या उनसे मैं मिल सकता हूँ?” उसने पूछा।

“किसलिए? क्या सचमुच उन्हें मृत्यु के द्वार पर खड़ा करने के लिए?” आचार्यजी की दृष्टि में एक रहस्यमय मुसकराहट थी।

“किंतु आप एक पिता के हृदय को समझिए।”

“इसको भी समझो कि तुम एक सामान्य पिता ही नहीं, महामात्य भी हो; बल्कि महामात्य ही हो। तुम्हारा पितृव्य शांत ज्वालामुखी की तरह राजकीय परवशता की हरियाली ओढ़ चुका है।”

“आखिर यह स्थिति कब तक रहेगी?”

“यह तो कोई ज्योतिषी ही बता सकता है, या वह...” आचार्यजी कुछ सोचते हुए रुक गए।

“वह कौन?” प्रद्योत का कुतूहल मौन न रह सका।

आचार्यजी ने धीरे से कहा, “छंदक।”

अब प्रद्योत की दृष्टि नाटक से हटकर उसके सूत्रधार को खोजने लगी थी। उसका विवेक कुतूहल के गहवर में डूबता चला जा रहा था; मानो वह जानना चाहता हो कि देवकी का आठवाँ बेटा है कौन—छंदक या कृष्ण?

□

छंदक नियति का पुष्प है और मैं नियति की सुरभि। छंदक मुद्रा का एक पक्ष है, सिक्के का एक पहलू है और मैं दूसरा। हम दोनों के घिस या मिट जाने के बाद भी सिक्के का अस्तित्व मात्र एक अंश को ही प्रभावित करेगा। हमें इतिहास नहीं, इतिहास का एक अध्याय बनने के लिए भी बहुत कुछ करना पड़ेगा।...यह सब जानते हुए भी मैं यह मानने लगा था कि नियति की दृष्टि मेरे अनुकूल है, अन्यथा राधा ने मुझे इतना मना किया, मैं उस विषमद में कभी न कूदता।

बात यह हुई कि वृंदावन से कुछ दूर एक निर्जन स्थान में एक जहरीला कुंड था। मात्र वर्षाकाल में ही भरता था। शेष आठ महीने उसमें काई जमी रहती। वह लगभग सूखा रहता। फटी बिवाइयों की तरह उसके किनारे दरारों से भरे थे। उसमें विषैले साँपों का एक पूरा परिवार रहता था। मुझको उससे क्या लेना-देना था। उस जंगल की ओर जाते भी बहुत कम लोग थे।

जब बरसात में वह भरता था तब पानी नीला हो जाता था। कुछ तो काई से और कुछ उन साँपों के विष से। सुना था, पानी में रहने से साँप का विष हलका हो जाता है; पर वहाँ की एकदम विपरीत स्थिति थी। पूरा जल कालकूट लगता था। एकदम नीला-नीला। इसीलिए उस विषैले नाग का नाम भी लोगों ने ‘कालिय’ रख दिया था।

अफवाह तो यहाँ तक उड़ी थी कि उस दह का जल कंठ के नीचे उतरते ही प्राण-पखेरू उड़ जाते हैं। कई गायें उस कालीदह के किनारे मरी पाई गई थीं। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि उन गायों को साँपों ने निकलकर काटा हो; क्योंकि किसी मनुष्य की मृत्यु का कारण अभी तक वह कालीदह नहीं बना था। पर कौन उस जल को चखे और उसके विषाक्त होने और न होने का प्रमाणपत्र दे? फिर अफवाह तो अफवाह, अरण्याग्नि की तरह धुआँ उगलती और बढ़ती रही।

एक दिन जब हम लोग खेल रहे थे तब अचानक एक आवाज मेरे कानों से टकराई—“तुमने अनेक असाध्य साध्य कर दिखाए हैं। क्या तुम उस कालिय का वध नहीं कर सकते? कितने जीवों की वह जान ले चुका है!”

किसने कहा, ज्ञात नहीं। उस समय तो मैंने ध्यान भी नहीं दिया, पर बाद में बहुत जानने की चेष्टा की; कुछ पता नहीं चला।

अब व्यक्ति नहीं, केवल आवाज रह गई थी। लगातार चक्कर काटती हुई आवाज, आवर्तन-प्रत्यावर्तन के बाद निरंतर बढ़ती हुई आवाज। मुझे लगने लगा था कि यह चुनौती किसी एक की ओर से नहीं, पूरे वृंदावन की ओर से दी गई है। मेरा मन निरंतर उलझता चला गया। चुनौती हो और उसे मैं स्वीकार न करूँ, यह कैसे हो सकता है!

मैंने सुना भी था और देखा भी था कि साँप चक्षुश्रवा होता है। उसपर संगीत का भी प्रभाव पड़ता है। अब मैं बिना किसीसे कुछ कहे, बिना साथियों को लिये उस नद के पास वंशी और चक्र लेकर पहुँच जाता। सोचता, ज्यों ही वह स्वर जाल में फँसकर सिर निकालेगा, चक्र से उसके दो टुकड़े कर दूँगा।

मैं प्रहर-प्रहर तक वंशी बजाया करता; पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। फिर भी मुझे विश्वास था कि यह संगीत की असफलता नहीं है वरन् मेरे वादन की कमी है। मुझे उस राग और धुन की जानकारी नहीं है, जो साँपों को मोह लेती है। मैं अँधेरे में ढेला मारता रहा, पर आचार्य श्रुतिकेतु से इस संदर्भ में पूछने का साहस न हुआ; क्योंकि बात खुलने का डर था। निश्चित ही यदि लोग जान जाते कि मैं कालिय वध करना चाहता हूँ, तो लोग ऐसा करने न देते।

मैंने लगभग दो प्रहर वंशी बजाते और युक्ति सोचते हुए उस दह के किनारे बिता दिया; क्योंकि आज मुझे कुछ सफलता दिखाई पड़ रही थी। मैंने देखा, वह महानाग जल में तैरते हुए मेरी वंशी की धुन सुन रहा है। कितना भयानक और कितना अद्भुत यह कई फनोंवाला सर्प था! मैंने तो ऐसा सर्प कभी देखा तक न था।

सफलता से सफलता की संभावना अधिक मोहक और आकर्षक होती है। इसी आकर्षण में प्रहर पर प्रहर बीतते गए—बिना कुछ खाए, बिना कुछ पिए। संध्या घिरने को आई, पर मैं नहीं आया। ब्रज में तहलका मच गया। माता-पिता भी व्यग्र हुए। उन्होंने खोजने के लिए परिचर दौड़ाए।

राधा सबसे अधिक व्याकुल हुई। ममत्व का घनत्व आशंकाओं की ओर अधिक ढुलकता है। राधा को भी आशंकाओं ने ही घेर लिया। कहीं कंस की किसी चाल ने तो उसे नहीं फँसा लिया। पहले वह ललिता के यहाँ दौड़ी, वहाँ भी मैं नहीं; फिर विशाखा के यहाँ गई, वहाँ भी मैं नहीं। तब तो अवश्य ही कोई बात है। ब्रज में तो लोग दौड़ ही रहे थे, वह बेतहाशा वृंदाविपिन की ओर भागी।

भटकते-भटकते उसे मेरी वंशी के सुर की मंद डोर मिल गई। बस उसीको पकड़कर वह मेरी ओर बढ़ती चली। और आते ही उसने पीछे से वंशी एकदम छीन ली—“यहाँ क्या कर रहे हो?” इतना तेज बोली कि पहले तो मैं चौंक ही पड़ा। पर वह बोलती ही गई—“आज सुबह से निकले हो और अभी तक तुम्हारा कहीं पता नहीं। लोग घबरा रहे हैं और तुम वंशी बजा रहे हो!”

उसकी व्यग्रता और क्रोध का पहला उफान मैं चुपचाप सह गया।

“क्या कर रहे थे यहाँ?” उसने पुनः पूछा।

“देख तो रही हो, वंशी बजा रहा था।”

“किसे सुना रहे थे?”

“महाकाल को।”

“महाकाल को!” वह मेरा मुँह देखती रह गई। निश्चित रूप से वह मुझे समझ नहीं पाई।

मैंने स्वयं को और खोला—“अभी तक मैंने महाकाल के वाहन को अपनी वंशी सुनाई थी। अब स्वयं महाकाल को सुना रहा हूँ।”

फिर भी मेरे संदर्भ तक वह पहुँच नहीं पाई। शायद वह कालीदह को जानती न रही हो। सुना अवश्य था, पर उसे विश्वास नहीं था कि यही कालीदह है। जब मैंने विस्तार से सुनाया और बताया कि उस हस्तिन् को बाँधने के बाद अब मैं इस दह के कालिय नाग को बाँधना चाहता हूँ, तो वह एकदम काँप उठी। आप विश्वास मानिए, यदि मैंने उसे सँभाला न होता तो वह काँपकर गिर जाती। दोनों हाथों से मैं उसे पकड़े था और वह बड़बड़ाती जा रही थी —“पागल हुए हो, मृत्यु के मुख में जाने के पहले तुमने कभी सोचा है, तुम्हारे माता-पिता का क्या होगा? ब्रज का क्या होगा? मथुरा के उन लोगों का क्या होगा, जो तुमपर ‘आस’ लगाए बैठे हैं?”

“मैंने यह नहीं सोचा है वरन् यह सोचा है कि तुम्हारा क्या होगा!” मैंने मुसकराते हुए कहा, “हम दोनों हँसते हुए मृत्यु के मुख में जाएँगे।”

फिर मैं उससे एकदम लिपट गया। मैंने उस सन्नाटे का पूरा लाभ उठाना चाहा। पर वह मेरा हाथ पकड़कर खींचती हुई भाग चली और फिर उस विपिन के बाहर आकर ही उसने दम लिया।

“देखो, अब मैं तुमसे नहीं बोलूँगी।” उसने बड़ी नाराजगी से कहा, “तुम अपने मन के होते जा रहे हो। किसीकी बात नहीं मानते।”

“तुम्हारी तो मानता हूँ।” मैं फिर मुसकराया।

“यदि मेरी बात मानते हो तो तुम उस दह के पास मत जाना।” दह का नाम लेते ही उसके नेत्र ऐसे विस्फारित हो जाते थे जैसे वह साक्षात् मृत्यु का दर्शन कर रही हो। इतनी डरी-डरी मुझे राधा उस हस्तिन् पर चढ़ते समय भी नहीं लगी थी।

“तुम्हारी बात तो मैं जरूर मानता, राधा; पर तुम मेरी प्रकृति तो जानती ही हो। कोई मुझे चुनौती देकर निकल जाए, यह नहीं हो सकता। एक बार साक्षात् काल भी यदि दे, तो भी मैं उसका सामना करूँगा।”

“आखिर तुम्हें चुनौती दी किसने?”

“यही तो मैं नहीं जानता। दो-तीन दिन हुए, मैं अपने मित्रों के बीच था कि उस दह के संदर्भ में किसीने लगती बात कही। मुझे लगा जैसे किसीने मुझे ललकारा है।”

“फिर भी तुम उसे नहीं जानते?”

“यही तो आश्चर्य है।”

“यह आश्चर्य नहीं, मैं समझती हूँ।” वह गंभीर हो गई—“अवश्य इसमें रहस्य है।” फिर सारा क्रोध और विस्मय उसकी आँखों से पिघलकर बहने लगा। उसने सिसकते हुए बताया—“मुझे तो लगता है कि इस रहस्य में मथुरा के राजप्रासाद का हाथ है। तुम्हारी प्रकृति और तुम्हारे हठ को सभी जान गए हैं। उन्होंने कुछ ऐसा किया है कि तुम कालीदह के महाकाल से भिड़ जाओ। फिर न रहेगा बाँस और न बजेगी बाँसुरी।”

“बाँस रहे चाहे न रहे, पर बाँसुरी बजती रहेगी।” उसके हाथों से छीनकर मैं बाँसुरी बजाने लगा। “बाँस तो नश्वर है, पर बाँस से निकली यह ध्वनि अनश्वर है, शाश्वत है। यह अदृश्य हो जाएगी, फिर भी गूँजती रहेगी।”

राधा अवाक् रह गई कि मैं क्या कह रहा हूँ; पर मैं किसी आंतरिक आवेग में कहता गया—“शरीर नष्ट हो जाएगा, राधा, पर आत्मा तो अमर है। मेरी वंशी की धुन अमर है। वंशी नष्ट हो सकती है। उसे होना ही है।”

आप विश्वास नहीं करेंगे, उस समय मेरी अवस्था केवल पंद्रह वर्ष की थी। अब मुझे लगता है, उस समय मैं नहीं बोला था, मेरे भीतर बैठा ‘गीता’ का निर्माता बोला था—‘न हन्यते हन्यमाने शरीरे’।

विलंब की मुझे अनुभूति हो चली थी। मुझे प्रासाद में लौटने की जल्दी थी। बस एक ही संदेह मेरे मन में था। राधा निश्चय ही लोगों से इसकी चर्चा करेगी, तब पूरा ब्रज मुझे रोकने की चेष्टा करेगा; लेकिन मैं क्या कर सकता

था। राधा को कुछ समझाने का मतलब था, आग को और अधिक भड़काना। मैं उसे फुसलाता, बहलाता चला आ रहा था।

जो भी मुझे देखता, वह संतोष की साँस लेता था; क्योंकि सबके लिए मैं खो गया था। आशंकाओं के मेघ से निकलता मैं संध्या का चंद्रमा सबके आकर्षण का केंद्र था। मेरे मित्र जहाँ विस्मय से पूछते—‘कहाँ थे, मित्र?’ वहीं कोई-कोई व्यंग्य भी करता—‘राधा के साथ एकांतवास कर रहा था!’

प्रासाद में पहुँचने पर माँ यशोदा झुँझलाई भी और प्रसन्न भी हुई; पर पिता नंद की दृष्टि निरपेक्ष रही। वे मुझे देखने के बाद भी आचार्य श्रुतिकेतु से बात ही कर रहे थे। प्रतिक्रियाहीन मुद्रा ढकी अग्नि की तरह घातक होती है। मुझे चिंता हुई। संध्या का ब्यालू करने के बाद मैं पिताजी के कक्ष की ओर गया। भीतर अब भी उनकी आचार्य से बातें चल रही थीं। आश्चर्य था कि मेरे आने के पहले कालीदह का समाचार उन तक चला आया था।

“डर केवल मथुरा के षड्यंत्र का है।”

“और यदि षड्यंत्र भी होगा तो हम क्या कर सकते हैं?” आचार्यजी गंभीर थे।

“बुद्धि तो कहती है कि चिंता की कोई बात नहीं। और चिंता करके मैं करूँगा भी क्या?” पिता नंद ने कहा, “फिर भी जहाँ कन्हैया के लौटने में विलंब हुआ कि मन घबराने लगता है। मैं बुद्धि और मन में संतुलन नहीं बिठा पाता, आचार्यजी!”

“यही तो सबसे कठिन काम है, राजन्!” आचार्य श्रुतिकेतु बोले, “बुद्धि चिंतनप्रधान है, तर्कप्रधान है और मन भावनाप्रधान। चिंतन और भाव का संतुलन एक कठिन योग है। इस योग के साधन का तात्पर्य है संन्यस्थ हो जाना।”

“इसी घबराहट में तो मैंने आपको बुलाया। जब मैंने सुना कि वह वंशी और चक्र लेकर कालीदह की ओर गया है, तब तो मेरा पसीना छूटने लगा। मैंने यशोदा से भी नहीं कहा। वह तो और भी व्यग्र हो जाती। किसीसे कुछ कहने से लाभ भी क्या था! मैंने बस आपका आश्रय लिया, बड़ी शांति मिली।”

“शांति किसीसे मिलती नहीं, राजन्, वह तो स्वयं अपने भीतर रहती है। केवल उसको देखने की दृष्टि मिलती है।” आचार्यजी बड़ी गंभीरता से मुसकराए—“यदि वह दृष्टि खुल जाए तो न कहीं अशांति है और न कहीं शांति! मनुष्य अपने में प्रकृतिस्थ हो जाए।...अब आप ही समझिए, आप क्या करेंगे व्यग्र होकर? कुछ भी आपके हाथ में है? एक के बाद एक घटनेवाली हर घटना हमारे हाथ के बाहर थी। आपने कन्हैया को बुलाया था नहीं, फिर भी वह कहाँ पैदा हुआ और आपके यहाँ आ गया। फिर पूतना, अघ, बक, तृणावर्त आदि के वध! इन सबमें हमारी क्या भूमिका रही है? हम मात्र नियति के सापेक्ष द्रष्टा रहे हैं। यह हमारी सापेक्षता ही हममें घबराहट और व्यग्रता पैदा करती है। जहाँ हम नियति के निरपेक्ष द्रष्टा हुए वहाँ यह सबकुछ मेरे लिए इस महोदधि की तरह हो जाएगा, जिसकी लहरें अपने में ही घात-प्रतिघात करती और बनती-बिगड़ती रहेंगी और हम चुपचाप उसके किनारे बैठे रहेंगे।”

मैं कक्ष में नहीं गया। मैं बाहर से ही उन्हें सुनता रहा। सोचता रहा, क्या सचमुच मैं संसार सागर का घात-प्रतिघात सहनेवाला एक उत्सव मात्र हूँ या और कुछ?

□

जिस बंधन का मुझे सबसे अधिक डर था, अब वही टूट चुका था। अब नंदकी ओर से कोई रुकावट नहीं थी; पर माता की ममता रेत के पहाड़ की तरह मेरे सामने खड़ी हो जाती थी, जिसमें सेंध लगाकर मेरी बाल चपलता सरलता से निकल सकती थी; पर जिससे निकल पाने के लिए उसे बड़ी संकल्प शक्ति जुटानी पड़ती थी।

पिछली रात मैं कालिय नाग के ही संबंध में सोचता रहा। जब तक नींद नहीं आई, वातायन से हर हवा का झोंका मुझे उसकी फुफकार ही लगती। वह कालिय फुफकारता रहे और मैं पड़ा रहूँ? यह नहीं हो सकता, यह नहीं हो सकता। मेरी अस्मिता को ललकारकर कोई निकल जाए, यह नहीं हो सकता।

अभी प्रभात नहीं हुआ था। मैंने वंशी एवं चक्र लिया और प्रासाद से चुपचाप निकल चला। सीधे मेघज के घर गया। अभी झुटपुटा ही था। वह बूढ़ा हाथ में जल का पात्र लिये नित्यकर्म के लिए निकल रहा था कि मुझे देखते ही ठिठक गया। अचानक और अप्रत्याशित मेरी उपस्थिति से उसके विस्फारित नेत्र स्वप्न और सत्य में अंतर नहीं कर पाए।

“आप मुझे देखकर घबरा गए क्या?” मैं मुसकराया—“मैं एक विशेष प्रयोजन से आया हूँ।” मैंने कहा।

“मुझसे क्या प्रयोजन हो सकता है, कन्हैया?” वह एकदम विह्वल था अपनी सेवा अर्पित करने के लिए।

जब मैंने उसे बताया कि मुझे मछली फँसानेवाला काँटा चाहिए, तो वह और भी चकित हो गया—“अरे, तू क्या करेगा उसका?”

“क्या किया जाता है उसका?”

वस्तुतः जब मैं कुछ बताने की स्थिति में नहीं रहता तब मैं अपनी लाचारी पर मुसकराहट ओढ़ा देता। इस समय भी मैंने ऐसा ही किया। उसकी सहज मानसिकता मेरी मुसकराहट में रहस्य खोजती हुई उलझ गई। पहले वह जाल ले आया।

“नहीं-नहीं, मुझे यह नहीं चाहिए।” फिर मैंने उसे विस्तार से बताया—“वह लोहे की काँटे लगी पतली डोरवाली वस्तु।”

“अच्छा, तो तुझे बंसी चाहिए। बाँस की वंशी बजानेवाला मछली फँसाने की बंसी लेकर क्या करेगा?”

“आज उसकी ही आवश्यकता है।” मैंने कहा। और फिर उसने छोटी-बड़ी बहुत सारी बंसियाँ लाकर सामने रख दीं—“लो, इनमें से जो लेना हो, छोट लो।”

मैंने उनमें से तीन-चार छाँटीं और उनके ऊपर लगी लकड़ी को हटाकर उन्हें अपने कटिबंध में ऐसा बाँधा कि आवश्यकता पर सरलता से खोला जा सके।

मेघज बड़े ध्यान से देखता रहा।

“इनका क्या करोगे, कन्हैया?” उसने पुनः जिज्ञासा की।

“यह तो मैं नहीं जानता; किंतु संभावना इतनी अवश्य है कि शायद इनका उपयोग करना पड़ जाए।” मैंने कहा।

वह कुछ सोचते हुए हँसा। फिर बोला, “न तो तेरी बात मेरे समझ में आती है और न कभी तू मेरी समझ में आएगा। मेरे योग्य कोई काम हो तो मैं भी चलूँ।”

“नहीं, अभी तो कोई जरूरत नहीं है। यदि आवश्यकता हुई तो ले लूँगा।”

मैं वहाँ से चल पड़ा और एक तीर की तरह छूटा—सीधे कालीदह की ओर। अकेला, निःसंग; पर उत्साह से भरा हुआ।

कालीदह के निकट आकर देखा, राधा वहाँ पहले से ही उपस्थित है—एक शिलाखंड पर बैठी दह के गहरे नीलवर्णी जल को देखती हुई, बिल्कुल मूर्तिवत्। वह मुझे देखकर न हिली, न बोली। मात्र उसके विस्फारित नेत्र मुझपर बरसते रहे।

“आखिर तुम सवेरे-सवेरे आ ही गई।” मैंने उसका कंधा हिलाया।

“तुम भी तो आ गए।” उसका भीगा और रुआँसा स्वर मेरे हठ के समक्ष पराजय का अनुभव करता मालूम हुआ।

“मैं जानती थी कि तुम मेरी बात मानोगे नहीं और अवश्य आओगे।”

“और अब क्या जानती हो?” मैंने मुसकराते हुए पूछा।

“यही कि तुम इस कालीदह में अवश्य छलाँग लगाओगे।” फिर वह अचानक काँप उठी—“मैंने उसे देखा था, वह जल की सतह पर आया था। बाप रे बाप! कई फनोंवाला वह नाग है। मैंने तो ऐसा विषधर देखा ही नहीं।”

“तुमने मेरे जैसा कृष्ण भी कभी देखा था?” और मैं ठहाका मारकर हँसा। निश्चित रूप से मेरी यह हँसी बनावटी थी—उसकी मानसिकता को झकझोरने के लिए; पर उसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह ज्यों-की-त्यों बैठी रही; जैसे किसी साधना में रत हो।

मैंने उसे समझाने की कोशिश की—“प्रकृति ने हम सबको एक-दूसरे से भिन्न बनाया है। इधर धरती पर न कोई दूसरा कृष्ण होगा और न कोई दूसरी राधा—और न कोई दूसरा ऐसा विषधर।”

“यह तो ठीक है; पर कोई एक मुँह के स्थान पर दस मुँह का व्यक्ति दिखाई दे, तब तुम क्या कहोगे?”

“उसे रावण कहूँगा।” मेरी अपनी सहज मुसकराहट अधरों पर बनी रही।

“तो यह विषधरों में रावण ही है। मैं एक बार फिर तुमसे विनती करती हूँ, कन्हैया, कि इसके चक्कर में मत पड़ो।” इस बार राधा का गिड़गिड़ाना सचमुच मार्मिक था—“निश्चित रूप से तुम्हें दी गई चुनौती के पीछे कोई षड्यंत्र है।”

‘षड्यंत्र और चुनौती!’ मेरा स्वर एकदम बदला—“षड्यंत्र और चुनौती का कोई संबंध नहीं, राधा। षड्यंत्र के मूल में विनाश की भावना होती है और चुनौती के मूल में पौरुष की परीक्षा की। क्या मुझे जब हस्तिन् के बाँधने की चुनौती दी गई थी तो चुनौती देनेवाले मेरा विनाश चाहते थे? तुमने भी तो उस चुनौती पर एक चुनौती और जड़ दी थी कि यदि उसपर सवारी करनी है तो मुझे भी साथ लेकर करनी पड़ेगी। क्या तू मेरा विनाश चाहती थी?” राधा मौन हो गई।

“मुझे किसी व्यक्ति ने नहीं, उन जीवों की तृपित आत्माओं ने चुनौती दी है, जिन्होंने इस दह का पानी पीते ही छटपटाते हुए दम तोड़ दिए हैं। क्या उनकी चुनौतियों के पीछे कोई षड्यंत्र हो सकता है?”

राधा अब भी चुप थी। मुझे देखती रही। फिर अचानक बोली, “मैं एक विनती करना चाहती हूँ, तुम उसे चुनौती मत समझना।”

“क्या?”

“तुम मुझे भी साथ लेकर इस दह में कूदो।”

“यह छलाँग अकेली होगी, राधा! मृत्यु के मुख में छलाँग लगाते समय किसी साथी का होना मौत का कार्य आसान कर देता है।” मैं फिर मुसकराया—“तुम यहीं बैठी रहो। फिर भी तुम मेरे साथ रहोगी। अंतर इतना ही रहेगा कि मैं दह में डूबकियाँ लगाता रहूँगा, तुम अपने भयातुर मन में डूबती-उतराती रहोगी। मैं मृत्यु से लड़ता रहूँगा, तुम मृत्यु की आशंका से लड़ती रहोगी। लड़ाई दोनों ओर जारी रहेगी, दोनों ओर।”

इतना कहते-कहते मैंने उसे झकझोरकर खड़ा कर दिया और उसके आलिंगन में डूब गया।

मैंने पुनः उसी शिला पर उसे बैठाया और वंशी बजाने लगा। बेसुध कर देनेवाली स्वर लहरियाँ दह की लहरों से टकराने लगीं। थोड़ी देर में फन फैलाए कालिय शांत जल में वक्र रेखाएँ खींचता दिखाई दिया। पर विचित्र बात यह थी कि वह दह के जल की सतह के ऊपर नहीं आता था। यदि आता, तब तो मेरा चक्र ही काम कर देता। चक्र के सिवा फेंककर मारने का कोई शस्त्र मेरे पास नहीं था। शेल होता तो इस समय काम देता। फिर क्या करूँ? वंशी बजाते हुए ही मैंने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। राधा जहाँ बैठी थी वहीं कुछ पत्थर के बड़े-बड़े टुकड़े पड़े थे। मैंने

संकेत से उन्हें उठाकर देने के लिए कहा; क्योंकि मैं वंशी की तारतम्यता तोड़ना नहीं चाहता था।

राधा इतनी खुश हुई मानो पत्थर के उन टुकड़ों से ही उस विषधर का विनाश हो जाएगा। पहाड़ को मुष्टि के प्रहार से चूर करने की कल्पना कितनी सुखद होती है। वह क्षण भर में उन पत्थरों के टुकड़ों को मेरे पास ले ही नहीं आई वरन् उसमें से एक बड़े पाषाणखंड को उसने मेरे बाएँ हाथ में थमाया भी।

मैंने खींचकर सधा हुआ हाथ मारा। उसके फन पर पत्थर लगा भी; पर ऐसे छटककर जल में चला गया जैसे कोई फन से नहीं वरन् पाषाण से पाषाण टकराया हो।...इसके बाद तो उसकी स्फीत फुफकारों से पूरा दह जैसे खौलने लगा। मैंने कालिय की क्रुद्धता के इतने बीभत्स रस की कभी कल्पना भी नहीं की थी।

मैं वंशी बजाता और बराबर पत्थर मारता रहा—इसलिए नहीं कि उसे घायल कर दूँ, वरन् इसलिए कि उसके क्रोध को अधिक-से-अधिक उभार दूँ। क्रोध में पागल होकर वह जितना छटपटाएगा, उसकी शक्ति उतनी ही खर्च हो जाएगी। अपने ही आक्रोश से परास्त हुआ व्यक्ति शत्रु से क्या लड़ेगा?...और हुआ भी ऐसा ही।

मेरे पत्थर मारने से वह भागा नहीं, न वह नीचे की ओर गया। उसका क्रोध बराबर ऊपर की ओर ही उफान मारता रहा। उसके मुख से निकले फेन से उसके पास का जल नीला पड़ता जा रहा था। लगभग एक घड़ी इसी तरह बीत गई। मैं वंशी भी बजाता रहा और पत्थर भी मारता रहा। मेरा आक्रमण घाव भी करता रहा और रागिनी उसे सहलाती भी रही।

क्रोध उसकी सारी शक्ति निगल चुका था। अब बिल्कुल श्लथ दिखा। अब अवसर था। मेघज के यहाँ से लाए काँटे को मैंने खींचकर मारा। मेरा लक्ष्य सधा था। ठीक उसके बीच के फन पर लगा और वह फँस गया।

पर यह क्या, मैं तो काँटे के साथ ही उसकी डोर भी फेंक चुका हूँ। अब वह विषधर डुबकी लगाकर भागने की ओर था। मैंने देखा, मेरे द्वारा फेंकी गई काँटे की डोर भी साँप की तरह लहराती भागी जा रही है। मैं उसे छोड़ने की स्थिति में नहीं था। मैंने दौड़कर पानी में छलाँग लगा दी; क्योंकि घायल कालिय नाग को छोड़ना नाक काटकर शूर्पणखा को छोड़ना था।

मेरे दह में कूदते ही राधा जहाँ खड़ी थी वहीं धड़ाम से गिर गई।

“घबराओ नहीं, मैं अभी आता हूँ।” मैंने पानी में से ही उसे सांत्वना दी।

डोर पकड़ते ही मैं उसे खींचने लगा; पर बड़ी ताकत थी उस कालिय नाग में। पहले तो उसने मुझे अपनी ओर खींचा, फिर अचानक अपने घायल फन से मुझे चबा जाने के लिए एकदम कावा काट गया। मैंने भी डुबकी लगाई। अब मेरे और उसके बीच तैराकी युद्ध होने लगा—एक जन्मजात तैराक से मेरे जैसे अर्जित तैराक का युद्ध।

मैं भले ही जन्मजात तैराक न होऊँ, पर अपने समय के प्रसिद्ध तैराक वसुदेव का पुत्र तो हूँ ही।...और फिर जन्म के बाद ही तो तैरने लगा। आप जानते ही हैं कि भादों की काली अँधेरी रात में मेरे पिता उफनती यमुना में तैर रहे थे और मेरी नियति के अंधकार में।...इस समय भी मेरा वही संतरण मुझे याद आया। ज्यों-ज्यों कालिय मेरी ओर झपटता, मैं डुबकी लगाकर दूसरी ओर निकल जाता। अंत में जब वह अच्छी तरह थक गया, तब मैं उसे बड़ी सहजता से खींच ले आया।

जल के बाहर निकलते ही मैंने पत्थर से उसके सभी फन कुचल डाले। उसके शरीर से लिपटी कुछ नागिनें बाहर आते ही भागने लगीं। मैंने चेष्टा तो की उन सबके कुचल डालने की, पर कुछ अवश्य ही जंगल में घुस जाने में सफल हो गई होंगी।

मेरी इस सफलता पर कोई वहाँ ‘साधु-साधु’ भी कहनेवाला नहीं था। राधा संज्ञाशून्य पड़ी थी। मैं स्वयं फूला नहीं समा रहा था। थोड़ी देर बाद मैंने राधा को झकझोरा। ऐसा लगा जैसे उसकी चेतना लौट रही है। अब उसकी पलकें

खुलने और मुँदने लगी थीं। वह मेरी गोद में थी। वह मुझे अनवरत देखती रही; मानो उसकी उनींदी आँखें मेरी मुसकराहट पी रही हों।

चेतना के साथ ही उसे मेरे गीले वस्त्रों का भान हुआ।

“अरे, विषाक्त जल में तेरे सारे वस्त्र भीगे हैं।” वह हड़बड़ाकर उठी। उसकी दृष्टि मरे हुए कालिय के बुरी तरह कुचले गए शव पर पड़ी। वह एकदम सिहर उठी। उसकी चेतना काँपकर बुझने को आई।

“अरे, तू शव से इतना डरती है!” मैंने कहा।

“क्या मनुष्य से भयानक मनुष्य का शव नहीं लगता?” वह काँपते हुए ही बोली, “यह तो काल से भी भयानक महाकाल का शव है!”



ग्यारह

कालिय नाग की मृत्यु मानो महाकाल की मृत्यु हो। एक आतंक-सा छा गया। व्रज की शांति में एक बार फिर ज्वालामुखी फूटा, जिसका लावा सीधे मथुरा पर बरसने लगा। व्रज ने कंपन का अनुभव किया और मथुरा ने ज्वाला का। व्रज में सिहरन थी और मथुरा में उबाल।

मेरे देवत्व पर एक पानी और चढ़ा। हमारे ऐसे कर्तृत्व, जो हमारे व्यक्तित्व में समा नहीं पाते, चमत्कार की संज्ञा लेते हैं। कालिय की मृत्यु भी मेरे सामान्य-से दिखनेवाले कैशोर्य व्यक्तित्व में समा नहीं पाई। लोगों ने मुझमें अलौकिकता देखी। मैं पूज्य से पूज्यतर होता गया।

किंतु राधा की दृष्टि में ऐसा कुछ नहीं था। वह मुझे अत्यधिक ढीठ और हठी किशोर ही समझती थी। इस घटना के बाद वह रास्ते भर मुझे समझाती रही—“तुम मानते नहीं हो, किसी दिन तुम्हारा यह हठ भारी पड़ेगा।”

“भारी नहीं, मैं इस हठ का आभारी हूँ।” मैंने मुसकराते हुए कहा। उसके विस्फारित नेत्र मुझे देखते रह गए। पर मैं बोलता गया—“ऐसा हठ, जिससे समाज का भला हो, उसका हमें आभारी ही होना चाहिए।”

“पर अपने प्राणों को मृत्यु के मुख में नहीं डालना चाहिए। वह कभी भी मुख बंद कर सकती है और तुम्हारा अस्तित्व समाप्त हो सकता है।”

“मेरा अस्तित्व कभी भी समाप्त नहीं होगा, कभी भी नहीं; क्योंकि वह मृत्यु से परे है। उसे अग्नि जला नहीं सकती, उसे पवन सुखा नहीं सकता, उसे...” मैं आवेग में पता नहीं क्या-क्या बोलता गया। मैं कह नहीं सकता कि उस समय सफलता के आवेग में मेरा अहं बोल रहा था या अवचेतन में पड़ी मेरी वह अस्मिता बोल रही थी, जो बाद में ‘गीता’ के रूप में मुखरित हुई।

पर राधा पर मेरे प्रवचन का प्रभाव नहीं था। वह मेरे कंधे पर हाथ रखे सोचती रही। उसकी आँखों में बादल छाते रहे। उसे लगने लगा था कि नियति एक-न-एक दिन कन्हैया को मुझसे छीन लेगी। इसी आशंका में वह डूबती गई।

धीरे-धीरे हम लोग उस अरण्य से बाहर निकले। सामने विशाल तृणक्षेत्र था और बगल में एक प्राचीन वट वृक्ष। वह लगभग थक चली थी। वट के चारों ओर बनी वेदिका पर वह बैठ गई।

मैंने अनुभव किया कि शारीरिक रूप से अधिक वह मानसिक रूप से श्लथ है। मैं भी वेदिका पर चढ़ गया और पीछे से उसकी दोनों बाँहें पकड़कर वट के तने की ओर हँसते हुए उसे खींचने लगा।

“यह क्या कर रहे हो?” वह बोली।

“कुछ अनुभव कर रहा हूँ।”

“क्या?”

“यही कि उस कालिय को खींच पाना मेरे लिए तुम्हारे खींचने की अपेक्षा बहुत आसान था।”

इतना सुनते ही वह एकदम काँप उठी। उस नाग और उसके वध का दृश्य मृत्यु की पूरी भयंकरता के साथ उसके मन पर छा गया था। उसका स्मरण दिलाते ही वह सद्यः बुझे लौ के धूम की तरह थरथराने लगती थी।

मैंने खींचकर उस विशाल वृक्ष के तने के सहारे उसे छोड़ दिया और स्वयं उसकी जाँघ पर सिर रखकर लेट गया। मेघज के काँटे एक किनारे फेंके और वंशी बजाने लगा। वह मुझे भावाकुल नेत्रों से देखती रही। मैं सारंग की धुन बजाता जा रहा था। एक प्रहर दिन चढ़ आया था।

“तू यहाँ क्या कर रही है?” अचानक एक कर्कश आवाज चुभी। राधा हड़बड़ाकर मुझे छोड़कर उठ गई। यह

आवाज मुझसे अधिक राधा की जानी-पहचानी थी। मैंने मुड़कर देखा, वह राधा की माँ कपिला थी।

“मैं और तेरे पिता कब से तुझे खोज रहे हैं और तेरा पता नहीं! तू दिन निकलने के पहले से गायब है।” कपिला की तयोरियाँ चढ़ गईं—“तुझे लज्जा नहीं लगती! एक विवाहिता लड़की दिन-दिन भर एक लड़के के साथ घूमती फिरे! वह भी वनों में, पहाड़ों पर, यमुना के कछारों में, एकांत और सन्नाटे में! कोई सुनेगा तो क्या कहेगा?”

उसने मुझपर भी एक जलती नजर डाली और राधा की बाँह पकड़कर खींचती ले चली।

मैं जानता हूँ, कपिला का पति वृषभानु जितना सज्जन और सरल है, कपिला उतनी ही कर्कश और क्रोधी। उस समय मैं कुछ नहीं बोला। चकोर से चकोरी छीन ली गई और चकोर ताकता रह गया।

मेरे मन से राधा को कौन छीन सकता था! वह मेरे अंतर में ही छटपटाती रही। दोपहर के भोजन के बाद ज्यों ही मैं अपने कक्ष में लेटा, तब वह फिर मेरी आँखों के सामने थी; पर थोड़ी बदली भंगिमा के साथ। उस दृश्य में राधा सीधी-सादी गाय की तरह कपिला के खींचने पर चली गई थी; पर इस दृश्य में उसने विद्रोह कर दिया था। वह उससे छुड़ाकर मेरे पास भाग आना चाहती थी। मुझे लगा कि मेरी राधा यही है। अवश्य ही वह छुड़ाकर भाग आना चाहती है।

एक बात और। कपिला राधा की माता नहीं, विमाता है—वृषभानु की दूसरी पत्नी। वय में भी राधा से पाँच-सात ही वर्ष बड़ी। बूढ़े पति की युवा पत्नी। वृषभानु उसके प्रति पूर्णरूप से समर्पित। फिर वह दुराग्रही और कर्कश क्यों न हो!

यह सारी स्थिति ऐसी थी कि एक पुत्री को माँ से जितना प्रेम मिलना चाहिए था, उतना कपिला को राधा से नहीं मिला। दूसरे, कपिला और राधा के संदर्भ में कपिला की स्थिति एक दूसरे परिप्रेक्ष्य में भी संतप्त थी।

यह सत्य है कि निश्छल प्रेम की प्रगल्भ धार वय की सीमाओं को लाँघती-फाँदती निकल जाती है; पर मांसलता के आग्रही प्रेम के लिए वय एक प्रधान तत्त्व है। भाग्य ने कपिला को अधिक वयस्क का प्रेमपात्र बनाया और राधा का प्रेमी मैं, राधा के वय से कई वर्ष छोटा। यह एक ऐसी स्थिति थी, जो कपिला के मन में बैठ गई थी और वह हमारे संबंध में अपेक्षा से अधिक चिड़चिड़ी हो गई थी। उसकी मानसिकता इस स्थिति से मुक्त नहीं हो पाती थी।

मुझे राधा ने बताया था कि एक दिन कपिला ने उससे कहा था—‘इतनी बड़ी तुम और कन्हैया तुमसे कितना छोटा! क्या कभी यह प्रेम स्थायी हो सकता है? क्या कभी यशोदा तुम्हें कृष्ण का प्रेमपात्र बनने देगी?’

‘पर वह कभी रोकती तो नहीं है।’

‘रोकती इसलिए नहीं है कि तेरे जाने पर कन्हैया खुश होता है। बेटे की खुशी माँ के लिए सबकुछ है।’

‘यह ‘सबकुछ’ ही मुझे कन्हैया को अपना बनाने देगा।’ राधा ने बड़े विश्वास से कहा था।

‘तू पगली है।’ कपिला चिड़चिड़ा उठी थी—‘तू वस्तुस्थिति नहीं समझती। कन्हैया गोप के सामंतों का पुत्र है। वह एक-न-एक दिन स्वयं सामंत बनेगा। आज ग्वालबालों का नेतृत्व करता है, एक दिन शूरवीरों का नेतृत्व करेगा। तू एक मामूली सी गोप की लड़की है। अरे, प्रेम भी बराबर के बीच होता है।’

राधा ने ही बताया था कि उसने विश्वास के साथ कहा था कि हमें तो कन्हैया और अपने बीच कोई अंतर दिखाई नहीं देता।

‘इसलिए नहीं दिखाई देता कि तू अंधी है; क्योंकि प्रेम अंधा होता है।’

‘अंधा होने पर भी मुझे दिखाई देता है।’

‘क्या?’

‘कन्हैया।’

राधा से इतना सुनते ही कपिला एकदम भभक उठी थी—‘तू मुझे चिढ़ाती है!’

उसने उठकर एक चाँटा भी जड़ दिया।

कपिला का क्रोध इतने पर ही शांत नहीं हुआ। उसने वृषभानु से भी उलटा-सीधा लगाया। अब निश्चय हुआ कि राधा को उसकी ससुराल भेज दिया जाए।

एक ओर राधा सिसकती रही और दूसरी ओर उसे ससुराल भेजने की तैयारी आरंभ हुई।

उसी दिन वृषभानु श्रीदाम के पिता के यहाँ मुहूर्त निकलवाने पहुँचे। संयोग कुछ ऐसा कि श्रीदाम वहाँ उपस्थित था। उसे देखकर वृषभानु कुछ खुले तो नहीं, उन्होंने सीधे-सीधे बिटिया की बिदाई का निकट मुहूर्त पूछा।

“क्यों, यह कन्या का द्विरागमन है न?” उन्होंने कहा।

“हाँ।”

“तब इतनी जल्दी क्या है? कुछ सोच-समझकर मुहूर्त निकाला जाएगा।”

“नहीं महाराज, कोई यथाशीघ्र पड़नेवाला शुभ मुहूर्त बताइए।”

“शुभ भी और यथाशीघ्र भी!”

श्रीदाम ने बताया कि उस समय पिताजी जोर से हँसने लगे थे। फिर उन्होंने कहा, “आज बहुत व्यग्र मालूम होते हो, वृषभानु।”

वृषभानु कुछ बोले नहीं। पंडितजी ने अँगुलियों पर गणना आरंभ की और बताया—“इसी पूर्णिमा के बाद रविवार को पुण्य नक्षत्र पड़ रहा है। इससे अधिक दूसरा कोई शुभ दिवस नहीं हो सकता।”

वृषभानु सोचने लगे।

“क्या सोचते हो, वृषभानु? अरे, आज बृहस्पति है। कल शुक्रवार को पूर्णिमा और शनि के बाद रविवार को मुहूर्त।” पंडितजी ने वृषभानु की चिंतित मुद्रा पर एक और दृष्टि डाली तथा पूछा, “क्या जामाता घर आकर बैठा है?”

वृषभानु ने नकारात्मक ढंग से सिर हिलाया।

“तब इतनी प्यारी बिटिया के लिए इतने चिंतित क्यों हो? क्या राधा तुम्हारे ऊपर बोझ हो गई है?”

“जवान लड़की पिता के घर बोझ ही होती है, पंडितजी!”

“पर इसका अर्थ यह नहीं है कि उसे फेंक दिया जाए, या उसे ससुराल पहुँचा दिया जाए।” पंडितजी बोले।

थोड़ी देर तक एक गंभीर मौन छाया रहा। फिर पंडितजी अचानक बरजते हुए बोले, “देखो वृषभानु, कन्या को ससुराल पहुँचाने मत जाना। गोकुल की ऐसी परंपरा नहीं है।”

वृषभानु चुपचाप चले आए।

उस दिन राधा दिखाई नहीं दी। संध्या होते ही श्रीदाम मिला। उसने मुहूर्त संबंधी सूचना दी। उस समय गायें गोष्ठों में लौट आई थीं। गोधूलि गाढ़ी होती जा रही थी। हम लोग भी यमुना के कछार से लौटने को थे। ढलती कार्तिक की शीत सिहरन पैदा कर रही थी।

हम लौट रहे थे, पर मेरी मौज-मस्ती भरी मनःस्थिति पर राधा चिपक गई थी। मैं उसीके संबंध में सोचने लगा था। ‘ऐसा तो नहीं कि अब उसे किसीसे मिलने न दिया जा रहा हो?...रोका तो उसे बहुत पहले से जा रहा था; किंतु वर्षा की उन्मादिनी सरिता और प्रेम का उद्वेग कब वर्जनाओं की चिंता करता है! फिर राधा आज क्यों रुक सकती? वह जरूर आती। अवश्य ही वह किसी ऐसे बंधन में है, जिसे वह तोड़ नहीं पा रही है।’

फिर सोचता हूँ, ‘राधा ने तो सारे बंधन तोड़ दिए हैं, अन्यथा वह मेरे हृदय में न होती और न इतनी संसक्त होती

कि कोई उसे मुझसे अलग न कर पाता। ऐसा इसलिए है कि मुझमें भी उसके प्रति अनुरक्ति है, नहीं तो वह मेरे भीतर इतना धँसती न जाती। ललिता तथा विशाखा भी तो हैं। मुझसे वय में भी छोटी हैं। मेरे बहुत निकट भी रहती हैं; पर कहाँ मेरे मन में वैसी बैठ पाई जैसी राधा। राधा! सचमुच राधा और मैं—मन से तो एक हो जाते हैं, फिर तन से क्यों दूर रहें? ऐसा तो नहीं कि उसका मन मेरे पास हो और तन किसी बंधन में?’

मैं सोचता चला आ रहा था। मित्रों के बीच रहकर मैं बिल्कुल उनसे अलग था। मित्र हल्ला मचाते, तरह-तरह का कल्लोल करते चल रहे थे। मैं उनसे निर्लिप्त था। संग होते हुए भी निःसंग था। मेरे मन-मस्तिष्क पर राधा घने कुहरे की तरह छाई थी, जिसे मेरी दृष्टि भेद नहीं सकती थी। मैं और कुछ देख नहीं पा रहा था।

मेरी इस स्थिति पर उद्धव ने व्यंग्य भी किया—“लगता है, कन्हैया कहीं और डुबकी लगा रहे हैं!” मैं अचानक आकाश से धरती पर गिरा और शीघ्र ही सँभला।

“यों ही कुछ सोचने लगा था।” मैंने कहा।

“क्या सोचने लगे थे?”

“यही कि कल पूर्णिमा है।” मैंने फिर अपनी मुसकराहट का सहारा लिया।

“यह तो हम सभी जानते हैं कि कल पूर्णिमा है।”

“तुम यह नहीं जानते होगे कि कल कार्तिक पूर्णिमा है। इस दिन भगवान् क्षीर सागर में आनंद लेते हैं।” मेरी मुसकराहट थोड़ी और प्रगल्भ हुई।

“तो कल हम लोग भी ज्योति क्षीर में आनंद लेंगे, यमुना के किनारे।” मित्रों ने कहा और कल की चाँदनी रात में रास का कार्यक्रम बन गया।

अब तक शांत खड़े श्रीदाम ने अचानक चिकोटी काटी—“अब मेरी समझ में आया कि हमारे विष्णु इतने चिंतित क्यों हैं!”

“तो तू ही बता, क्यों हैं?” उद्धव बोला।

“उन्हें कल के लिए अपनी लक्ष्मी की चिंता है।” श्रीदाम ने कहा और सबके सब हँस पड़े। यह हँसी नासमझों की हँसी थी। निश्चित ही उनमें से कोई भी श्रीदाम के लक्ष्य तक न पहुँच पाया था।

□

उस रात मुझे नींद नहीं आई। इधर-उधर की बातें करते और कहानी सुनाते-सुनाते माँ यशोदा स्वयं सो गई थी; पर मैं जाग रहा था। मुझे ऐसा लग रहा था कि राधा किसी संकट में पड़ी है और मेरा आह्वान कर रही है। जैसे वह बहुधा हाथ के संकेत से मुझे बुलाया करती थी वैसे ही अंधकार में उसके अनेक हाथ हिलते दिखाई दिए। द्वार से आते हवा के हर झोंके के साथ उसकी सिसकन का आभास होता।

मैं अपने को रोक न सका। उठकर वातायन खोला। सामने चतुर्दशी का चंद्रमा खिला था। दुग्धस्नात प्रकृति मौन खड़ी थी। मैंने चंद्रबिंब की ओर देखा। उसमें सदा से चरखा कातती बूढ़ी आज एक निरीह, छटपटाती अबला-सी दीख पड़ी और वह फिर उसमें से निकलकर मेरी ओर बढ़ने लगी। मुझे एकटक निहारती, मेरी ओर बढ़ती एक निरीह महिला। अब वह वातायन के एकदम निकट थी, मुझे गौर से देखती हुई। उसके ओठ हिल रहे थे; पर स्वर शून्य, ध्वनिहीन। कंपित कोमल किसलय की तरह।

मुझे ऐसा लगा जैसे वह कह रही हो—‘क्या देख रहे हो? मुझे बोलने से भी मना कर दिया गया है। मैं तुम्हारी होकर भी तुम्हारी नहीं हो पाऊँगी।’

“नहीं-नहीं, ऐसा नहीं हो सकता।” मैं एकदम बोल पड़ा।

अनजान में निकली यह आवाज मेरी सोती माँ से टकराई। वह जाग उठी। उसने बगल में हाथ बढ़ाया। मैं नहीं था। वह हड़बड़ाकर उठी। देखा, मैं खिड़की के पास खड़ा हूँ।

“क्या बात है, कन्हैया?” उसने पूछा।

“कुछ नहीं।” मैंने कहा।

पर माँ इतने से माननेवाली कहाँ थी। उसने सोचा, कोई बात जरूर है। अब मुझे कुछ-न-कुछ बताना ही था।

“मैंने एक विचित्र स्वप्न देखा।” मैंने कहा।

“क्या?”

“यही कि सपने में चंदा मामा आए हैं। वह मुझे बुला रहे हैं।”

आप जानते ही हैं कि मेरी अवस्था अधिक हो चुकी थी। इतना छोटा नहीं कि चंदा मामा की बात कहूँ। फिर भी माँ की ममता हर बेटे को बच्चा ही समझती है।

उसने विश्वास तो किया, पर बोल पड़ी—“तू तो चिल्ला रहा था कि ‘नहीं-नहीं, ऐसा नहीं होगा!’” मेरा झूठ पकड़ लिये जाने की स्थिति में था। उसे छुड़ाने के लिए दूसरे झूठ ने जन्म दिया—“हाँ, माँ...यही तो!...वह तुझे छोड़कर अपने पास बुला रहे थे, तभी तो मैंने कहा था, नहीं-नहीं, ऐसा नहीं होगा।”

इतना सुनते ही माँ ने मुझे अपनी छाती से लगा लिया।

मेरे झूठ ने माँ के ममत्व को ऐसा अनेक बार बहकाया है।

इसके बाद मैं सो गया। आज देर तक सोता रहा। जब उठा तो शारदीय प्रभात की मुलायम धूप मेरे वातायन में प्रवेश कर गई थी।

दिन बीता। धीरे-धीरे साँझ भी ढुलकने लगी; पर राधा कहीं दिखाई न दी। पूरब के आकाश में पूर्णिमा का चाँद उठने लगा। हमारी मित्र मंडली यमुना के कछार की ओर चली। ग्वालबाल और बालिकाएँ सभी यमुना की ओर जा रहे थे; पर मैं राधा के घर की राह देख रहा था।

पीछे से उद्भव ने मेरे कंधे पर हाथ मारा—“क्या सोच रहे हो?”

“कुछ नहीं।” और मैं उसके साथ चल पड़ा। जा तो उसीके साथ रहा था, पर मुझे लग रहा था कि कोई मुझे किसीसे छीने लिये जा रहा है। हाथ में वंशी थी, पर अधरों तक गई नहीं। लोगों ने मेरे ओठों को बुदबुदाते हुए भी देखा; मानो मैं अदृश्य से बात कर रहा था।

किंतु जब मैं यमुना किनारे पहुँचा, मुझे वंशी बजानी पड़ी; क्योंकि पूरी रास का आयोजन था। मैंने वंशी बजाना आरंभ किया; पर आधे मन से। राधा के बिना मैं आधा था। मेरा मन आधा, तन आधा, वंशी की धुन आधी। सबकुछ आधा-आधा। राधा, राधा, राधा।

ऐसी उज्ज्वल चाँदनी, चाँदी के साँपों की तरह यमुना पर लहराकर निकल जानेवाली रजतवर्णी किरणें, हलकी शीतलता के साथ मंद-मंद बहता समीरण; फिर भी मुझमें वह चहकन नहीं, जो होनी चाहिए। मेरी खिन्नता का अनुमान लगभग सभी मेरे निकट मित्रों को लग गया था। कोई मुझे अस्वस्थ समझ रहा था, कोई मुझे राधा की अनुपस्थिति से जोड़कर मेरी मनःस्थिति तक पहुँच रहा था। फिर भी मेरे पग थिरकते रहे, अधर वंशी बजाते रहे; पर मन के सामने तो वह निरीह राधा खड़ी थी। मुझे ऐसा लगा जैसे वह मुझसे कह रही है—‘तुम रास में हो और मैं बंदीगृह में।’

‘बंदीगृह! कौन तुम्हें बंदीगृह में डाल सकता है? और मेरे जैसे व्यक्ति के रहते हुए, जिसके जन्म लेते ही उसकी अस्मिता के समक्ष बंदीगृह की दीवारों ने अपना सिर झुका दिया था।’ यह एक ऐसी आवाज थी, जो मेरी नहीं थी,

फिर भी मेरे भीतर गूँज रही थी।

मैं व्यग्र हो उठा। मैंने श्रीदाम को लिया और चल पड़ा। रास चल रहा था और मैं छोड़कर चला जा रहा था। ऐसा मेरे जीवन में शायद ही कभी हुआ हो; क्योंकि मैं जीवन को रस लेकर जीने का जन्म से पक्षपाती रहा हूँ। मृत्यु की गोद में भी रास रचाना मेरे जीवन की कला रही है।

पर राधा के बिना रास कैसा!

हम सीधे राधा के घर पहुँचे। गहरी निस्तब्धता में उसका आवास डूबा था। कहीं कोई आवाज नहीं। हिम धवल चाँदनी में यह सन्नाटा भीतर-ही-भीतर सुलग रहा था। मैंने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई, कहीं कोई नहीं। फिर पीछे की ओर गया। खपरैल से छाए मिट्टी की प्राचीर में एक गवाक्ष था। उसीसे झाँककर देखा, भीतर राधा धरती पर निढाल पड़ी है। बाल बिखरे हैं। वस्त्र तन पर से सरक गया है। थोड़ी दूरी पर एक पात्र में जल रखा है। अपने भाग्य पर रोता, धूम उगलता एक दीप ताखे में जल रहा है।

उसे देखते ही ऐसा लगा जैसे सीता रावण के अशोक वन में नहीं वरन् एक कुटिया में बंद है। मैंने श्रीदाम को भी गवाक्ष से दिखाया।

“चलिए, अभी द्वार खोलने के लिए वृषभानु को बुलाते हैं।” उसने कहा।

“ऐसा क्यों?”

“राधा से मिलने के लिए।”

“और यदि वृषभानु ने कह दिया कि वह नहीं है, तब क्या करोगे?”

“तब द्वार तोड़कर बलात् राधा को निकाल ले आऊँगे।”

“तब वही अभी क्यों नहीं करते?” मैंने कहा और उसे विस्तार से समझाया कि राधा का कुछ भी वश चलता तो आज वह अवश्य रास में आती। वह बिल्कुल बेबस हो चुकी है। पराधीन दीखती है। ऐसी स्थिति में उससे क्या कोई तुम्हें मिलने देगा!

“तो हमें क्या करना चाहिए?”

“जो करना चाहिए, वही करने जा रहा हूँ। केवल तुम मेरा सहयोग करो।” मैंने कहा और पुनः गवाक्ष के पास जाकर अत्यंत मंद स्वर में वंशी बजाने लगा। वह एकदम चौंककर बैठी और ‘कन्हैया-कन्हैया’ कहने लगी।

मैंने उसके उठते ही वंशी बजाना बंद कर दिया। वह निश्चित रूप से चकित-सी चारों ओर देखती रह गई होगी और गवाक्ष के पास भी आई होगी; पर मैं वहाँ से हट चुका था।...दूसरों को आश्चर्य में डालना मेरी प्रकृति-सी हो गई है, शायद इसलिए कि आकस्मिकताओं ने मेरे जीवन में गंभीर भूमिकाएँ निभाई हैं।

राधा के आवास के निकट ही एक विशाल पीपल था। उसकी एक बड़ी डाल उस खपरैल की ओर भी आती थी, जिसके नीचे राधा थी। मैं पीपल पर चढ़ा और उसकी डाल के सहारे खपरैल पर उतरा। मेरे पीछे श्रीदाम भी था। आकाश का चंद्रमा निश्चित रूप से हमारे इस कृत्य पर हँस रहा था और पूरी सृष्टि उस हँसी में डूबी जा रही थी। हम लोगों ने धीरे-धीरे ऊपर की खपरैल हटाई और फिर अत्यंत मंद स्वर में अपनी वंशी बजाई।

“कन्हैया!”

उसकी विह्वल ध्वनि सुनाई पड़ी।

निश्चित रूप से वह उस स्थान पर आ गई थी, जहाँ की खपरैल हटाई गई थी। अब समस्या थी, उसको निकाला कैसे जाए! कितना भी हाथ मैं भीतर की ओर डालता, फिर भी वह पकड़ नहीं पा रही थी। खपरैल हमारी समझ से ज्यादा ऊँची थी।

मैंने तुरंत अपना कटिबंध खोला और नीचे लटकाते हुए बोला, “सावधानी पूर्वक जोर से पकड़ लेना।”

उसने वैसा ही किया। अब मैंने श्रीदाम की सहायता से उसे ऊपर खींच लिया। अवश्य ही उसे खरोंच भी लगी होगी; पर उसने ‘सी’ तक नहीं की। खपरैल के ऊपर आकर वह कुछ क्षणों तक बैठी ही रही। वह बंधनमुक्त हुई एक विवश चकोरी थी। वह हमें और चाँदनी में नहाई रजतवर्णी प्रकृति को सहमी-सहमी देखती रही। उसकी दृष्टि फिसलती रही। नेत्र चकराते रहे।

हम लोगों ने उसे नीचे उतारा। फिर भी वह कुछ नहीं बोली। इतनी बुझी-बुझी लगी जैसे बहुत दिनों के बाद किसी बंदीगृह से निकली हो।

कहीं किसीको पता नहीं चला और हम लोग यमुना के कछार की ओर चल पड़े।

“जी कैसा है?” मार्ग में श्रीदाम ने पूछा।

“ठीक है।” राधा बोली, “मैं तो ऐसे बंधन में जकड़ दी गई थी मानो किसी कारा में होऊँ।”

“बंधन का दूसरा नाम ही कारा है।” श्रीदाम बोला।

“और मुक्ति का दूसरा नाम राका।” मैंने हँसते हुए कहा, “कितना विचित्र है कि कारा को उलट दीजिए—राका हो जाए। कारा अर्थात् अंधकार। राका अर्थात् दुग्ध धवल ज्योत्स्ना। मेरे वाक् चातुर्य पर श्रीदाम हँस पड़ा; पर राधा पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह कैसी डरी-डरी और दबी-दबी थी कि क्या बताऊँ। फिर भी उसने आकाश से बरसती चाँदनी में अपनी व्यग्रता धोने का प्रयास आरंभ कर दिया था।

□

सोचता हूँ, मेरी जीवन यात्रा भी कितनी विचित्र है! कारा से आरंभ हुई थी और राका तक चली आई। अंधकार से प्रकाश की ओर। ‘तमसो मा ज्योतिर्गमय’—वैदिक ऋषियों के इस प्रार्थना वाक्य को ही मेरी नियति अनुसरण करती रही। इसके लिए मुझे किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करना पड़ा। बड़े सहजभाव से मुझे किरणों की डोर मिलती गई और मैं उसे पकड़कर आगे बढ़ता गया।

उस दिन मध्य रात्रि के बाद ही मेरे माता-पिता भी यमुना के कछार पर आ गए थे। कार्तिक पूर्णिमा का उत्सव रात भर चलता रहा। प्रातः यमुनास्नान के बाद ही हम घर लौट रहे थे। माँ ने राधा के वस्त्र और उसकी उदासी से ही समझ लिया था कि कोई-न-कोई बात अवश्य है। फिर मैंने भी माँ को अनुकूल देखकर कुछ संकेतों से और कुछ शब्दों के सहारे सबकुछ बता दिया था।

“फिर इतनी घबराती क्यों हो, बेटी? तुम मेरे ही साथ चलो।” माँ ने राधा से कहा। अब राधा काफी आश्वस्त दिखी।

हम लोग चले आ रहे थे कि श्रीदाम ने मेरे कान में धीरे से कहा, “वह देखो, कुलटा जा रही है।”

मैंने मुड़कर देखा, वृषभानु और कपिला जा रहे थे। मेरे साथ ही माता यशोदा की भी दृष्टि उसपर पड़ी।

उसने कपिला को देखते ही बुलाया और कहा, “आज जरा मुझसे मिलना।”

वह एक जलती दृष्टि राधा पर डालती हुई चली गई।

मध्याह्न के बाद ही कपिला आई। हम सब अभी माँ के पास ही बैठे थे। वह राधा को देखते ही आगबबूला हो गई—“तू खपरैल तोड़कर भाग आई! तेरी यह हिम्मत!” फिर जाने क्या-क्या बकती रही।

मेरी माँ को यह बिल्कुल अच्छा नहीं लगा। एक तो उसने आकर अभिवादन तक नहीं किया, क्रोध में सामान्य शिष्टाचार भी भूल गई और राधा पर माँ के सामने ही बरसने लगी।

“क्या व्यर्थ में बकती चली जा रही हो!” माँ ने उसे रोका—“यदि खपरैल फोड़कर भाग ही आई, तो क्या बुरा

किया?"

अब वह एकदम सकपका गई। उसे अपनी भूल का भान हुआ।

माँ बोलती गई—“सयानी लड़की है। अपना भला-बुरा जानती है। और तुम उसे बंद करके रखना चाहती हो!”

“अपना भला-बुरा नहीं जानती, यही तो दुःख है।” कपिला बोली।

“हो सकता है, तुम जिसे भला समझती हो, उसके लिए बुरा हो।” माँ ने कहा।

उनकी बातें चल ही रही थीं कि परिचर ने आकर सूचना दी कि आचार्यजी बुला रहे हैं।

मेरी इच्छा जाने की नहीं थी। मैं राधा की परिस्थिति का निराकरण चाहता था। किंतु बुलावा था। जाना तो पड़ेगा ही। पहले सोचा, आचार्य श्रुतिकेतु ने बुलाया है; पर बाद में मालूम हुआ कि गर्गाचार्य पधारे हैं। पहुँचते ही देखा, वे पिताजी से बातें कर रहे हैं। मुझे तो उन्होंने औपचारिकतावश ही बुला लिया था—दर्शनार्थ। मेरा ईश्वरत्व उनपर भी छाया था। मुझे देखते ही वे बिना किसी प्रसंग के बोल पड़े—“अब आप शीघ्र ही मथुरा बुलाए जाने वाले हैं।”

क्यों? किसलिए? मैं कुछ जान नहीं पाया। मथुरा जाने की लालसा मैं बचपन से पाल रहा था। मैंने सुना था, मथुरा वैभव में पली है। कंचन की नगरी है। उसकी शोभा अविराम है। फिर मेरे जीवन की अनेक घटनाएँ मथुरा से संबद्ध थीं। उसके प्रति मेरी आसक्ति स्वाभाविक थी।

पर आचार्यजी से ही सुना कि अभी मथुरा आपके अनुकूल नहीं है।

आचार्य मुख से अपने प्रति ‘आप’ संबोधन मुझे कुछ विचित्र सा लग रहा था। फिर उनके कथन का अंतर्विरोध भी मेरी समझ में नहीं आया। एक ओर वे मेरे बुलाए जाने की सूचना दे रहे थे और दूसरी ओर परिस्थिति की प्रतिकूलता का निर्देश भी।...पर मैंने कुछ पूछा नहीं। पिताजी और वे दोनों गंभीर मंत्रणा में व्यस्त थे।

“एक और विचित्र बात उछाल दी गई।” आचार्य ने मुसकराते हुए पिताजी से कहा।

“क्या?”

“यही कि कंस उग्रसेन का पुत्र ही नहीं है।”

“यह कैसे हो सकता है?”

“सुनने में तो बड़ा विचित्र लगता है; पर इस अद्भुत सृष्टि में क्या नहीं हो सकता!” आचार्यजी मुसकराए और उन्होंने एक विचित्र कहानी सुनाई।

उनका कहना था—“महाराज उग्रसेन की पत्नी एक बार गंधमादन पर्वत पर गई थी। वहाँ दुर्मिल उग्रसेन का रूप धरकर उससे मिला था। उसीका पुत्र है कंस।”

“कितना अद्भुत है!” पिताजी के मुख से निकल पड़ा। फिर विस्मय से उन्होंने पूछा, “यह दुर्मिल कौन है?”

“कुछ लोगों का कहना है कि यह एक गंधर्व है; पर छंदक का कुछ दूसरा ही कहना है।” गर्गाचार्य रहस्यमय ढंग से मुसकराए।

“क्या कहता है वह?”

“उसके अनुसार दुर्मिल एक असुर है।”

“असुर की संभावना ही अधिक हो सकती है।” पिताजी बोले, “क्योंकि गंधर्व जैसा न तो कंस का रूप है और न स्वभाव। गंधर्वों की कलाप्रियता तो उसे छू तक नहीं गई है। संगीत उसे विष जैसा लगता है। ऐसा व्यक्ति कभी गंधर्वपुत्र नहीं हो सकता। उसने घृणा, हिंसा, कामुकता और सत्तालोलुपता—सबकुछ असुरों जैसा ही पाया है। निश्चित ही दुर्मिल असुर ही रहा होगा।” मनोवैज्ञानिक ढंग से अपने निष्कर्ष पर पहुँचते हुए पिताजी ने पूछा, “क्या इस सत्य को कंस जानता है?”

“यह मैं नहीं जानता।” गर्गाचार्य मुसकराए—“पहले तो मैं यह नहीं जानता कि यह सत्य है या नहीं; फिर रह गई कंस के जानने न जानने की बात, वह भी मैं नहीं जानता।...लेकिन यदि वह न भी जानता होगा तो जान जाएगा; क्योंकि यह बात जिस व्यक्ति ने फैलाई है, उसकी आवाज प्रासाद की प्राचीरों रोक नहीं पाएँगी।”

“कौन है वह व्यक्ति?”

“छंदक।”

“छंदक ने यह बात फैलाई है।” पिताजी गंभीर हुए—“तब तो इसमें कोई राजनीति अवश्य होगी। हो सकता है, राजनीति ही हो, सत्य न हो; क्योंकि सत्य से उसका कुछ लेना-देना नहीं है। उसका उद्देश्य तो चिनगारियाँ बोना और आग की फसल काटना है।”

“हो सकता है, यह भी कोई उसकी बोई जानेवाली चिनगारी ही हो।” आचार्यजी बीच में ही बोल उठे और हँसने लगे—“रेशम के कीड़े की तरह मनुष्य अपनी छवि के धागे का निर्माता भी होता है तथा स्वयं को उससे परिवेष्टित भी करता है।...और फिर उससे मुक्त नहीं हो पाता। आज छंदक भी अपनी छवि से मुक्त नहीं हो पा रहा है। भले ही वह सत्य कह रहा हो, पर उसके कथन से राजनीति की गंध हम तक पहले पहुँचती है, और कुछ बाद में।”

पिताजी चुप हो कुछ सोचने लगे। अब उन्होंने मेरी ओर देखा। मैंने अनुभव किया कि वह मेरी उपस्थिति की अब आवश्यकता नहीं समझते। मैं चुपचाप वहाँ से खिसका और द्वार की आड़ में आकर खड़ा हो गया; क्योंकि मैं ही वहाँ से हटा था, मेरी जिज्ञासा नहीं हटी थी।

“अगर यह बात सत्य होती तो उसका कुछ-न-कुछ आभास महाराज उग्रसेन को अवश्य होता।” पिताजी ने कहा।

“आवश्यक नहीं।” आचार्यजी बोले, “गिरगिट अपना रंग बदलने और नारी अपनी दुर्बलता छिपाने में बड़ी होशियार होती है—और फिर कंस की माँ! उसने कौन-कौन से खेल नहीं खेले हैं! यदि वही ठीक होती तो उसका पुत्र ऐसा राक्षस न होता।”

इसके बाद बातों का सिलसिला स्त्रियों के चरित्र पर आ गया। दोनों महानुभाव इस मत के थे कि परिवार के मूल में स्त्रियाँ ही होती हैं। यदि वे ठीक रहीं तो परिवार ठीक रहेगा, अन्यथा दावाग्नि में जंगल की तरह सबकुछ नष्ट हो जाता है। कंस के निर्माण में भी कंस की माता का बहुत कुछ हाथ है।

“जाने दीजिए। अब तो वह नहीं रही, उसकी चर्चा से क्या लाभ!” पिताजी बोले, “दिवंगत व्यक्ति की आलोचना शास्त्र-वर्जित है।”

आचार्यजी ने मुसकराते हुए अपनी झेंप मिटाई; क्योंकि जिस शास्त्र का पक्षधर उन्हें होना चाहिए, उसके पक्ष में खड़े मेरे पिताजी दिखाई पड़े।

“यदि उग्रसेन को इस प्रणय का जरा भी पता होता तो वे ऐसे कुलक्षण का गला शैशवावस्था में ही घोंट देते।”

“पर अब इसका पता उन्हें हो जाना चाहिए।” पिताजी ने कहा।

“आप क्या समझते हैं? छंदक चुप बैठा होगा।”

“आखिर उसके भी सामर्थ्य की सीमा है। बंदीगृह की प्रौढ़ प्राचीरों को भेदकर उसके शब्द क्या वहाँ तक पहुँच पाएँगे?”

“छंदक की आवाज और मृत्यु हर स्थिति में निर्बंध्य है। उसके लिए कहीं भी कोई भी बाधा नहीं।”

“पर क्या इस तथ्य से देवकी परिचित है?” पिताजी ने पूछा।

“देवकी—परिचित तो नहीं, पर हो जाएगी।” आचार्यजी बोले, “जब वह जानेगी कि हम लोग सहोदर होते हुए भी सगे भाई-बहन नहीं हैं, तब वह कैसा अनुभव करेगी?”

“तब वह थोड़ा हलका अनुभव करेगी। सगे भाई के अत्याचार की पीड़ा में घनत्व अधिक होता है। हम सोचते हैं कि हमारा सगा होकर भी ऐसा कर रहा है, इसलिए अपराध से अधिक सगेपन की स्थिति हमें पीड़क होती है।”

“और जब देवकी का पुत्र इस तथ्य को जानेगा तो क्या सोचेगा?” आचार्यजी बोले।

“सोचेगा क्या! उसे तो शायद यह भी नहीं मालूम है कि वह देवकी का पुत्र है। यही सत्य तो उससे छिपाया गया है और यही संसार से भी।” पिताजी ने कहा और द्वार की आड़ में खड़ा मैं मुसकरा पड़ा। सबकुछ जानने और समझने के बाद भी मैं अपने पिता की दृष्टि में निरा शिशु ही था।

और अंत में गर्गाचार्य ने अपने आने का रहस्य उद्घाटित करते हुए कहा, “मैं यही सूचना देने आपके पास आया था और चाहता था कि आपके माध्यम से इसकी जानकारी कंसा को भी हो जाए।”

“यह कंसा कौन?” मेरे पिता ने एकदम नया नाम सुना था।

“आश्चर्य है कि आप नहीं जानते!” आचार्यजी ने मुसकराते हुए कहा, “पर कोई बात नहीं। संसार में बहुत कुछ है, जिसे हम नहीं जानते हैं। यह कंसा है वसुदेव के भाई देवभाग की पत्नी।”

“पर उसे तो मैं जानता भी नहीं। कहाँ रहती है वह?”

“सुना है, यहीं गोकुल के पास किसी गाँव में रहती है। देवकी पर हुए अत्याचार के बाद वह कभी अपने भाई के पास नहीं गई। हो सकता है, देवभाग ही ने उसे जाने न दिया हो। आखिर वसुदेव का भाई ही है न! बड़ा भाई कारावास में रहे और छोटा भाई या उसकी पत्नी मथुरा के राजभवन का विलास करे, यह कैसे संभव होता!” आचार्यजी ने कहा। फिर भी कंसा मेरे पिता की समझ से दूर ही रही। तब आचार्यजी हँसते हुए बोले, “अरे राजन्! ऐसे समझिए कि कंसा आपके कन्हैया के मित्र उद्धव की माँ है।”

“यह क्या कहते हैं, आचार्य?” पिताजी हँसने लगे—“इतने निकट का सत्य और मुझसे अपरिचित रहा! पर कंसा, यह नाम बड़ा विचित्र है। ध्वनि भी कर्कश और निरर्थक भी।”

“बात यह है कि यह कंस के बाद ही पैदा हुई थी—और कंस के ही नाम पर इसका नाम ‘कंसा’ रख दिया गया।” आचार्यजी हँसते हुए कहते गए—“और कंस के नाम की भी एक अद्भुत कहानी है।”

“क्या?”

“कहा जाता है कि दुर्मिल जब उग्रसेन के रूप में कंस की माँ के पास था, तब उसे कुछ विचित्र सा लगा। संयोग के बीच में ही उसे शंका हुई; किंतु उस समय वह कुछ नहीं बोली। बाद में उसके मुख से निकल पड़ा—‘कस्य त्वम्’—तुम कौन। ‘कस्य त्वम्’ सुनते ही दुर्मिल भभक पड़ा। उसने शाप दिया—तू मुझे ‘कस्य त्वम्’ कहती है! जा, मुझसे तुझे जो पुत्र होगा, वह कस्य त्वम्—कंस के नाम से ही विख्यात होगा।”

“तो उस कस्य त्वम् से ही कंस हुआ!” पिताजी बोले, “बात कुछ मन में बैठती नहीं है।”

“दानव का पुत्र और नाम भी शापित! तभी तो आसमान सिर पर उठा लिया है।”

दोनों हँसने लगे।

□

आचार्य के हटने के पहले ही मैं द्वार से हट चुका था; क्योंकि मेरी रुचि राधा के संदर्भ में अधिक थी। मैं सीधे माता यशोदा के कक्ष की ओर बढ़ा। अंतःपुर के आँगन के गलियारे में पहुँचते ही देखा कि कपिला चली जा रही है। उसका चेहरा तमतमाया है। गति में आक्रोश का झोंका है और आँचल में चोट खाए पक्षी की फड़फड़ाहट। मैंने समझ लिया कि कपिला अपने घायल अहं को संभाल नहीं पा रही है।

मैं उसे देखता रहा। उसने भी पीछे मुड़-मुड़कर मुझे दो-तीन बार देखा और आँखों से उपेक्षा थूकती हुई आगे निकल गई। उस समय तो मैं कुछ समझ नहीं पाया था; पर आज सोचता हूँ कि जिसे लोग भगवान् समझते हों, उसका ऐसा तिरस्कार।... वस्तुतः यह कपिला द्वारा किया गया तिरस्कार नहीं था वरन् यह तिरस्कार था उसके अहं द्वारा किया गया। इसीलिए हर भक्त को भगवान् तक पहुँचने के पहले अपने अहं को त्यागना पड़ता है। कपिला की अस्मिता उसीके अहं में बंदी थी। वह मेरा ईश्वरत्व कैसे देख पाती!

दूर से ही मैंने देखा, माँ के कक्ष में राधा गुमसुम-सी सिर नीचा किए बैठी है। निश्चित ही कुछ उसके भी मन का नहीं हुआ है, अन्यथा कपिला की पराजय पर चहक उठनेवाली राधा इतना उदास न होती। मैंने देखा, माँ पर्यंक पर दुलकी पड़ी है। उसका मुँह राधा की ओर नहीं है। मैंने राधा को संकेत से बाहर बुलाया।

वह चली तो आई, पर चुप ही रही। मैंने उसकी आँखों में झाँकने की चेष्टा की। मेरे प्रति उसका ममत्व उदासीनता की कई चादरों के नीचे सोता दिखाई दिया। मैंने पूछा, “इतनी उदास क्यों हो?”

“उदास न होऊँ तो क्या नाचूँ!” वह बोली।

“क्या बात है? माँ ने कुछ कहा तो नहीं?”

इतने पर भी वह चुप ही रही। बहुत पूछने पर उसने बताया कि माँ ने भी यह स्वीकार किया कि मुझे खपरैल तोड़कर दूसरे लड़कों के साथ भागना नहीं चाहिए था—वह भी इतनी रात में!

“पर मेरे सामने तो माँ ने तुम्हारा समर्थन किया था और कपिला से स्पष्ट कहा था कि लड़कों की इच्छा के विरुद्ध तुम्हें बंद नहीं करना चाहिए था!”

“वह तो इस समय भी कह रही थी। माँ को उसने बड़े कठोर शब्दों में फटकारा। तभी तो वह तनतनाकर भाग गई।” राधा बताती जा रही थी—“पर मेरी माँ के इस तर्क के सामने उसे झुकना पड़ा कि रात के सन्नाटे में खपरैल फाड़कर दूसरे लड़कों के साथ इसे भागना नहीं चाहिए था। यदि इस गाँव की और लड़कियाँ भी ऐसा करने लगे तो कौन सा आदर्श ब्रज की गोपियों के सामने रह जाएगा?”

“यदि इस गाँव की और भी माताएँ अपनी बेटियों को बंदी बनाने लगे तो बेटियाँ भी ऐसा करेंगी। उन्हें कारा को तोड़कर निकल भागने का अधिकार है।” मैंने आवेश में कहा और बोलता ही गया—“मन कहीं और हो तथा तन कहीं और, यह कैसे हो सकता है!”

“यही आज का सामाजिक शिष्टाचार है। यही आज की सभ्यता है।”

“ऐसी सभ्यता और सामाजिक व्यवस्था अधिक दिनों तक टिक नहीं सकती, जिसमें तन और मन के बीच सामंजस्य न हो।”

“पर इसे कौन समझाएगा?” राधा बोली।

“इसे समय समझाएगा।” मैंने कहा और उसे सांत्वना देता रहा।

किंतु आज समझता हूँ कि माँ ठीक कहती थी। यदि मन का ही प्रभुत्व चलता रहेगा, तब तो समाज अराजक हो जाएगा; क्योंकि मन का अलग संसार होता है, इसमें कोई नियम नहीं, कोई बंधन नहीं। हमारा मन अनेक बार बलात्कार करता है, अनेक बार हत्याएँ करता है। पता नहीं कितनों से विवाह करता है और कितनों से प्रेम; पर हमारा तन तो ऐसा नहीं करता। मन की सक्रियता भीतर होती है और तन की बाहर। मन समाजनिरपेक्ष है और तन समाजसापेक्ष। भले ही हमारा मन प्रधान हो, पर समाज में हमारे होने का साक्ष्य तन ही है। मन कामना करता है और तन कर्म। इसलिए मैंने निष्काम कर्म की बार-बार बातें कहीं हैं और तन पर सामाजिक नियंत्रण को बार-बार स्वीकार किया है।

मुझे याद है कि मैंने बाद में राधा से भी इस संदर्भ में बातें की थीं। वह बहुत कुछ मान भी गई थी और बात वहीं आकर रुकी थी कि जैसे माँ का मेरी इच्छा के विरुद्ध बंद करना ठीक नहीं था वैसे ही मेरा रात को निकल भागना भी ठीक नहीं था। पर प्रेम की सरिता की उन्मत्त बाढ़ कब अपनी मर्यादाओं का ध्यान रखती है।

मैं राधा के साथ अपने उपवन की पुष्करिणी के किनारे बैठा था। इसी संबंध में बातें हो रही थीं कि मुझे अचानक एक महिला की कातर ध्वनि सुनाई पड़ी। मुझे लगा कि वह ‘कन्हैया! कन्हैया!’ पुकारती, इधर-उधर भटकती इधर ही चली आ रही है। उस आर्तनाद में मेरा मन डूब गया। मैं राधा को छोड़कर उठ खड़ा हुआ। तब तक वह महिला मेरे चरणों पर गिर चुकी थी।

‘अरे, यह तो सुवासिनी है!’ मैंने देखते ही पहचान लिया।

“मेरे बच्चे को नाग ने काट खाया, कन्हैया! उसकी रक्षा करो, प्रभु!” यह पहला अवसर था जब मेरे लिए किसीने ‘प्रभु’ संबोधन किया था। निश्चित रूप से वह मुझे ईश्वर मानकर ही मेरे पास आई थी। मृत्यु कूप में गिरे व्यक्ति को भगवान् के सिवा और कौन निकाल सकता है!

उसकी करुणार्द्र गिड़गिड़ाहट ने तत्काल मुझे कुछ करने के लिए उद्यत किया। फिर मेरी कुछ प्रकृति ही ऐसी थी कि जो मेरी शरण में आता था और विश्वास करके आता था, मैं उसके लिए कुछ करता अवश्य था।

कालिय विनाश के पहले वैद्यजी से साँपों के संबंध में बहुत सी जानकारी प्राप्त कर ली थी। उसके काटने और विष के बारे में बहुत कुछ जान गया था। उन्होंने बताया था कि सर्प विष का सीधे रक्त में पहुँचना मृत्यु का कारण होता है। यदि उसी विष का अल्पांश उदर में चला जाए तो वह शक्तिवर्द्धक हो सकता है। किंतु रक्त की धमनियों में उसे कभी नहीं पहुँचना चाहिए। और यदि पहुँच भी गया हो तो उसे निकाल बाहर करना चाहिए। इसके लिए वैद्यजी ने कई उपाय बताए थे। उनकी बताई सारी बातें मेरे मस्तिष्क में धीरे-धीरे उतरने लगीं।

मैं सुवासिनी के साथ हो लिया। राधा भी मेरे साथ चली। द्वार तक आते-आते माँ यशोदा का सामना हो गया।

“कहाँ चले?” उसने टोका ही था कि सुवासिनी की व्यग्रता ने रोते-रोते सब बता दिया।

“किंतु कन्हैया वहाँ जाकर क्या करेगा?” माँ बोली। उसे क्या मालूम था कि सुवासिनी की आस्था मुझे भगवान् समझती है—और भगवान् के सामने यमराज के दूत भी सिर झुका देते हैं।

माँ द्वारा रोके जाने की स्थिति में सुवासिनी फूट-फूटकर रोने लगी—“माँ, मैं तो कहीं की भी नहीं रही। दूसरे की धरोहर को भी सँभालकर न रख सकी।”

“दूसरे की धरोहर!” माँ का विस्मय जागा—“क्या दोनों तुम्हारे बच्चे नहीं हैं?”

“यदि मेरे होते तो रोना किस बात का! समझती, एक मर गया तो क्या हुआ, दूसरे को लेकर जीवन काट लूँगी। ये तो दूसरे के और वह भी बिना माँ के बच्चे हैं। इनकी रक्षा करना मेरा धर्म था; पर मैं अपने धर्म का भी निर्वाह न कर सकी।”

माँ की दृष्टि में एक बिलखता हुआ कुतूहल था। मैंने अपनी मुसकराहट से उसकी रहस्यमयता और बढ़ा दी थी। ऐसी स्थिति में माँ कुछ बोल न पाई और मैं निकल चला।

मैं दौड़ा चला जा रहा था। विकृत वसना सुवासिनी के भरे हुए नेत्र और खुले बालों के साथ उसकी भर्राई आकृति तथा मेरी क्षिप्र गति मार्ग में मिलनेवाले हर एक के लिए जिज्ञासा का कारण थी। परिचितों को मैं संकेत से कहता जाता था—‘कोई बात नहीं, मैं अभी आ रहा हूँ।’

आश्वासन के बाद भी वे समझते, कोई बात जरूर है, अन्यथा मैं इतनी तेज न दौड़ा जाता। फिर यदि शीघ्रता ही थी तो रथ से जाना चाहिए था। न कोई सेवक और न सहयोगी। मात्र एक विह्वल प्रौढ़ स्त्री और राधा का साथ।

लोगों की जिज्ञासा तो स्वाभाविक ही थी। इधर एक-एक क्षण का विलंब महँगा पड़ता जा रहा था।

मैंने पहुँचते ही देखा, लड़का धरती पर छटपटा रहा है। उसके दाहिने हाथ की तर्जनी को साँप ने काट खाया है। तर्जनी से लेकर हाथ की कलाई तक रस्सी कसकर बाँध दी गई है। लड़का साँप के काटे से नहीं वरन् बाँधी हुई रस्सी की फटन से छटपटा रहा है।

“इस रस्सी को किसने बाँधा है?” मैंने मुसकराते हुए पूछा।

सुवासिनी ने संकेत से बताया—‘मैंने।’

“तब तो आपने मृत्यु को ही बाँध रखा है। अब घबराने की आवश्यकता नहीं है।” मैं बड़े सहजभाव से बोला और बगल में पड़े मंचक को खींचकर अव्यग्र-सा बैठ गया।

तीन गवाक्षों और दो वातायनोंवाली यह एक साधारण कोठरी थी। मैंने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। दो पर्यंक, आवश्यक सामान और आग्नेय कोण में बना एक चूल्हा था। बाहर एक मामूली सा अंगण (आँगन) था।

“आप सभी लोग एकमात्र इसी कक्ष में रहते हैं?” मैंने पूछा।

व्यग्र सुवासिनी ने स्वीकारात्मक ढंग से सिर हिलाया। फिर मेरी दृष्टि धरन से लटकते सिकहरों की ओर गई। अवश्य ही इनमें नवनीत या दधि होगा, मैंने सोचा। पास पड़ी मचिया पर खड़े होकर इन्हें आसानी से उतारा जा सकता है।

मैंने वैसा ही किया। अब तक द्वार पर कुछ और लोग भी आ गए थे। सब चकित हो मुझे देखते रह गए।

मैं माखन खाए जा रहा था। राधा आश्चर्य में थी। सुवासिनी का विस्मय तो जैसे स्वप्नलोक में हो। एक ओर डूबती साँसों के नाव पर बहता जीवन और दूसरी ओर इस भय, आतंक एवं करुणा के माहौल से अस्पृश्य और निर्लिप्त मैं। एक ओर धरती पर मृत्यु से संघर्ष करता मेरी अवस्था से बड़ा किशोर और दूसरी ओर बड़े सहजभाव से नवनीत खाता मैं। कितना विचित्र था! कोई कुछ बोल न सका। सब विस्मय, चकित देखते रहे।

साधारण को असाधारण में बदल देना मेरी प्रकृति थी। इस समय भी मैंने कुछ ऐसा ही किया। लोगों को सबकुछ असाधारण लगने लगा।

सर्पदंश की सूचना धीरे-धीरे फैल गई थी। सुवासिनी के द्वार पर लोगों की भीड़ बढ़ने लगी। बालक को छटपटाता और मुझे मक्खन खाता देखकर सभी चकित थे।

जब सीमा से बाहर होने लगा तब राधा ही बोली, “तुम्हारी विचित्र लीला है, कन्हैया, तुम माखन खा रहे हो और जीवन धरती पर तड़प रहा है!”

“जीवन नहीं, मृत्यु कहो। बाँधी हुई मृत्यु तड़प रही है।” मैंने मुसकराते हुए कहा, “जहाँ मृत्यु को मुक्त कर दिया जाएगा, यह बाँधी हुई रस्सी खोल दी जाएगी वहीं मृत्यु का भयंकर सन्नाटा हम लोगों को घेर लेगा।”

“पर आप कुछ कीजिए, प्रभु!” सुवासिनी की व्यग्रता एक बार फिर छटपटाई।

“जब आपने मुझे समर्पित कर दिया है तब चिंतामुक्त हो जाइए।” मक्खन का गोला निगलते हुए मैं बोला था।

ऐसी सहजता और ऐसी भाषा! अब सोचता हूँ कि यह मैं नहीं बोला था, मेरी वह अस्मिता बोली थी, जो स्वयं को भगवान् समझने लगी थी, या जो ‘गीता’ उत्गीत के समय अपने शीर्ष बिंदु पर थी।

जब आकंठ नवनीत उदरस्थ कर चुका तब मैं उठा और सर्पदंशवाली अँगुली का सिरा अपने चक्र से ही काट डाला। रक्त बहने लगा। एकदम गाढ़ा-गाढ़ा नील वर्ण का। अब मैं उस अँगुली को दबाकर गाय के थन की तरह दुहने लगा। बालक की पीड़ा असह्य हुई। उसकी छटपटाहट बढ़ी।

अब मैं और भी जोर से दुहने लगा। रक्त बहता गया। धीरे-धीरे उसका नीलापन भी कम होता गया।

अब तक काफी लोग उस कक्ष में आ गए थे। जो देखता इतना रक्त और उसका नीलपन, वह चकित रह जाता।
“बाप रे बाप, इतना विष! कैसा रहा होगा वह विषधर!” एक आतंक भरी आवाज-सी उभरी और फिर सन्नाटे में बदल गई।

अब रक्त का नीलापन लगभग समाप्त हो गया था और वह बूँद-बूँद टपकने लगा था। तब मैंने रस्सी के बंधन ढीले किए और कटी हुई अँगुली को मुँह से चूसने लगा। लोगों ने दाँतों तले अँगुली दबाई—“अरे, यह क्या!”

“ऐसा मत करो, कन्हैया!” कई स्वर एक साथ मुझे रोकने के लिए फूटे।

“कन्हैया, मान जाओ। ऐसा मत करो।” यह विह्वलता राधा की थी।

मैंने चूसे हुए खून को वहीं भू पर थूक दिया और बोला, “आप लोग घबराते क्यों हैं? जब भगवान् शंकर समुद्र मंथन का हलाहल अपने कंठ में रख सकते हैं तब क्या मैं एक विषधर का विष भी अपने गले में नहीं रख सकता?”

इतना कहने के बाद मैं फिर उसे जोर से चूसने लगा। लोग आतंक से काँप उठे। एक ने तो अपने हाथ की जंगली जड़ी दिखाते हुए कहा, “कन्हैया, मेरी बात मानो। खतरा मोल लेने से कोई लाभ नहीं। इसका काढ़ा बनाकर पिला दो। विष धीरे-धीरे उतरने लगेगा।”

मैं अपने काम में लगा रहा। चूसता रहा और थूकता रहा, जब तक रक्त अपने स्वाभाविक रंग पर नहीं आ गया।

अंत में मैंने पानी से कुल्ला किया।

अब तक गाँव के बहुत से लोग वहाँ आ गए थे। मैंने उस व्यक्ति को संकेत से बुलाया, जो जंगली जड़ी लाया था।

“लाइए, अब आपकी राय भी मान ली जाए।” मैंने मुसकराते हुए कहा। वह कृतकृत्य हो गया। सुवासिनी क्वाथ बनाने के लिए चूल्हा सुलगाने लगी।

फिर मेरी दृष्टि सिकहरों की ओर गई। अभी एक मटका लटक रहा था। उसे क्यों छोड़ दिया जाए! मैंने उसे उतारा और नवनीत निकालकर वहाँ खड़े लोगों को बाँटने लगा।

“यह क्या है?” किसीने पूछा।

“जीवन की विजय और मृत्यु की अंत्येष्टि का प्रसाद है।” मैंने हँसते हुए कहा और सभी मेरा मुँख देखते रह गए।



बारह

ख्याति के शिखर पर मेरा व्यक्तित्व चढ़ता गया—बाधित होकर भी, निरंतर। मेरे कर्मयज्ञ के लिए नियति ही समिधा जुटाती और ऐसी परिस्थितियों का सर्जन करती, जो मुझे सतत ईश्वरत्व की ओर ढकेलती रही। मेरे कर्मयज्ञ का धूम फैलता गया। दिग्दिगंत सुवासित होने लगे। आतंक की तरह छाते उस धूम ने मुझे ऐसे माहौल में जीने के लिए विवश किया, जिसमें मेरे 'मैं' पर अलौकिक रंग चढ़ता गया। मेरा ईशत्व अब मुझमें प्रतिष्ठित होने लगा था। मेरा आत्मविश्वास उस ईश्वरीय शक्ति का उद्घोषक बना।

अब कुछ भी ऐसा नहीं, जो मैं नहीं कर सकता।

मैं बड़े तटस्थ भाव से आत्मविश्लेषण कर रहा हूँ। यद्यपि यह कठिन है; क्योंकि नियति की गाड़ी पर चढ़ा मनुष्य स्वयं को उसकी गति से अलग नहीं कर सकता।... किंतु आज मैं चिंतन के स्तर पर उस नियति की गति से अलग हूँ। सामने वे सारी परिस्थितियाँ हैं, जिन्होंने मेरा निर्माण किया है या कर रही हैं।...और इस पार खड़ा मैं वंशी बजा रहा हूँ, जिसकी धुन में मेरी अजेय अस्मिता मुखरित होने लगी है।

धारा में पड़े हुए छोटे-छोटे और बहते हुए शिलाखंड घिसते जाते हैं; पर यदि वे कहीं एकत्र होने लगते हैं तो पहाड़ बनने का सिलसिला आरंभ हो जाता है। ऐसे पहाड़ उन धाराओं को भी मोड़ देते हैं, जिनमें कभी उनका अस्तित्व बहता रहता था। मेरी भी स्थिति लगभग ऐसी ही थी। जिस धारा में अब तक मैं बहता चला आ रहा था, आज मेरा 'मैं' उसीको मोड़ देने के लिए उद्यत हो उठा था। अब मैं अंधविश्वासों और उन मरी हुई परंपराओं के विरुद्ध खड़गहस्त था, जो अपनी उपयोगिता खो चुकी हैं।

वर्ष में एक बार इंद्र-पूजन का विराट् आयोजन होता था। विशाल यज्ञशाला बनाई जाती थी। लाखों पण घृत और अन्न की आहुति दी जाती थी। पशुबलि होती थी। पता नहीं कब से यह विधान चला आया था। सबसे विचित्र बात यह थी कि यह सब अनिवार्य रूप से स्वीकार कर लिया गया था। जिनमें कुछ भी देने या करने की सामर्थ्य न थी, उन्हें भी कुछ-न-कुछ करना ही पड़ता था। पूजा श्रद्धा से होती है, विश्वास से होती है, बलात् तो नहीं कराई जा सकती। एक ओर परंपरा का दबाव और दूसरी ओर गाँव के प्रमुख तथा स्वनामधन्य लोगों का आदेश गरीब गोपों के लिए बोझ बन गया था।

इंद्रयज्ञ और इंद्रध्वज-पूजन के लिए यह अनिवार्य उगाही महीनों से आरंभ हो गई थी। इच्छा न होते हुए भी कोई विरोध न कर पाता था; पर मुनमुनाहट थी, राख के नीचे दबी आग की सुगबुगाहट थी।

भोरे-भोरे यमुना के कछार की ओर जा रहा था। देखा, मेघज लौटा चला आ रहा है। उसके कंधे से लटकते जाल में बहुत सारी मछलियाँ कुलबुला रही हैं। लगता है, यह सद्यः फँसाई गई हैं।

“आज बहुत जल्दी लौट पड़े, दादा!” मैंने उसे देखते ही कहा।

“क्या करूँ, कन्हैया! मथुरा जो जाना है।” बूढ़े की भर्राई आवाज चिंता से दबी थी।

“मथुरा जाना है! क्यों, कोई विशेष कार्य आ पड़ा है क्या?” मैंने पूछा।

“जाऊँगा नहीं तो मछलियाँ बेचूँगा कहाँ! और यदि बेचूँगा नहीं तो इंद्रपूजा की उगाही कैसे दूँगा!” मेघज मुसकराया और आगे बढ़ गया।

मेघज चला गया, पर उसकी लाचारी में डूबी मुसकराहट मुझे घेरे रही। वय के साथ-साथ मेरी संवेदनशीलता भी बढ़ चुकी थी। अब मेरा चिंतन जब किसी समस्या से लिपट जाता तो जल्दी उसे छोड़ता नहीं था। इस समय भी

मेघज की विवशता मेरे सामने थी।

आज मैं यमुना की कुंजों का वह आनंद न ले सका, जो रोज लेता था। मुझे ऐसा लगा जैसे मेघज मुझसे पूछ रहा है—‘यह पूजा क्यों? कौन है इंद्र? कहाँ है इंद्र? मैंने तो उसे देखा नहीं। फिर जिसे देखा नहीं उसके प्रति श्रद्धा कैसी? उसकी पूजा कैसी? पूजा में तो भक्तिभावना होनी चाहिए। यहाँ तो दबाव है, अनिवार्यता है।’ मेरे अदृश्य जगत् में मेघज बोलता जा रहा था—‘फिर जहाँ पेट की चिंता हो वहाँ उगाही देने की सामर्थ्य कहाँ?’

मैं करील के कुंज में चुपचाप बैठा सोचता रहा। गढ़े में बैठी मेघज की विवश आँखें मुझे देखती रहीं।

लगता है, उद्धव निश्चित समय पर आ गया था। वह बाहर से ही मौन झाँकता रहा। मैं कभी चिंतित मुद्रा में नहीं होता था और न किसीने कभी मुझे रोते देखा है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं कभी रोया नहीं हूँ।...बहुत रोया हूँ; पर संसार की आँखों से दूर।...यदि रोता न होता तो प्रकृति मुझे हँसने का अधिकार न देती। पशु रोते नहीं, शायद इसीलिए वे हँसते नहीं। मुझे तो हँसना था और संसार में हँसी बिखेरनी थी।

पर उस समय गंभीर था, नितांत गंभीर। उद्धव से रहा नहीं गया—“क्या बात है? आज बड़ी चिंता में बैठे हो?” झकझोरे गए रसाल वृक्ष की तरह मैं अचानक काँपकर स्थिर हो गया। फिर झेंप मिटाते हुए कुंज के बाहर आया। फिर सदा की तरह मुसकराहट ओढ़ते हुए बोला, “सोच रहा हूँ, इस बार पुरंदर उत्सव कैसे मनाया जाए!”

“क्यों? मनाना आवश्यक है क्या?” उद्धव ने कहा।

“अभी तक तो इसकी आवश्यकता सर्वविदित है ही।”

“भले ही इसकी आवश्यकता सर्वविदित हो, पर इसे अनिवार्य नहीं होना चाहिए।” उद्धव ने कहा।

मैंने अनुभव किया कि उद्धव तो मेरे मन की बोल रहा है। मैंने उसे कुछ और खोलने की चेष्टा की—“क्यों, तुम्हारे कहने से इसकी अनिवार्यता समाप्त तो हो नहीं जाएगी!”

“यह मेरा ही कहना नहीं है, व्रज के अधिकांश लोग अनिवार्यता के पक्ष में नहीं हैं।” उद्धव बोला, “फिर श्रद्धा-भक्ति के अनुसार जो दे, वह दे दे। यह उगाही कैसी?”

“फिर लोगों को इस संबंध में बोलना चाहिए।”

“कौन बोलेगा? बड़ों के मुँह लगकर कौन मुसीबत मोल लेगा?” उद्धव ने कहा। पर वह जो कहना चाहता था, उसे स्पष्ट कह नहीं पाया। शायद उसका मंतव्य था कि अंधपरंपरा और सामंती इच्छा के विरुद्ध खड़े होने के लिए जो शक्ति चाहिए वह लोगों में नहीं है।

“यदि ऐसी बात है तो यह विपत्ति मैं मोल लूँगा। इस उपयोगिताविहीन परंपरा का विरोध मैं करूँगा।” मैंने कहा और उद्धव मुझे विस्फारित नेत्रों से देखता रह गया; क्योंकि वह मेरी संकल्प शक्ति को जानता था। मैंने जब भी जो निश्चय किया, उसे कर दिखाया।

इस परंपरा से चली आई पूजा का मैं विरोध करूँगा, पर कैसे? क्या होगी इसकी प्रतिक्रिया? एक ओर समाज के बड़े-बूढ़े होंगे और दूसरी ओर मैं, अर्थात् कृष्ण। एक ओर अंधविश्वास से मरी परंपरा का प्रवाह होगा और दूसरी ओर मोड़ देनेवाला मैं। मुझे अवश्य ही चट्टान बनना होगा।

उद्धव सोचने लगा, क्या यह संभव है?

□

इंद्रपूजा की तैयारियाँ चल रही थीं। उगाही एकत्रित की जा रही थी। यज्ञ की विशाल वेदिका का निर्माण आरंभ हो गया था। सात दिनों तक चलनेवाले इस उत्सव के लिए गोप एवं गोपिकाएँ अपने लिए रंग-बिरंगे और आकर्षक वस्त्राभरण के संयोजन में लग गए थे। मेरे सभी मित्र, यहाँ तक कि उद्धव एवं श्रीदाम को भी उत्सव के न हो पाने

में विश्वास नहीं था। मेरे परोक्ष में वे अपनी तैयारी में लगे थे।

राधा की विचित्र स्थिति थी। इस वर्ष कदाचित् वह नए वस्त्रों की व्यवस्था न करा पाए, क्योंकि कपिला बेतरह नाराज है।...और वृषभानु का साहस नहीं, जो अपनी पत्नी की इच्छा के विरुद्ध कुछ कर सके।

राधा का दूसरा संकट यह था कि वह इस बारे में कहे भी तो किससे कहे—और क्या कहे कि इस वर्ष मेरे वस्त्र नहीं बनेंगे। वह मेरी माँ से कह सकती थी; पर वहाँ भी उसका अहं आड़े आ जाता था। इसी उधेड़बुन में वह मेरे यहाँ आई और इस प्रसंग को छेड़ने के लिए उसने एक आकर्षक भूमिका बनाई।

मेरे प्रासाद में ही उसने मेरे मुकुट से गिरी मोर पंख की कलगी पा ली थी। उसे उसने अपने सिर में खोंस लिया और भटकती हुई मेरे पास आकर खड़ी हो गई।

“कैसी लग रही हूँ?” उसने मुसकराते हुए पूछा।

मैंने उसकी ओर देखा और चुपचाप आँखें घुमा लीं। वह इठलाती रही।

“क्यों, मुझसे नहीं बोलोगे?”

“मैं उससे नहीं बोलता, जो दूसरों की वस्तु चुराता है।”

“पर मैंने चुराया नहीं, इसे पाया है।”

“पाने मात्र से यह तुम्हारा हो नहीं गया; जबकि तुम स्वयं जानती हो कि यह किसका है!” मैंने कहा, “चोरी और तुम्हारे पाने में केवल अंतर इतना ही है कि एक वस्तु छिपकर ले ली जाती है और दूसरे में पाई जाती है। पाए जाने में जब वस्तु के स्वामी का पता न हो तब वह तुम्हारी हो सकती है; पर इसके तो स्वामी का पता है।” वह चुपचाप मुझे सुनती गई और निश्चित रूप से मेरे तर्कों से परास्त होने लगी थी।

“अच्छा भाई, मान लो कि यह तुम्हारा ही है; पर क्या तुम इसे कुछ दिनों के लिए उधार नहीं दे सकते?” राधा की मुसकराहट इस बार कुछ विचित्र भंगिमायुक्त थी।

“यह बात दूसरी है।” मैंने कहा, “पर क्या करोगी तुम उधार लेकर?”

“इंद्र उत्सव में लगाकर चलूँगी।”

“और यदि इंद्र उत्सव न हुआ तो?”

“यह कैसे हो सकता है? भला सनातन से चली आई परंपरा टूटेगी!”

“जिस परंपरा की कोई उपयोगिता न रह गई हो, जिसने अपनी प्रासंगिकता खो दी हो, उसे टूटना ही चाहिए—और अवश्य टूटेगी।” मेरे स्वर में थोड़ी दृढ़ता आई—“देखना, इस बार इंद्र-पूजन नहीं होगा।”

वह काँप उठी—“देवी-देवताओं के पूजन को लेकर ऐसा हठ नहीं ठानते, कन्हैया! पता नहीं कब कौन सा अनिष्ट हो जाए।”

“अनिष्ट!” मैं जोर से हँसा—“मेरे लिए इष्ट और अनिष्ट में कोई विशेष अंतर नहीं है, राधा! एक चाही हुई स्थिति है और दूसरी अनचाही हुई। मेरी ललक चाही हुई से अनचाही हुई की ओर अधिक होती है; क्योंकि चाही हुई तो जानी-पहचानी है, कल्पना में हम उसे थोड़ा-बहुत भोग भी लेते हैं; पर अनचाही स्थिति में एक अप्रत्याशितता है, अचानक उत्पन्न हुआ एक विस्मय का भाव है।”

मेरी बात राधा की समझ की परिधि के बाहर थी, इसलिए मैंने उसे अधिक समझाना ठीक नहीं समझा।

आज भी जब मैं सोचता हूँ तो लगता है, मैंने उस समय कितना सही कहा था। हर जोखिम उठानेवाले व्यक्तित्व का इष्ट ही अनिष्ट को गले लगाता है—और यही मैंने जीवन भर किया है।

राधा उस समय एकदम चुप हो मुझे देखने लगी थी। शायद मुझे पढ़ने का प्रयास करने लगी थी। सिर पर लगी

कलगी उतरकर अब उसके हाथ में आ गई थी। वह मेरे हठ से बहुत अधिक आतंकित थी। इसीसे उसने यह संदर्भ बढ़ाना उचित नहीं समझा। उसे विश्वास था कि वर्जनाओं के छोटों से मेरी संकल्प अग्नि और अधिक प्रज्वलित होती है। उसने बड़ी चतुराई से बातों का सिलसिला दूसरी ओर बदल दिया।

“मैंने उस घटना के बाद बहुत सोचा, पर वह बात मेरी समझ में नहीं आई।” उसने एक नई फुलझड़ी छोड़ी।

“कौन सी घटना? और क्या नहीं समझ में आया?”

“यही कि उस दिन सुवासिनी के बेटे को जब साँप ने काट खाया था तब तुम उसके रक्त को चूस क्यों रहे थे?”

“यही उसकी चिकित्सा थी। रक्त को चूसा न जाता तो उसका चढ़ा विष न उतरता।”

“एक बात और मेरी समझ में नहीं आई। हम लोग जिस समय वहाँ पहुँचे थे, वह बालक पीड़ा से छटपटा रहा था। मृत्यु निकट थी। हम सब चिंतित थे और तुम पहुँचते ही मक्खन खाने में लग गए। यह तुम्हारा नाटक था या और कुछ?”

राधा के पूछने का ढंग कुछ ऐसा था कि मुझे हँसी आ गई—और कुछ क्षणों तक मैं हँसता रहा। मैंने उठकर उसके कंधे झकझोरे और बोला, “तू भी महामूर्ख ही है, राधा!”

“क्यों?”

“क्योंकि मूर्ख लोगों की चेतना हमेशा बाद में जागती है। घटना हुई कब की और तुम पूछ आज रही हो!...तो सुनो, यह और कुछ भी था और नाटक भी। नाटक इसलिए कि मैं भगवान् माना जाने लगा हूँ। मुझे दिखाना था कि मेरे लिए कुछ भी असाध्य नहीं है, इसलिए चिंतामुक्त के अभिनय के लिए मैंने नवनीत खाना आरंभ किया। तनाव ढीला हुआ। दूसरी ओर इसका एक प्रयोजन और था।” एक क्षण के लिए मैं चुप हुआ। राधा जिज्ञासा करे, इसके पहले ही मैंने बोलना आरंभ किया—“बात यह है कि सर्प का विष रक्त की नली में नहीं जाना चाहिए। वह पेट में भले ही चला जाए।”

“पेट में भले ही चला जाए, यह तुम क्या कह रहे हो?”

“मैं ठीक कह रहा हूँ। विष के थोड़ा-बहुत पेट में चले जाने पर किसी प्रकार की हानि नहीं, वरन् यह शक्तिकारक भी हो सकता है; पर रक्तवाहिनी में पहुँचते ही मृत्यु की आशंका बढ़ जाती है। इसलिए रक्त चूसने के पूर्व मैंने मक्खन खाना उचित समझा। यदि मुख या गले में कहीं रक्तवाहिनी खुली भी हो तो उसमें नवनीत की स्निग्धता जम जाए।”

“इसका तात्पर्य है कि तुम भी मृत्यु से डरते हो?”

“मृत्यु से डरता नहीं हूँ, राधा। जो अवश्य संभावी है, उससे डरना क्या! फिर भी सचेत रहता हूँ।”

“पर मैं तो मृत्यु से डरती हूँ।” इतना कहते हुए राधा हँसी और उसने मोर की वह कलगी मेरे मुकुट में लगा दी।

□

मैंने किसीसे कुछ नहीं कहा; पर यह बात धीरे-धीरे फैल गई कि मैं इंद्रपूजा का विरोधी हूँ। समाज का युवा वर्ग मेरे साथ होने लगा। परंपरा और रूढ़िग्रस्तता के विरोध में नए रक्त ने मेरा नेतृत्व स्वीकार किया; किंतु बूढ़े अशक्त एवं बीमार सर्प की केंचुल की तरह अंधविश्वास को ओढ़े रहे। वे इंद्रपूजा के पक्षधर थे, पर बहुत मुखर नहीं थे।

सुगबुगाहट मथुरा भी पहुँची। वह नंद का छोरा इंद्रपूजा का विरोध कर रहा है। उसका कहना है कि इस पूजा की कोई आवश्यकता नहीं है।

‘पूजा की भी कोई आवश्यकता होती है। वह तो श्रद्धा और भक्ति का परिणाम है।’ वही पिटा-पिटाया वृद्धों का तर्क यहाँ भी सिर उठाए था। कुछ ने तो यहाँ तक कहा कि इस छोकरे ने आसमान सिर पर उठा रखा है। देवी-

देवताओं से टकराने का परिणाम हम सबको भोगना पड़ेगा।

इस तर्क-वितर्क से केवल समाज ही आंदोलित नहीं था, इस विवाद के छींटे राजभवन पर भी पड़े। कंस को भी सूचना मिली। सुना है, पहले तो वह बौखलाया। बोला, “उस छोकरे की यह हिम्मत! हमें उसका विरोध करना चाहिए। इंद्र महोत्सव होकर रहेगा।”

उसने प्रद्योत को बुलाया।

“कुछ सुना तुमने?” उसने प्रद्योत के पहुँचते ही सीधा प्रश्न किया।

“हाँ, महाराज, सुना है। इस वर्ष व्रज के युवक इंद्र महोत्सव का विरोध करेंगे। और यह भी हो सकता है कि उसे होने ही न दें।”

“कैसे नहीं होने देंगे!” कंस का अहं एक बार फिर फनफनाया—“मैं देखता हूँ, वह छोकरा क्या कर लेता है! तुम महादंडनायक को मेरी तरफ से आदेश दे दो कि सेना तैयार रखे। इस वर्ष असि की छाया में ही इंद्र-पूजन होगा।”

प्रद्योत चुपचाप सुनता गया। कंस बड़बड़ाता रहा—“और राज्य में भी सूचना प्रसारित करवा दो कि लोग पूजन की तैयारी करें। हर वर्ष की भाँति इस वर्ष भी पूजनोत्सव धूमधाम से होगा।”

प्रद्योत बड़े संकट में पड़ा। आचार्यजी ने बाद में मुझे बताया था कि वह बेचारा तो चुपचाप आदेश का पालन करना चाहता था; पर उसकी कर्तव्यभावना आड़े आ गई। उसने सोचा, यदि मैं सही सलाह स्वामी को नहीं देता तो मेरे महामात्य का धर्म च्युत होता है।

वह बड़े विनतभाव से बोला, “महाराज, आप जो कह रहे हैं, मैं वही करूँगा; पर मेरा विनम्र निवेदन है कि आप अपने निर्णय पर पुनः विचार करें।”

“क्यों?” कंस के आग्नेय नेत्र एक बार फिर भभके।

“बात यह है, महाराज, कि यह पूजा व्रज की है। मथुरा से इससे कुछ लेना-देना नहीं। दूसरे, यह पूजा प्रजा की है और प्रजा ही इसे करती है। इसमें महाराज मुख्य अतिथि के रूप में ही उपस्थित होते हैं। इसलिए इस संदर्भ में महाराज को मौन ही रहना चाहिए।”

प्रद्योत का इतना कहना था कि कंस की आँखें चिनगारियाँ उगलने लगीं।

“मैं जानता हूँ, तुम ऐसा क्यों कह रहे हो! या तो तुम उस छोकरे से डरते हो या तुम्हारी सहानुभूति उसके प्रति है।”

उस दिन कंस इतना अप्रसन्न हुआ था कि उसने प्रद्योत को तुरंत अपने आँखों से ओझल हो जाने के लिए कहा। और कहा ही नहीं, उसे महल से भगा भी दिया। पर उसकी बात को मन से भगा नहीं पाया था। वह एकांत में तर्क-वितर्क करता रहा।

सुना है, इन दिनों मगध का राजकुमार वृत्घ्न भी आया था। कंस ने उससे भी राय ली। वह भी प्रद्योत की ही तरह तटस्थ रहने के पक्ष में था; पर उसके तर्क प्रद्योत से अलग थे। उसका कहना था कि जब उस छोकरे ने इंद्र से ही विरोध लेने की ठानी है तब इस बीच में हमें नहीं आना चाहिए। इंद्र सामान्य देवता नहीं है। वह देवराज है। उससे जो भी टकराया है, वह चूर-चूर हो गया है। वह ऐसे कन्हैया-ओन्हैया को क्या समझता है! अब उस छोकरे का विनाश निश्चित है।

“यदि हम भी इंद्र के समर्थन में आगे आएँ तो क्या हानि है?”

“तब आप ही छोकरे का विरोध करते दिखाई देंगे।...और आप तो उसके सामने बहुत पहले से हैं। मैं समझता हूँ, खुलकर अभी टकराव की स्थिति नहीं है।” वृत्घ्न ने स्पष्ट कहा, “विश्वास मानिए, इंद्र की शक्ति से वह नष्ट हो जाएगा।”

“और नष्ट नहीं हुआ तो?”

“तब सामना करने के लिए आपको अनेक अवसर मिलेंगे।”

कंस ने अपने साले की बात मान ली। पर उसके मन में यह आशंका बराबर बनी रही कि यदि कहीं इंद्र पराजित हो गया, तब तो उस व्रज के छोरे का प्रभाव और बढ़ जाएगा। लोग अभी ही उसे ईश्वर मानते हैं, तब तो वह सबके लिए साक्षात् ब्रह्म हो जाएगा।

फिर भी वृत्त की ही चली। निश्चय हुआ कि राजभवन को तटस्थ रहना चाहिए—और ऐसा तटस्थ रहना चाहिए कि लोग समझें कि जैसे महाराज को कुछ मालूम ही न हो। इस संबंध में प्रद्योत को तुरंत बुलाया गया।

कंस ने उसके आते ही पूछा, “तुमने महादंडनायक को आदेश दे दिया?”

“हाँ, महाराज!”

“इतनी जल्दी भी क्या थी!” कंस अपने स्वभाव के अनुसार तड़पा—“जब तुमने ही अनुरोध किया था कि मैं अपने निर्णय पर पुनः विचार करूँ, तब तुमने मेरी प्रतीक्षा क्यों नहीं की? तुमने आदेश क्यों दे दिया?”

प्रद्योत चुप रह गया। यद्यपि वह कह सकता था कि मेरा अनुरोध माना ही कहाँ गया था, उसे तो ठुकरा दिया गया और मुझे राजभवन से निकाल दिया गया। फिर भला मैं आपकी आज्ञा का पालन क्यों नहीं करता; पर उसने कुछ नहीं कहा। क्रोध की बौछार सहता गया।

“तब महादंडनायक को बुलाओ।” कंस का आदेश था।

महादंडनायक की खोजाई आरंभ हो गई। पता चला, पिछले दो-तीन दिनों से राजभवन में दिखाई नहीं पड़े। उनके निवास पर परिचर दौड़ाए गए। ज्ञात हुआ कि वे अस्वस्थ हैं।

प्रद्योत ने गर्गाचार्य को बताया कि उसे इस सूचना से बड़ी शांति मिली। उसने सोचा कि महादंडनायक की बीमारी के कारण हो सकता है कि आदेश प्रसारित न हुआ हो; पर दूसरी ओर उसने यह भी देखा कि सेना की गतिशीलता बढ़ गई है।

अस्वस्थता में ही महादंडनायक को आना पड़ा। वह कंस के समक्ष उपस्थित हुआ।

“क्या आपको महामात्य का आदेश मिला था?” कंस ने पूछा।

“हाँ, महाराज!”

“उसको आपने प्रसारित भी किया?”

वह कहना चाहता था कि किसी आदेश को प्रजा में प्रसारित करना महादंडनायक की कर्तव्य सीमा में नहीं आता, फिर भी उसके मुख से निकल गया—“हाँ, महाराज। और सेना भी तैयार हो चली है।”

“सत्यानास!” कंस चीखा—“अनर्थ हो गया!”

महादंडनायक बड़े आश्चर्य में पड़ा कि मामला क्या है। उसने महामात्य की ओर देखा, प्रद्योत चुपचाप दृष्टि नीची किए खड़ा था।

कंस बड़बड़ाया—“मैं अभी अंतिम निष्कर्ष पर पहुँच ही रहा था कि इंद्र-पूजन के संदर्भ में क्या किया जाए और आप लोगों ने मेरी मंशा का आभास हर सैनिक को दे दिया।”

‘आपकी मंशा तो स्पष्ट थी ही।’ कंठ तक आवाज आते-आते रुक गई। महादंडनायक भी कंस की मुद्रा देखता रह गया।

कंस सोचता रहा। लगा कि वह निर्णय के बंद द्वार पर खड़ा है। तभी वृत्त बोल पड़ा—“इसमें इतना परेशान होने की क्या आवश्यकता है? सेना तैयार है, तैयार रहने दीजिए। आप लोग मौन रह जाइए। कसावट हमेशा बनी

नहीं रहती। आज सेना सन्नद्ध है, कल धीरे-धीरे ढीली हो जाएगी।”

यही समझदारी थी। बात मान ली गई। कंस ने इससे भी संतोष की साँस ली कि प्रजा में अभी उसका आदेश प्रसारित नहीं हुआ है। इसे आप प्रद्योत का आलस्य समझिए या द्विविधा, पर इस समय तो कंस के काम आ गई।

□

अरण्याग्नि की तरह धीरे-धीरे, सुलगते-सुलगते ज्वाला मेरे प्रासाद तक खुद पहुँच चुकी थी। एक दिन पिताजी ने मुझे अपने पास बुलाया और बड़ी आत्मीयता से बोले, “क्यों बेटा, मैंने सुना है कि तुम लोग इंद्र-पूजन का विरोध कर रहे हो?”

उस समय वहाँ व्रज के कुछ वृद्ध और संभ्रांत जन भी बैठे थे और साथ में हमारे आचार्य गर्ग भी। नंदजी का मुझे बुलाना और इस तरह से पूछ बैठना मेरे लिए अप्रत्याशित था। मैंने कभी नहीं सोचा था कि बातें इतनी सीधी और सपाट ढंग से आरंभ हो जाएँगी। पहले तो मेरा सहम जाना स्वाभाविक था; पर शीघ्र ही मैं सँभला भी और बड़े साहस के साथ इंद्र-पूजन के विरोध को स्वीकार किया।

“आखिर क्यों?”

“ऐसा ही प्रश्न तो मेरे ही मन में नहीं वरन् व्रज के सभी युवकों के मन में उठ रहा है कि आखिर इंद्रपूजा क्यों की जाए?”

“इसलिए कि यह अब तक होती आई है। यह हमारी परंपरा है।”

“लोगों का विश्वास है कि आज इस परंपरा ने अपनी उपयोगिता खो दी है। कभी रही होगी इसकी उपयोगिता।” यों यह मैं नहीं बोला था, व्रज का युवा मन बोला था। यद्यपि आज सोचता हूँ, तो लगता है कि अंधविश्वास कभी उपयोगी नहीं होता। इसका जन्म ही मानव उपयोगिता की असमर्थता से होता है। अंधी गली के अंत की व्यर्थता उस ओर बढ़ते पहले कदम से ही आरंभ हो जाती है।

उस दिन पिताजी ने मुझे समझाना आरंभ किया—“तुम बात समझ नहीं पा रहे हो, कन्हैया! इंद्र हमारी वर्षा का देवता है। मेघ उसके अनुचर हैं। उसकी कृपा से जल बरसता है। कृषि का आधार जल है। हमारा धन-धान्य उसी पर निर्भर है।”

“इसका तात्पर्य यह है कि हम यदि इंद्र की पूजा नहीं करेंगे तो वह नाराज हो जाएगा?” मैंने कहा।

“निश्चित रूप से।” पिताजी बोले और मैंने देखा, आचार्यजी ने भी उन्हींके पक्ष में सिर हिलाया।

“इसका मतलब है कि जहाँ इंद्र की पूजा नहीं होती होगी वहाँ वर्षा नहीं होती होगी?”

मेरी बात पर पिताजी मेरा मुँह देखते रह गए। आचार्यजी भी मौन ही रहे। पर मैं बोलता गया—“वर्षा तो सारे संसार में होती है; पर क्या सब जगह इंद्र की पूजा होती है? वर्षा तो प्रकृति की एक प्रक्रिया है।”

यह एक ऐसा तर्क था, जिसका कोई उत्तर नहीं। फिर भी लोगों का मन मुझे स्वीकार करने को तैयार नहीं; क्योंकि हर बदलाव और परिवर्तन को ऐसी परिस्थितियों का सामना करना ही पड़ता है। मुझे भी करना ही पड़ा।

मैं आरंभ से ही कर्मवादी था। मैंने स्पष्ट कहा, “आप ही लोगों ने बताया है कि मनुष्य अपने कर्मों का फल भोगता है। कृषि भी हमारे कर्मों का फल है, वह इंद्र की पूजा का परिणाम नहीं।”

बातें चल रही थीं कि आचार्य श्रुतिकेतु भी आ गए। उनके पधारते ही मैंने अनुभव किया कि अब मेरा पलड़ा भारी पड़ेगा। पता नहीं क्यों, मुझे ऐसा लगता था कि उनकी दृष्टि में मेरे प्रति कुछ और ही भाव है।

“कन्हैया के कथन पर भी विचार करना चाहिए।” उन्होंने दबी जबान मेरा समर्थन किया।

अब मुझे बढ़ावा मिला—“पिताजी, न तो हमारे पास किसी देश का राज्य है और न बड़े-बड़े नगर ही। हम

सामान्य लोग हैं। हमारे पास गाँव है, घर हैं, वन हैं, पहाड़ हैं। हम उन्हींका दिया खाते हैं। यही हमारे पूज्य हैं। हमें इन्हींकी पूजा करनी चाहिए।”

अंध रूढ़ि की दीवार पहले तो गिरती नहीं और जब गिरती है तो मिट्टी की भीत की तरह अरराकर गिरती है, जिसमें दबकर वृद्ध विश्वास दम तोड़ते हुए भी अपने अस्तित्व की अंतिम लड़ाई लड़ते हैं।

इस समय भी मैं ऐसे प्रहार झेलता गया और कहता गया—“हमें अपने गौओं की पूजा करनी चाहिए। गिरिराज की पूजा करनी चाहिए।” मैं बोलता गया—“हमारे लिए तो इंद्र से कहीं अधिक पूज्य हमारे आचार्य हैं; जिन्हें मैं देखता हूँ, जिनसे मैं आशीर्वाद लेता हूँ तथा जिनसे जीवन के हर मोड़ के लिए हमें निर्देश मिलता है।”

आचार्यजी चुप ही रहे। मैंने यह बात खुशामद में नहीं कही थी। पर ऐसी चिपकी कि आचार्यजी का मुँह बंद ही रह गया।

□

इस प्रसंग में एक घटना और घटी, जिसका उल्लेख किए बिना यह संदर्भ पूरा नहीं होगा।

दूसरे दिन ब्राह्म मुहूर्त में ही पिताजी मेरे शयनकक्ष में पधारे। मंदिर में मंगला की आरती आरंभ हो गई थी। उसीकी शंखध्वनि से मेरी नींद टूटी। इस समय पिताजी को स्नान आदि से निवृत्त होकर वहाँ होना चाहिए था; पर वह मेरे कक्ष में। मैं उन्हें देखते ही हड़बड़ाकर उठ बैठा।

“कोई घबराने की बात नहीं है। मैं तो यों ही चला आया हूँ।” इतना कहते हुए वह मेरे ही आस्तरण पर बैठ गए। यद्यपि उनकी आकृति पर कोई भी घबराहट का चिह्न नहीं था, वे परम शांत और स्थिर दिखाई दे रहे थे।

“मैंने आज एक विचित्र स्वप्न देखा।” वे बिना किसी भूमिका के बोलने लगे—“मैंने देखा कि एक ऋषितुल्य व्यक्तित्व मेरे सामने खड़ा है। दाढ़ी-मुँछ और सिर के हिम श्वेत बालों के बीच उसकी मुसकराहट किसी बर्फाली चोटी पर बिजली की तरह तैर रही थी।” मैंने कई बार अनुभव किया है कि भावना के अतिरेक में मेरे पिताजी की भाषा काव्यात्मक हो जाती थी। वे उसी शैली में बोलते गए—“मैंने कुतूहल से पूछा, ‘आप कौन हैं, महाराज?’

“‘मैं तुम्हारा पिता हूँ।’ वे जोर से हँसे—‘तुम्हारा ही नहीं, इस पूरे भूखंड का।’ और फिर उनकी खिलखिलाहट और भी रहस्यमय हो गई। मैं उन्हें देखता रह गया।

“थोड़ी देर बाद वे स्वयं बोले, ‘चकित हो गए न! पर सत्य यही है। कभी-कभी सत्य कल्पना से भी अधिक चमत्कारी होता है। मैं इस व्रज का जनक हूँ। जब व्रज नहीं था, मैं ही था। मेरे ही गर्भ से इसकी धरती निकली है। आज तक मैं इसका पालन करता हूँ। अतएव मैं केवल पिता ही नहीं, माता भी हूँ।’ ऋषिवर हँसते ही रहे।”

पिताजी ने आगे बताया—“मैं स्वप्न में ही घबरा गया। मैंने पूछा, ‘महाराज, मैं आपको पहचान नहीं पा रहा हूँ।’

“‘मैं जानता था कि तुम मुझको पहचान नहीं पाओगे! तुममें मुझे पहचानने की शक्ति कहाँ? मुझे तो तुम्हारा पुत्र कन्हैया पहचानता है।’

“‘मुझमें पहचानने की शक्ति नहीं और मेरा पुत्र कन्हैया पहचानता है! यह क्या कह रहे हैं आप?’

“‘ठीक कह रहा हूँ, नंद!’ उनकी वाणी और गंभीर हुई—‘अच्छा तो सुनो! मैं गिरिराज हूँ, गोवर्धन!’

“मैं चकित था। ऋषिवर बोलते जा रहे थे—‘मेरे केशों की श्वेतता मेरी पुरातनता का परिचय दे रही होगी। अब तुम्हें विश्वास हुआ? मैं तब भी था जब व्रज नहीं था, तुम नहीं थे। भले ही तुम्हारा अस्तित्व रहा हो। अब पहली बार मैं पहचाना गया हूँ, मेरी अस्मिता पहचानी गई है। पहली बार यज्ञ में मेरा आह्वान होगा। मेरा भाग मिलेगा। मेरा पूजन होगा।’ ”

स्वप्न का सविस्तार वर्णन समाप्त होते ही पिताजी मौन हो गए। मैं भी विस्मय में डूबता-उतराता रहा। आम्रकुंज

के किसी झुरमुट में बैठे कोकिल का पंचम स्वर उषःकाल की घोषणा करने लगा।

शीघ्र ही यह प्रश्न रेंगते-रेंगते हर जीभ पर पहुँच गया और चारों ओर इसकी भुनभुनाहट फैल गई। आचार्य श्रुतिकेतु ने सीधा संबंध मेरे ईश्वरत्व से जोड़ा। गर्गाचार्य का सोचना था कि नंदजी गोवर्धन पर्वत के ही संबंध में सोचते-सोचते सो गए हैं और यह उनके चिंतन की ही प्रतिच्छवि है। पर आम लोगों की धारणा को एक ठोस आधार मिला कि गोवर्धन ही हमारा देवता है। वह हमारा रक्षक है, पालक है। इसकी अनुभूति उसने नंदजी को स्वप्न में करा दी है।

इसका प्रभाव यह हुआ कि लोगों का मन इंद्र के इस परंपरित पूजन से विमुख होने लगा। मेरा कार्य सरल हो गया। पर कुछ लोग अब भी इंद्र-पूजन के पक्ष में थे। इनमें दो तरह के लोग थे। एक तो वे लोग, जो किसी-न-किसी रूप में मेरे विरोधी थे; जैसे राधा का परिवार। दूसरे वे वृद्धजन, जो परंपरा को छोड़ने की इच्छा तो रखते थे, पर जिन्हें परंपरा स्वयं छोड़ नहीं पा रही थी।

आज दीपावली थी। आकाश में चंद्रमा का अभाव और रात काली। लगता था, चंद्र ही चूर-चूर होकर मिट्टी के छोटे-छोटे दीयों में बिखर गया था। झिलमिलाते दीपों से निशा चमक उठी थी।

जैसा आप जानते हैं, चंद्रमा मुझे बचपन से प्रिय था; पर ये दीप मुझे कम प्रिय नहीं लग रहे थे। रात भर हवा का झकझोरा झेलते हुए अँधेरा पीना और सवेरे की आशा हृदय में छिपाए रहना इनके अदम्य साहस का प्रतीक ही मेरा आदर्श था।...मैं भी एक दीप था, जिसे सूरज का उत्तराधिकार मिला था; पर मैं सूरज नहीं था। लोगों ने मुझे सूरज समझना आरंभ कर दिया था।

मैं अपनी इस लाचारी को भूल नहीं पाता हूँ। शायद यही लाचारी मेरे ईश्वरत्व के अस्तित्व से जुड़ी है।

हाँ, तो वह दीपावली की जगमगाती रात थी। ऐश्वर्य-पूजन का विधान था। ऐसी पूजा, जिससे हम वैभवशाली बनें। वैभव हमारी आकांक्षा ही नहीं, महत्वाकांक्षा है। शायद इसीलिए इस त्योहार में मौज-मस्ती से अधिक गंभीरता थी, कुछ पाने की ललक थी; पर मुझमें कोई गंभीरता नहीं थी।

अचानक राधा आकर बगल में खड़ी हो गई—बनी-सँवरी राधा। मेरे दोनों कंधे झकझोरते हुए बोली, “आज मैं तेरे साथ खेलूँगी।”

आश्चर्य था। रोज खेलते हुए भी आज यह क्या खेलने आई है? मैं समझ नहीं पाया।

“मैं और तुम तो रोज ही खेलते हैं। आज तू कौन सा नया खेल खेलना चाहती है?”

“जुआ।” वह खिलखिलाई—“ऐसा जुआ, जिसमें मैं स्वयं को दाँव पर लगा दूँ और तुम मुझे जीत लो।”

“तो मान लो, मैंने जीत लिया और तुम हार गई।” मैं बोला और वह खिलखिलाती हुई उस एकांत का लाभ उठाते हुए मुझसे लिपट गई।

थोड़ी देर बाद उसने बताया कि आज रात वह अपने घर नहीं जाएगी, यहीं रहेगी; क्योंकि यदि वह घर जाएगी तो गोवर्धन पूजन के समय वह आ नहीं पाएगी। उसकी माँ कपिला इस पूजा की घोर विरोधी है। उसका कहना है कि इस छोकरे ने मेरा घर तो बरबाद किया ही, अब ब्रज को भी बरबाद करना चाहता है। यदि इंद्र का कोप हुआ तो हम कहीं के न रहेंगे।

“तुम्हारे पिताजी ने क्या कहा?” मैंने पूछा।

“वह चुपचाप उसे सुनते रहे।”

“तो क्या मंशा है तुम्हारी माँ की?”

“लगता है, वह इंद्रपूजा करेगी।”

“अकेले ही?”

“नहीं। उसका तो कहना है कि उसके साथ बहुत से लोग हैं।” राधा बोली।

मुझे एक चावल से पूरी हाँड़ी का अनुमान लग गया। कुछ लोग ऐसे होंगे, जो इंद्रपूजा करेंगे, करें। उनसे हमारा कोई विरोध नहीं। पर उनका मुझसे तो विरोध हो सकता है, हो। इसकी मुझे कोई चिंता नहीं, परवाह नहीं। बिना टकराव और संघर्ष के क्रांति कैसी!

□

दूसरे दिन सूर्योदय के पूर्व से ही ब्रज हलचलों से भर गया। युवक अपने गाय-बैलों को नहलाने और सँवारने लगे। उनके सींगों पर तैल मर्दन किया गया। उधर गोवर्धन के मध्य भाग में एक विशाल समतल था। उसकी सफाई दीपावली के एक दिन पूर्व से ही आरंभ हो गई थी। आज उसे भी झाड़ू-पोंछकर एक विशाल हरित प्रांगण के रूप में तैयार किया जाने लगा। पर यह पर्याप्त नहीं होगा। सारा ब्रज यहाँ कैसे इकट्ठा हो सकेगा? पर इससे क्या! पूरा गोवर्धन ही पिछली वर्षा से धुला है। हरीतिमा ओढ़कर हर ब्रजवासी की सेवा में तैयार है।

पहली बार लगभग पूरे ब्रज ने मेरा नेतृत्व स्वीकार किया। थोड़े लोग इंद्रोत्सव के नाम पर यमुना के किनारे एकत्र होने लगे। उन्हें विश्वास था कि ब्रज विभाजित हो जाएगा। पर उनकी स्थिति सुंदर सलोन मुख पर मात्र डिठौने की थी, जो काला होते हुए भी शोभा में वृद्धि करता है। यदि यह स्थिति न होती तो शायद मेरा महत्त्व न बढ़ता।

पर मेरा ऋषि कौन होगा? प्रश्न ऋत्वि का था! शायद गर्गाचार्य ऋत्विज् पद स्वीकार न करें। यद्यपि वे ही मेरे पारिवारिक पुरोधा हैं; पर परंपरा के विरुद्ध खड़े होने की उनकी लड़खड़ाती शक्ति का मुझे आभास था। सोचा, श्रुतिकेतु को ही क्यों नहीं यज्ञ का आचार्य बनाऊँ। पर वे तो संगीत के आचार्य हैं, कर्मकांड में हमारा साथ कहाँ तक देंगे!

मैं गोवर्धन पर्वत के पादतल पर इसी चिंतन में खड़ा था कि छंदक का अभिवादन सुनाई पड़ा।

“क्या सोच रहे हैं?” उसने मुसकराते हुए पूछा।

“सोच नहीं, खोज रहा हूँ।” मैं बोला।

“ऐसी कौन सी वस्तु है, जो आपके पास नहीं है और खोजनी पड़ रही है?”

“ऋत्विज् खोज रहा हूँ। कौन होगा आज गोवर्धन पर्वत का पुरोधा?”

मैं जानता था कि छंदक के पास हर समस्या का समाधान है।

और वह वैसे ही सहजभाव से मुसकराया भी—“जिसके पास गर्गाचार्य जैसा पुरोधा हो, वह भी ऋत्विज् की खोज करे!”

“हैं तो। पर वे इंद्र के कल्पित क्रोध से डर तो नहीं जाएँगे?”

“वह इंद्र के कोप से नहीं डरते। वह जिसके कोप से डरते हैं, वह कोई दूसरा ही है।”

मेरी प्रश्नवाचक मुद्रा अब छंदक को पढ़ने लगी थी।

वह मुसकराता रहा। बोला, “गर्गाचार्य केवल कंस के कोप से डरते हैं।”

मैं सोचने लगा, जिस देश का आचार्य राजा के कोप से थरथराता हो, उस राजा और उस राज्य का भगवान् ही भला करे।

इसी बीच छंदक फिर बोल पड़ा—“कंस ब्रज के झमेले में पड़ना नहीं चाहता। सुना है, उसके साले वृत्घ्न ने उसे राय दी है कि ब्रजवासी इंद्र की पूजा करें या किसी और की, उससे आपको क्या लेना-देना है!”

छंदक ने स्थिति स्पष्ट की और मेरी समस्या का समाधान निकाला। मैं प्रसन्न था।

“मैं अभी खोजकर उन्हें लाता हूँ।” मैं बोला और छंदक को वहीं छोड़कर सीधे आचार्य की खोज में चल पड़ा।

“कहीं इधर-उधर जाने की आवश्यकता नहीं है।” दूर खड़ा छंदक बोलता रहा—“वह आपके आवास पर ही हैं, आपके पिता के साथ बातें करते हुए।”

मैं सीधे घर आया और बिना किसी भूमिका के आचार्य के समक्ष अपना प्रस्ताव रखा। वे मौन मेरे पिताजी की ओर देखने लगे; जैसे उनसे भी अनुमति ले रहे हों। पर पिताजी भी चुप थे। ‘मौनं स्वीकृति लक्षणम्।’

“अच्छी बात है। मैं तुम्हारा ऋत्विज् तो स्वीकार करता हूँ—और इसमें कोई नई बात नहीं है—वंश परंपरा से मेरा यह पद तुम्हारे यहाँ सुरक्षित है; पर यह बताओ, तुम्हारे इस उत्सव का कौन प्रधान ‘होता’ होगा? प्रथम हवि कौन देगा?”

मैं सोच में पड़ गया। किसे बताऊँ? तब तक पिताजी बोल पड़े—“परंपरानुसार तो कंस को होना चाहिए।”

कंस को आमंत्रित करूँ! जिसने मेरे पिता एवं माता को कारा में डाला और मुझे मारने की हर चेष्टा की—वह मेरे यज्ञ का होता नहीं हो सकता।

मेरी किशोर बुद्धि ने ही एक रास्ता निकाल लिया। मैंने कहा, “मामाजी तो इंद्र महोत्सव के प्रथम ‘होता’ होते थे। मैं कोई इंद्र उत्सव तो कर नहीं रहा हूँ।”

समस्या जटिल थी। सब एक-दूसरे का मुँह देखते रह गए।

“तो क्यों नहीं प्रथम हवि कन्हैया से दिलाई जाए!” प्रस्ताव श्रुतिकेतु का था और सबने मौन सहमति दी।

कितना विचित्र है! मेरा ही आयोजित उत्सव और मैं ही प्रधान होता होऊँ। यह राजाओं के यहाँ संभव था, पर हमारे जैसे सामान्य सामंतों के यहाँ नहीं।...फिर कंस के अहं को इससे कैसी चोट लगेगी! और जब देखेगा कि वह मुट्ठी भर लोगों द्वारा आयोजित आयोजन का ही मुख्य अतिथि है और सारा व्रज मेरे पीछे है तब तो वह तिलमिला ही उठेगा।

पिता नंद इस स्थिति के लिए शीघ्र तैयार नहीं थे। एक तो इंद्र के कोप की कल्पना उन्हें परेशान किए ही थी, दूसरे कंस का अनायास आक्रोश वे झेलना नहीं चाहते थे। फिर भी श्रुतिकेतु के कहने पर वे तैयार हो गए। उन्हें कितना लड़ना पड़ा होगा स्वयं से अपनी इस तैयारी के लिए!

□

व्रज विभाजित न होकर भी विभाजित हो गया। एक साथ दो पूजाएँ चलीं। एक गोवर्धन पर्वत पर और दूसरी यमुना के किनारे। एक जन उत्सव था और दूसरी दम तोड़ती परंपरा की आखिरी साँस। एक ओर हमारे समर्थन का विशालकाय हाथी था और दूसरी ओर उसकी रोगग्रस्त सड़ रही मात्र दुम।

श्रीदाम, उद्धव, बलराम, मेरे सारे मित्र मेरे उत्सव को सफल बनाने में जी-जान से लग गए थे। भैया बलराम के लिए तो यह उनका ही उत्सव था। उन्होंने किसी संदर्भ में अभी पिछले दिनों कहा था कि हल हमारा आयुध है। धरती की पूजा हमारे आराध्य की पूजा है।

उनके समर्थन से मुझे विशेष बल मिला।

राधा मेरे साथ थी। उसके पिता वृषभानु भी गोवर्धन पर आए; पर कपिला कहीं दिखाई न पड़ी। निश्चित वह इंद्र-पूजन में यमुना किनारे गई होगी।

किंतु थोड़ी देर बाद ही मैंने उसे घायल गिद्धनी की तरह फड़फड़ाते हुए आते देखा। भीड़ को चीरती वह मेरे बहुत निकट तक चली आई। किसीसे कुछ बोली नहीं, केवल राधा को तरेरती रही; मानो कच्चा ही चबा जाएगी।

पर राधा पर उसका कोई असर नहीं। उसने देखकर भी अनदेखा कर दिया। फिर वह वृषभानु के पास गई। उनसे उसने कुछ कहा भी और फिर चट्टान पर चोट खाई लहर की तरह लौट गई।

नारी का चोट खाया अहं विष धूम उगलता है। फिर कपिला ऐसा कुछ कर नहीं पाई। वह इंद्र-पूजन स्थल पर पहुँचते-पहुँचते तो जैसे बुझ-सी गई; क्योंकि उसने सोचा था, कंस पधारेंगे। पर वे नहीं आए। क्या वे सचमुच तटस्थ रह गए?

गोवर्धन-पूजन गर्गाचार्य ने ही आरंभ कराया। पहले मैंने गाय-बैलों की पूजा की। पशुओं का इतना विशाल मेला शायद पहली बार गोवर्धन पर लगा था। कुछ को मैंने और शेष को मेरे मित्रों ने अपने हाथ से चारा खिलाया; फिर ब्राह्मणों की पूजा आरंभ हुई। हर ब्राह्मण को मैंने उत्तरीय पहनाया, माल्यार्पण किया।

हमने इस बात का ध्यान रखा कि मैं किसी जाति विशेष की पूजा नहीं कर रहा हूँ, वरन् यह व्रज के ज्ञान की समग्रता की पूजा थी, इस धरती के समवेत चिंतन की पूजा थी। इसकी हर एक ने प्रशंसा की।...और जब 'माताभूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः नमो मातृ पृथिव्यै नमो मातृ पृथिव्यै' कहते हुए मैंने गोवर्धन की पूजा आरंभ की तब अद्भुत दृश्य था। एक साथ इतने ब्राह्मणों का गगनभेदी स्वर बहुत दूर तक छलकता चला जा रहा था।

आप विश्वास करें, पूरे माहौल पर मैं छा गया था। हर दृष्टि मुझे देख रही थी। और जब यज्ञ की प्रथम हवि मैंने दी, तब तो पूरे व्रज के लिए मैं ही राजा था, मैं ही ईश्वर था और मैं ही ब्रह्म था।

दिन भर यह पूजन चलता रहा। यद्यपि इसके लिए जो उगाही हुई थी, उसका एक बड़ा भाग उन मुट्ठी भर लोगों के पास था, जो यमुनातट पर चुपचाप इंद्रपूजा की औपचारिकता निभा रहे थे। हमारे पास तो उगाही का बहुत कम अंश आया था। फिर भी हम प्रसन्न थे। हममें उत्साह था। हम सफल थे। यह व्रज के किशोरों की सफलता थी।

उस समय न हमें कहीं कंस दिखाई पड़ा और न इंद्र।

किसी भी अच्छाई का आज तक बुराई ने सामना नहीं किया है। ऐसे अवसरों पर वह किसी कोने-अँतरे में दुबक जाती रही है। उस समय भी लगभग ऐसा ही हुआ। मेरे सारे विरोधी प्रभाहीन होकर शरद् में मेढक की तरह कहीं दुबक गए थे।

दिन का कोलाहल रात की काली चादर ओढ़कर जब सोने की तैयारी करने लगा तब लोग अपने-अपने घर लौटे।

इसके तीन-चार दिन बाद ही हमें एक प्राकृतिक विपदा का सामना करना पड़ा। एक संध्या बड़े जोर की आँधी आई। तृणावर्तवाली घटना याद हो आई। अनेक वृक्ष उखड़ गए। कच्चे घरों की खपरैल पीपल के सूखे पत्ते की तरह हवा में झकझोरे खाने लगी। झोंपड़ियाँ उड़ गईं। गोष्ठों (जहाँ गायें बाँधी जाती थीं) के छप्पर ऐसे गायब हुए जैसे कोई क्षुब्ध राक्षस उन्हें बटोरकर ले गया हो। गोशालाएँ नंगी हो गईं। गर्द-गुबार से एकदम अँधेरा हो गया। पिताजी ने बताया कि यह काली आँधी है।

औरों को क्या कहूँ, मैं स्वयं सोचने लगा कि यह दैवी प्रकोप है। इस मौसम में कभी आँधी नहीं आती थी।...और आई तो ऐसी कि आदमी तक उड़ने लगे। इंद्र के कोप की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक था।

घंटों आँधी चलती रही। इसके बाद ही वर्षा आरंभ हुई। चारों दिशाओं से काले-काले मेघ उमड़ने लगे। पूरे आकाश पर कालिख पुत गई।

वर्षा जो शुरू हुई, तो उसने रुकने का नाम ही नहीं लिया। मूसलधार बारिश होती रही। रात्रि का प्रथम प्रहर बीता, पर बारिश में कोई कमी नहीं; बल्कि तेज ही होती गई। मेरे माता-पिता भी घबरा गए। पिताजी तो इतने व्यग्र हो गए कि उन्होंने बड़े रुक्ष स्वर में मुझसे कहा, “यह सब तुम्हारी ही करनी का फल है, जो व्रज को भोगना पड़ रहा है।

न इंद्र का विरोध होता और न यह आपदा आती।”

अब क्या करूँ? ऊपरी प्रकोष्ठ से वर्षा की झड़ी देखता रहा। हवा इतनी तेज कि झकोरों से भीग चुका था। तब तक बलराम भैया आए।

“क्या सोच रहे हो? अब यदि इंद्र ने ललकारा है तो उसकी चुनौती का हमें सामना करना चाहिए।”

बलराम भैया की यह सबसे बड़ी विशेषता थी कि वह और परिस्थितियों में भले ही दूर रहें, पर विपत्ति में जमकर साथ ही नहीं देते थे वरन् अगुआई भी करते थे। इस समय उन्होंने ही अगुआई की।

“यदि चुपचाप खड़े-खड़े सोचते रहोगे तो एक प्रहर दिन चढ़ते-चढ़ते ब्रज बह जाएगा। इंद्र का प्रकोप भयंकर है।” बलराम बोले।

“तो क्या करूँ? कुछ समझ नहीं पा रहा हूँ।”

“इसी प्रकोष्ठ से भेरी (नगाड़ा) वादन आरंभ करो।” बलराम बोले।

उस समय परंपरा थी कि जब कभी कोई आपदा आती थी तब यहाँ से भेरी बजाई जाती थी। इसे सुनकर सब एकत्र होते थे और विपत्ति का सामूहिक सामना करते थे। किंतु इस घनघोर वर्षा में सब एकत्र कहाँ होंगे?

बलराम भैया का विचार था कि इसके लिए हमें मित्रों की सलाह लेनी चाहिए। बूढ़ों का आश्रय ढूँढ़ना चाहिए।

“किस बुजुर्ग का आश्रय ढूँढ़ूँ?” मैं अपने पर ही झुँझलाया। स्वयं पर झुँझलाना समस्या का समाधान न निकाल पाने की असमर्थता का द्योतक है और ऐसा मेरे जीवन में बहुत कम हुआ है।

“तुमने जिस गोवर्धन की पूजा की है, तुम उसीका आश्रय लो।” बलराम भैया ने सुझाया—और मैंने अंधकार में भटकती उस किरण को पकड़ लिया।

हम दोनों भाई उसी बारिश में ही बाहर निकले। मित्रों को जुटाया और देखते-देखते लोगों तक सूचना भिजवाई कि वे अपने ढोरों को लेकर गोवर्धन पर्वत पर चलें। पहले तो लोग असमंजस में पड़े। घर का मोह उन्हें छोड़ नहीं पा रहा था; पर जब उन्होंने जान लिया कि बिना निकले कल्याण नहीं है, तब लोगों ने निकलना आरंभ किया। भागते-भागते अपने ढोरों को लेकर लोग गोवर्धन पर पहुँचने लगे। हम लोगों ने उनके लिए गोवर्धन की गुफाओं में, कंदराओं में आश्रय ढूँढ़ना आरंभ किया।

आपको विश्वास नहीं होगा, इसी उधेड़बुन में ऐसी विशाल कंदराएँ मिलीं, जिनमें एक नहीं, कई ब्रज बड़ी सरलता से समा सकते थे। हमने सबके आश्रय की व्यवस्था की; क्योंकि हमने ही इंद्र के कोप को ललकारा था और हमें ही उसका सामना भी करना था।

एक और बात हुई। धरती के पानी से भर जाने के बाद जैसे विषैले और विषहीन जीव सभी एक स्थल पर इकट्ठे हो जाते हैं वैसे ही इस समय गोवर्धन पर मेरे पक्षी और विपक्षी सभी इकट्ठे हो गए थे। जो छिपे थे, वे भी बाहर निकल आए थे; क्योंकि यही एक ऊँचा स्थान था, जहाँ बाढ़ का पानी नहीं आ सकता था। यों सारा ब्रज लगभग डूब चला था।

मेरे पक्षधर विपत्ति में सहायता और ऐसी सक्रियता के लिए मुझे साधुवाद दे रहे थे। सुवासिनी की मुसकराहट भी अपरिमित आशीर्वाद बरसा रही थी। उसके दोनों बच्चे भी दल में शामिल हो लोगों को व्यवस्थित करने में लगे थे।

बाल, युवा और प्रौढ़ों तक ने स्वयं को पूर्णरूप से मुझपर छोड़ दिया; पर वृद्ध अब भी शंकित थे। उनकी आँखें आकाश पर लगी थीं। थमना तो दूर, वर्षा कम होने का नाम भी नहीं लेती थी। उन्हें बादलों की कड़कड़ाती बिजली में इंद्र का स्पष्ट क्रोध दिखाई देता था।

पर श्रुतिकेतु परम शांत और आश्वस्त-से दिख रहे थे। उन्होंने वृद्धों को समझाते हुए कहा भी—“जो गरजता है,

वह कभी-न-कभी जरूर चुप हो जाता है। बरसने की नियति बह जाना ही है; क्योंकि गरजना और बरसना निरंतर चलनेवाली प्रक्रिया नहीं है। शाश्वत तो है—मौन, चुप, शांति।”

मेरे विरोधियों की स्थिति विचित्र थी। वह मेरे आश्रय में आकर भी मेरा विरोध कर रहे थे। मेरे मन में तो एक बार आया कि साफ-साफ कह दूँ कि तुमने तो इंद्र की पूजा की थी, फिर तुम्हें यह विपत्ति क्यों सहनी पड़ रही है? पर यह विवाद का समय नहीं था। मैं चुप ही रह गया।

कपिला मेरे खिलाफ बोले ही जा रही थी—“अब तक यह नंद का छोरा आसमान अँगुली पर उठाए था, अब गोवर्धन अँगुली पर उठाने चला है।”

□

तेरह

कंस का क्रोध भभकता रहा और छंदक उसमें घी छोड़ता गया।

“महाराज, लोग उसे ही अब इंद्र समझते हैं। वही उनका भगवान् है, वही उनके लिए ब्रह्म है। गोकुल-वृंदावन भले ही आपके राज्य की सीमा में हों, पर वहाँ के निवासियों के हृदय पर कन्हैया का राज है।...और एक बात आप जानते हैं?”

“क्या?”

“खैर, जाने दीजिए। समय आने पर स्वयं जान जाइएगा।”

वह कदाचित् कहना चाहता था कि यह निश्चित हो गया है कि देवकी का आठवाँ बेटा वही है। पर रहस्य को रहस्य रहने दिया और हँसता रहा। उसकी हँसी का हर छींटा कंस के क्रोध के जलते तवे पर छनछनाता रहा और भाप हो जाता रहा। इस वाष्प की ऊष्मा का अनुभव राजमहल का कोना-कोना करने लगा था।

छंदक बोलता जा रहा था—“इंद्र का भी कोप भयंकर था। देखा आपने? सारा व्रज बह जाता। शायद इतनी भयंकर वृष्टि और बाढ़ का सामना व्रज ने अपने जीवन में नहीं किया था। पर एक बात समझ में नहीं आती।”

“क्या तुम बार-बार पहेलियाँ बुझाते हो!” कंस झुंझलाया।

“यही कि जिन लोगों ने इंद्र की पूजा की थी, वे भी वर्षा और बाढ़ की चपेट में क्यों आ गए? इंद्र ने उनकी रक्षा की व्यवस्था क्यों नहीं की?”

“जौ के साथ घुन नहीं पिसता क्या!” कंस का क्रोध बोला, “और तुम्हें मालूम है कि इस बार इंद्र-पूजन में मैंने हवि नहीं दी थी। मेरी हवि के बिना इंद्र की पूजा पूरी हुई कहाँ, जो वह उनपर प्रसन्न होता!”

बहुत दबाने पर भी, इतना सुनते ही छंदक की हँसी फूट पड़ी। कंस के अज्ञान पर नहीं, उसके क्रोध पर भी नहीं वरन् उसके उस अहं पर, जिसकी ऐंठ जलने के बाद भी ज्यों-की-त्यों बनी थी।

पर यह अहं ऊपरी था, जिसकी राख भर गरम लगती थी, पर जिसके नीचे कोई चिनगारी नहीं थी। नीचे तो भय था, आतंक से काँपता कंस का हृदय था। वह सोचता रहा, अब इंद्र भी परास्त हो गया। लोगों ने उसे ईश्वर मान लिया। अब क्या होगा!

कंस तो सीधे-सीधे हमपर चढ़ाई करने के लिए उतावला हो उठा। गोकुल को निगलने के लिए उसकी व्यग्रता मुँह बाए थी कि वृत्घ्न ने उसे सँभाला—

“इतना उतावला होने से क्या लाभ?”

“अब उसे परास्त कर देना आवश्यक है।” कंस बोला।

“आवश्यक तो अब ही नहीं, पहले भी था। आपने प्रयत्न भी किए; पर वह कहाँ परास्त हुआ!”

“अब तक तो हमने व्यक्तिगत प्रयत्न किए थे, अब सामूहिक करूँगा। हमारी सेना गोकुल पर चढ़ाई करेगी।”

छंदक ने बताया कि इतना सुनते ही वृत्घ्न हँसने लगा—“अपनी ही राज्य सीमा में अपनी ही सेना द्वारा चढ़ाई। अपने घर में चोर भी सेंध नहीं लगाता, महाराज।” उस समय कंस अपने साले का मुँह देखता रह गया था; पर वह बोलता जा रहा था—“शायद आप जानते हों कि सामूहिक विरोध में विद्रोह की संभावना अधिक रहती है। जब सेना प्रयाण करती है तब उसे जन समर्थन चाहिए—और जन समर्थन की दशा तो आप देख ही रहे हैं।...वृद्धों ने गोवर्धन पूजा का विरोध किया, किंतु कितने लोग उनके साथ गए!”

“इसका मतलब है कि हमारी जनता ही हमारे विरुद्ध विद्रोह कर देगी!” कंस की व्यग्रता चिंतित हुई।

“विद्रोह हमेशा अपनी ही जनता द्वारा होता है। दूसरे के राज्य की जनता विद्रोह नहीं, आक्रमण करती है।” वृत्घ्न ने कहा।

छंदक ने बताया कि वृत्घ्न किसी सलाहकार की तरह नहीं वरन् राजनीतिक दार्शनिकों की तरह बोल रहा था। छंदक ने कभी उसे इतना समझदार नहीं सोचा था।

कहते हैं, कंस उस समय एकदम सकते में आ गया था। इसके बाद वह गुमसुम-सा रहने लगा। उसे अपनी छाया भी पराई लगने लगी। वह प्रासाद की प्राचीरों से भी विरोध उगता देखने लगा। उसकी मानसिकता उस जहाज जैसी हो गई, जो समुद्र में नहीं वरन् उसकी कल्पना में डूबता अनुभव करता है।

इसी बीच एक दूसरी परिस्थिति और पैदा हो गई।

जरासंध की चक्रवर्ती बनने की आकांक्षा ने एक अश्वमेध यज्ञ करने का संकल्प लिया। अश्वमेध के घोड़े के साथ सेना भेजने की तैयारी होने लगी। जरासंध ने चारों दिशाओं में सेना भेजने की योजना बनाई और उसका नेतृत्व भी अपने पुत्रों को सौंपा।

तब वृत्घ्न ने ही अपने पिता के समक्ष एक सुझाव रखा—“क्यों नहीं अश्वमेध की सेना का सेनापति जीजाजी को ही बना दिया जाए?”

“वह तो स्वयं अपने राज्य में परेशान हैं।”

“इसीलिए तो लोगों की राय है कि उन्हें अपने राज्य से कुछ दिनों के लिए हट जाना चाहिए। मन आन-मान हो जाएगा।...व्यग्रता झेलने से कहीं अच्छा है, व्यग्रता को उतार फेंकना।”

वृत्घ्न के प्रस्ताव पर जरासंध पहले तैयार नहीं हुआ। उसका स्पष्ट विचार था कि राजा के अभाव में मथुरा अराजक हो जाएगी।...और ऐसी स्थिति में कुछ भी हो सकता है।

वृत्घ्न मथुरा में कुछ दिनों रहकर यहाँ की स्थिति अच्छी तरह समझ चुका था। उसने अपने पिता से कहा, “जीजाजी का वहाँ रहना और न रहना दोनों बराबर है। वह उस माहौल में पता नहीं क्या सोचा करते हैं। उनकी मनःस्थिति सामान्य नहीं रह गई है।”

“यह तुम कह रहे हो न!” जरासंध बोला।

“नहीं, मेरी दोनों बहनें अस्ति और प्राप्ति भी ऐसा ही सोचती हैं।” वृत्घ्न ने कहा।

तब जरासंध राजी हो गया; पर आंशिक रूप से। उसका विचार था—“कुछ दिनों के लिए कंस को हटाया जा सकता है; पर अधिक दिनों के लिए उनका मथुरा से दूर रहना घातक होगा।”

उसने अन्य दिशाओं के लिए अपने पुत्रों को ही सेनापति रहने दिया; किंतु मथुरा के आसपास के राज्यों में अश्वमेध के अश्व का नेतृत्व अपने दामाद को सौंप दिया, जिससे मथुरा से दूर रहकर भी कंस मथुरा से दूर न रहे।

कुछ दिनों के लिए कंस ने मथुरा छोड़ दी, पर मथुरा उसे छोड़ न सकी। उसकी समस्या उसे छोड़ न सकी। वह परछाई की तरह उसके पीछे लगी रही।

परछाई की भी विचित्र स्थिति है। जब उससे आदमी भागता है तब वह उसके पीछे पड़ी रहती है—और जब वह उसका सामना करने के लिए तैयार हो जाता है तब वह उसके आगे भागती है।

कंस के मथुरा छोड़ते ही भीषण स्थिति उत्पन्न हुई। छंदक की सक्रियता बढ़ गई। उसने प्रचार आरंभ किया कि अब कंस क्या आएगा। जरासंध ने उसे अपना घरजमाई बना लिया। इसीमें उसकी सुरक्षा थी।...यह सबकुछ नारद की भविष्यवाणी का ही प्रभाव है। वह सोचता है कि यहाँ से हटकर मृत्यु के घेरे से निकल जाऊँगा। उसे नहीं मालूम

कि मौत से भागनेवाले के पीछे मौत और तेजी से दौड़ती है।

कंस प्रद्योत को कहकर चला गया था, पर सिंहासन तो खाली रह नहीं सकता। राजमुकुट बिना राजा, राजा बिना सिंहासन, सिंहासन बिना राज्य कैसा!

छंदक ने फिर चिनगारी बोनी आरंभ की। वह सीधे प्रद्योत के पास पहुँचा और स्पष्ट प्रश्न किया—“क्या मैं जान सकता हूँ कि आप क्या हैं?”

प्रद्योत असमंजस में पड़ गया कि वह क्या पूछ रहा है।

‘अरे, मैं आदमी हूँ।’ वह कहना चाहता था कि छंदक ने इस बार स्वयं को और स्पष्ट किया—“मैं जानना चाहता हूँ कि राज्य में आपकी स्थिति क्या है?”

“मैं महामात्य हूँ, इसे तो जग जानता है।” प्रद्योत मुसकराया।

“महामात्य तो किसी राजा का होता है न? आप किस राजा के महामात्य हैं?”

“महाराज कंस के।”

“कंस तो सिंहासन पर है नहीं।”

“तो मैं सिंहासन का महामात्य हूँ।” प्रद्योत मुसकराया।

“किस सिंहासन के? खाली पड़े सिंहासन के? खाली पड़े सिंहासन के महामात्य का अधिकार भी खाली हो जाता है, महाराज!” छंदक एक रहस्यमय हँसी हँसने लगा। “इसीलिए तो कहता हूँ कि खाली पड़े सिंहासन पर किसीको बैठाओ, अन्यथा सबकुछ खाली ही हो जाएगा।”

“पर इस संबंध में महाराज ने कुछ भी निर्देश नहीं दिया है।” प्रद्योत सोच में पड़ गया।

“यही तो बात समझ में नहीं आती। यदि उन्होंने कोई निर्देश नहीं दिया तो तुम्हें स्वयं परिस्थिति बताकर उनसे निर्देश लेना चाहिए था। यदि निर्देश न मिलता तब पदत्राण ही ले लेते।”

“तुम्हारा तात्पर्य?” प्रद्योत चकराया।

“तात्पर्य स्पष्ट है। भरत ने अयोध्या का सिंहासन खाली नहीं छोड़ा था। राम नहीं लौटे तो सिंहासन पर उनकी खड़ाऊँ ही लाकर रख दी और शासन चलाते

रहे। पर सिंहासन खाली नहीं था।...और आज तो आपके कथनानुसार, मथुरा का सिंहासन खाली है।”

“इसका मतलब है कि राजा किसी कार्यवश भी कहीं नहीं जा सकता?” प्रद्योत बोला।

“जा क्यों नहीं सकता; पर सिंहासन का दायित्व किसी पर सौंपकर।” छंदक ने कहा और प्रद्योत चिंतन में डूब गया।

मामूली सी बात को भी गंभीर बना देना छंदक के बाएँ हाथ का खेल था। उसने इस समय भी ऐसी गंभीरता पैदा कर दी कि हर किसीको मथुरा का सिंहासन खाली दिखाई देने लगा। उसने कंस के भाइयों से भी इसी प्रकार की बातें कीं।

“इसमें हम लोग क्या कर सकते हैं?” न्यग्रोध—कंस के एक भाई—ने कहा, “इसपर तो मंत्रिपरिषद् को विचार करना चाहिए।”

“मंत्रिपरिषद् को आपके भाई ने यदि जीवित छोड़ा होता तब तो! वह तो लगभग मर चुकी है। महाराज तो महामात्य से भी बहुधा राय नहीं लेते थे, मंत्रिपरिषद् तो बहुत दूर की वस्तु है।”

“राय न लेने से क्या हुआ? मंत्रिपरिषद् का अस्तित्व तो है ही। बुला लिया जाए उसे।” न्यग्रोध ने कहा।

“पर कौन बुलाएगा? और काम न लेने से तो असि भी मुरचा खाकर निरर्थक हो जाती है। यह तो मंत्रिपरिषद् है।”

न्यग्रोध भी सोचने लगा।

अब छंदक कंस के दूसरे भाई कंक से अकेले में मिला। उसके अहं को उभारा—“तुम्हीं क्यों नहीं गद्दी पर बैठ जाते? हाथी के मस्तक और सिंहासन को कभी खाली नहीं छोड़ना चाहिए।”

“पर मैं कैसे बैठूँ?”

“क्यों? महाराज के बड़े भाई हो। सिंहासन के उत्तराधिकारी हो। तुम्हारा तो अधिकार भी है।”

“यदि ऐसा होता तो भैया स्वयं मुझे सहेजकर गए होते।”

“तो आप क्या समझते हैं? भैया आपका विश्वास नहीं करते?” छंदक ने अपने उद्देश्य के अंतिम छोर पर छलाँग लगाई।

सोच में डूबकर भी कंक सँभला—“यह मैं कैसे कह सकता हूँ!”

“तब क्या करना चाहिए?” छंदक ने फिर उसे कुरेदा।

“अभी आपने राम और भरत का उदाहरण दिया है न!” कंक बोला, “भैया का धनुष या कोई आयुध सिंहासन पर रखकर शासन देखना चाहिए।”

“किंतु भरत का उदाहरण आपके लिए ठीक नहीं है।” छंदक ने कहा, “भरत ने चरण पादुका माँगी थी और राम ने दी थी। वह राम के व्यक्तित्व का प्रतीक हो गया। ऐसा कुछ तो कंस ने तुम्हें दिया नहीं है। फिर उसे रखकर शासन चलाने का मतलब क्या?”

कंक चुप रह गया। बीज तो मन में पड़ ही गया था। वह मौन सोचता रहा कि अवसर तो अच्छा है, जब सिंहासन मिल सकता है। पर वह साहस जुटा नहीं पाया।

कंस ने यह मौलिक भूल की थी कि बिना किसीको शासन का भार सौंपे वह चला गया था। सबकुछ व्यग्रता और जल्दी में हुआ था। वृत्घ्न ने भी इस ओर ध्यान नहीं दिया। छंदक ने शासन के संदर्भ में रिक्तता का बोध कराने में एड़ी-चोटी का पसीना एक कर दिया। पूरे नगर में चर्चा हो गई कि सिंहासन खाली है। राजाविहीन शासन और सिरहीन धड़ की सार्थकता जग-जाहिर थी। छंदक की बुद्धि ने प्रजा को एक व्यर्थ की चिंता से जकड़ दिया।

अब हमारा शासक कौन? लोगों की चिंता का विषय था।

जब भी मथुरा की अस्मिता झंझा से घिरती, नाव डगमगाती, अंधक बाहुक कहीं-न-कहीं से प्रकट हो जाता। शांत पड़े ज्वालामुखी की तरह जब वह फूटता तब लावा ही बरसता। उसने कहना शुरू किया कि शासन पतवारविहीन हो गया। अब भगवान् ही भला करे। हमें अराजक स्थिति में छोड़कर राजा अपने श्वसुर को चक्रवर्ती बनाने चला गया है। उसके भाई भी गद्दी पर बैठने का साहस जुटा नहीं पा रहे हैं। हर व्यक्ति अपने मन का राजा हो गया है।

उस बूढ़े के प्रयत्न ने छंदक की आग को हवा दी। अराजकता की लपटें अब अधिक तेज हो गईं। किसीकी कोई सुननेवाला नहीं रहा। सेना में भी अराजकता फैल गई।

कंस के भाइयों के मस्तिष्क को छंदक ने पहले ही विषाक्त कर दिया था। वे भी लगभग उदासीन ही थे। एकमात्र प्रद्योत रह गया था, जो स्थिति को नियंत्रित करने की चेष्टा कर रहा था; पर अकेला चना क्या भाड़ फोड़ता! प्रद्योत ने भी कंक और न्यग्रोध से एकांत में बातें कीं। उनके कर्तव्य का उन्हें बोध कराने की चेष्टा की। तब कंक बड़े उखड़े-उखड़े मन से बोला, “क्यों नहीं बाण और भौम को बुला लिया जाए! भैया के मित्र हैं। दुःख-सुख के साथी हैं। इस समय काम नहीं आएँगे तो कब काम आएँगे!”

प्रद्योत को कंक की वाणी में स्वयं पर अविश्वास के साथ-साथ व्यंग्य की भी गंध लगी; पर वह क्या कर सकता था। आदेश देने की स्थिति तो नहीं थी, उसने सूचना मात्र दी कि मैंने बाण के यहाँ दूत भेजा था। उसे जरासंध

महाराज ने बुलवा लिया है। वह तो उनका रिश्तेदार ही है। वह तो गया ही है, अपने मित्र भौम को भी लेता गया।

मथुरा एक बार डगमगा गई और ऐसे तूफान की चपेट में आई कि चाणूर जैसे कंस के विश्वासपात्र मल्ल राजा होने का सपना देखने लगे।

□

ऐसी भयानक अराजक स्थिति की कल्पना नहीं की गई थी। न कोई राजकीय व्यवस्था रह गई थी और न किसीका उसपर विश्वास शेष था। विचित्र स्थिति थी; न विद्रोह था, न अवज्ञा थी वरन् राजाज्ञा का ही अभाव था।

इस स्थिति का लाभ उठाते हुए शूर, अंधक, वृष्णि, भोज आदि यादवों के इक्कीस वंश मुक्त हो चले। जब स्थिति एकदम नियंत्रण के बाहर हो गई तब प्रजा का ही एक वर्ग चिल्लाने लगा—“कारागार का द्वार खोल दो और पुराने महाराज उग्रसेन को ही सिंहासन पर बैठाओ।”

गर्गाचार्य ने बताया कि उग्रसेन के वापस लाने के इस आंदोलन के पीछे भी छंदक और बूढ़े अंधक बाहुक का हाथ था। वे चाहते थे कि उग्रसेन को गद्दी पर बैठाकर कंस को सदा के लिए शासनविहीन कर दिया जाए। उन्होंने अपनी योजना से महामात्य को भी अवगत कराया और कहा, “आप महादंडनायक को आदेश करें और महाराज उग्रसेन को मुक्ति दिला दें।”

“यह कैसे हो सकता है?” प्रद्योत ने कहा।

“क्यों नहीं हो सकता?”

छंदक ने बताया कि इतना होने पर भी प्रद्योत टस-से-मस न हुआ। उसके कर्तव्यबोध की सराहना करनी पड़ेगी। उसने अंधक बाहुक का चरण स्पर्श करते हुए कहा, “आप हमारे वरेण्य हैं। जो कुछ आप कहेंगे, उसे तो करना ही होगा। पर जरा समझकर आदेश दीजिएगा; क्योंकि हमें केवल प्रजा या महाराज कंस का ही सामना नहीं करना है, इतिहास भी हमसे हमारे किए का हिसाब माँगेगा। कालदेवता के प्रश्नों का जवाब देना होगा, तब क्या कहूँ!”

अंधक बाहुक इतना सुनकर चुप हो गया। आश्चर्य है कि मेरे जन्म के समय मुझे कारागार से निकालने के षड्यंत्र में शामिल रहनेवाला प्रद्योत अपने कर्तव्यबोध के संबंध में इतना जागरूक कैसे हो गया। छंदक का सोचना था कि परिस्थितियों की मार खाते-खाते व्यक्ति की अवरोधक शक्ति समाप्त हो जाती है, तब वह हर स्थिति के समक्ष सिर झुकाकर जीने का आदी हो जाता है।

प्रद्योत इसी दशा पर पहुँच चुका था।

जनता में भीषण उबाल था। वह ज्वार के समुद्र की तरह उफान मार रही थी। उसकी स्पष्ट धारणा थी कि इस समय महाराज उग्रसेन को कारा से मुक्त कराकर सिंहासन पर बैठा देना चाहिए।

छंदक प्रसन्न था। जब वह गर्गाचार्य से मिला तब उसने हँसते हुए कहा, “देखा आपने, मेरी फेंकी मामूली सी रस्सी साँप बनकर फुफकारने लगी।”

सुना है, छंदक अपने कुछ साथियों के साथ कारा में उग्रसेन से भी मिला। उसे तो ऐसा लग रहा था कि क्रांति के पूर्ण होने का समय आ गया।

उसने उग्रसेन से स्पष्ट कहा, “महाराज, अब इससे अच्छा अवसर फिर नहीं आने वाला है। सिंहासन खाली है, जनता आपके दर्शन की उतावली। सेना में भी अधिकांश आपके पुत्र से नाराज हैं। आप चलिए और गद्दी पर विराजिए।”

“किसलिए?” सबकुछ सुन लेने के बाद उग्रसेन ने बड़े शांतभाव से सोचते हुए पूछा।

“अपने पुत्र के कुकृत्यों का बदला लेने के लिए।”

“पुत्र है ही नहीं और उससे उसके कुकृत्य का बदला ले लूँ!” उग्रसेन हँसे। बड़ा धीर और गंभीर था उनका हास्य—“राजधर्म अनुमति नहीं देता कि राजा के अभाव में उसकी सत्ता हथिया ली जाए। नैतिकता नहीं कहती कि इस परिस्थिति में सिंहासन प्राप्त करूँ।”

“जिस ढंग से आपको सिंहासन से हटाया गया था, क्या वह नैतिक था? जिस प्रकार धोखा देकर आपको कारा में डाला गया था, क्या वह नैतिक था?” छंदक थोड़ा आवेश में आया।

“वह सब नैतिक नहीं था।” उग्रसेन ने कहा, “इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अनैतिकता को समाप्त करने के लिए मैं भी अनीति का सहारा लूँ। मैल से मैल नहीं धोया जाता, छंदक! मैल को धोने के लिए भी स्वच्छता चाहिए।”

इतना सुनना था कि छंदक आवेश में उठ खड़ा हो गया—“अच्छा, तो मैं चलता हूँ।”

“अरे, इतनी सी बात पर चल पड़े! आखिर क्यों?”

“क्योंकि मैं भी कारागार में अनैतिक ढंग से आया हूँ। चलो, जल्दी से स्वयं को सुधारूँ; वरना जिसके लिए चोरी कर रहा हूँ, वही चोर कहने लगेगा।”

छंदक का कटाक्ष तीखा था। पर अपनी प्रकृति के अनुसार उग्रसेन तिलमिलाए नहीं वरन् छंदक को ही समझाने की चेष्टा की। किंतु छंदक अपने कथन पर अडिग था।

“जनता को क्या नहीं भोगना पड़ा आपके अभाव में? स्वयं आपका परिवार इसका भुक्तभोगी है। आपकी पुत्री और दामाद की क्या दुर्दशा नहीं हुई? आपके नातियों की निरंतर हत्या की गई। फिर भी आपकी आँखें नहीं खुलती तो मैं क्या करूँ? अंधे को दृष्टि दी जा सकती है, पर रोशनी नहीं।”

“रोशनी उसके पास है।” उग्रसेन ने मुसकराते हुए कहा, “उसी रोशनी के सहारे तो वह जी रहा है।” महाराज की रहस्यमय मुसकराहट में छंदक उलझने लगा; पर वह पूछ नहीं पाया कि वह रोशनी क्या है।

महाराज स्वयं बोले, “तुम भी उस रोशनी को जानते हो।...और वह महर्षि नारद की भविष्यवाणी। मैं तो उसीको सुन रहा हूँ, उसीको देख रहा हूँ; फिर मुझे औरों को देखने की आवश्यकता क्या!...जब हमारी दृष्टि मात्र एक ओर है तब हम औरों के लिए अंधे भी हो सकते हैं। पर उसकी हमें परवाह नहीं है। हम बस इतना जानते हैं कि हमारे पास रोशनी है। और छंदक, तुम भी उस रोशनी में देखने की कोशिश करो।”

“इस रोशनी को मैं ही नहीं, सारी प्रजा सुरक्षित रखे है!” छंदक बोला, “पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उस भविष्यवाणी के सहारे हम हाथ पर हाथ धरे बैठे रहें।”

“तो तुम नियति को ही हाथ में लेना चाहते हो!” उग्रसेन की आवाज गंभीरता के शीर्ष बिंदु पर थी—“अच्छा हो कि तुम नियति के ही हाथ में रहो।”

कहते हैं, इसके बाद छंदक उग्रसेन से फिर कभी कारागार में नहीं मिला।

□

इस बीच एक और घटना घटी।

एक दिन अचानक प्रातःकाल सूचना मिली कि प्रलंब गंभीर रूप से रुग्ण हो गए हैं। वह आज सोकर जब उठे तो बिल्कुल स्वस्थ थे। नित्यकर्म से निवृत्त होने के बाद उन्होंने अग्निहोत्र भी किया। किंतु जब वे यज्ञ समाप्त करके उठने लगे तो उन्हें चक्कर जैसा आ गया—और फिर संज्ञाशून्य होकर गिर पड़े।

मथुरा का ऐसा माहौल था जिसमें पक्षी ही नहीं, अंडे भी उड़ते थे। उड़ गया कि प्रलंब चल बसे। लोग उनके आवास पर पहुँचने लगे, अपने पूर्व महामात्य के अंतिम दर्शन के लिए।

जब गर्गाचार्य और छंदक वहाँ पहुँचे, काफी भीड़ थी। एक उदास शांति सब पर छाई थी। आपस में सुगबुगाहट भी

नहीं। आचार्यजी ने बताया कि छंदक की तीव्र दृष्टि ने उस शांति को भाँप लिया।

“आचार्यजी, यह मृत्यु की नहीं वरन् मृत्यु के पूर्व की शांति है।”

राजवैद्य ने भीतर से निकलकर लोगों को समझाया—“आप लोग घबराएँ नहीं। आपके पूर्व महामात्य अभी जीवित हैं, पर उनकी अवस्था गंभीर है। उनपर पक्षाघात का आक्रमण हुआ है। ओषधि से अधिक आपकी प्रार्थना की उन्हें आवश्यकता है। आप लोग अब यहाँ खड़े रहने का कष्ट न करें। अपने-अपने स्थानों पर जाएँ और भगवान् से उनके दीर्घ जीवन की कामना करें।”

अब भीड़ में हरकत हुई और एक भुनभुनाहट-सी पसर गई।

“यह पक्षाघात भी भयानक रोग है। इसके घेरे में फँसा आदमी कभी मुक्त नहीं होता।” किसीने कहा।

“किसी विषधर की विषैली फुफकार जब हवा में तैरते हुए किसीको छू जाती है तब उसपर इस रोग का आक्रमण होता है।” यह एक दूसरी आवाज थी—“पूर्ण स्वस्थ होना कठिन है।”

“पर राजवैद्य प्रयत्न कर रहे हैं। उनकी चिकित्सा जरूर कारगर होगी।”

“यदि उन्हें अपनी चिकित्सा का भरोसा ही होता तो वे ओषधि से अधिक हमारी प्रार्थनाओं पर क्यों विश्वास करते?”

“पर अब महाराज की संज्ञा लौट आई है। वैद्यराज की ओषधि काम कर रही है।”

“सबकुछ आप करिए, पर बिना उसके प्रलंब अच्छे नहीं हो सकते।” एक वृद्ध की यह ध्वनि संकेत से कुछ और कह रही थी। उसका संकेत निश्चित रूप से मेरी ओर था। पर शायद किसीने समझा नहीं। अवसर मिलते ही छंदक ने अपना कार्य आरंभ कर दिया।

“मैं समझ रहा हूँ, पंडितजी, आपकी बात; पर कन्हैया को यहाँ लाएगा कौन?” छंदक बोला, “वह तो अद्भुत है। मेरी आँखों में रोशनी उसने दी। कालिय नाग को परास्त उसने किया। इंद्र का गर्व उसने चूर किया। उसमें चमत्कार है। वह दैवी शक्ति लेकर अवतरित हुआ है। इसमें संदेह नहीं कि उसकी कृपा से प्रलंब भी स्वस्थ हो सकते हैं। पर दुःख है, वह न तो यहाँ लाया जा सकता है और न पूर्व महामात्य वहाँ ले जाए जा सकते हैं।”

“क्यों?” वृद्ध ने पूछा।

“संप्रति कंस की आज्ञा नहीं है कि कन्हैया को मथुरा में पैर धरने दिया जाए। इधर प्रलंब को बिस्तर से हिलने तक की मनाही राजवैद्य ने कर दी है।...फिर भी हम लोग चेष्टा करते हैं।” इतना कहते हुए छंदक गर्गाचार्य को लेकर प्रलंब के आवास में घुस गया।

गर्गाचार्य ने हमें बताया कि उस समय प्रलंब की चेतना ने उन्हें पहचान अवश्य लिया, पर वे कुछ बोल पाने की स्थिति में नहीं थे। हमें देखते ही उनकी आँखें झरने लगीं। पता नहीं कौन सा संताप पिघलकर बह चला कि थमने का नाम ही नहीं लेता था। आचार्यजी उनका हाथ अपने हाथ में लिये काफी देर तक सिरहाने बैठे उन्हें सांत्वना देते रहे—“घबराइए नहीं, सब ठीक हो जाएगा। विपत्ति जैसे आई है वैसे ही चली जाएगी।”

पर उनकी आँखों ने टपकना बंद नहीं किया।

पूरे समय तक छंदक चुपचाप पैताने बैठा रहा, एकटक उनकी आकृति निहारते हुए। संध्या के ढलते सूर्य की निस्तेज होती किरणों की कालिमा में मृत्यु की छाया उसे स्पष्ट दिखाई दी।

“ओषधि तो ठीक ही चल रही है; पर मेरी इच्छा है कि मैं आपको कन्हैया के चरणों में ले चलूँ।” छंदक ने कुछ ऊँचे स्वर में कहा; क्योंकि मृत्यु के निकट खड़े व्यक्ति की इंद्रियों की शिथिलता का उसे ज्ञान था।

इतना सुनते ही प्रलंब ने आँखें मूँद लीं। ऐसा लगा जैसे वह किसी चिंतन में डूब गए हों; फिर थोड़ी देर बाद

उनकी आवाज लड़खड़ाई—“मुझे अपने कर्मों का फल भोगने दीजिए।”

उन्हें देखने से स्पष्ट लग रहा था कि वे रोग से अधिक अपने अशांत मन से व्यग्र हैं। उनसे कुछ बातें करना दुखते घाव पर अँगुली धरना था। अतएव आचार्य और छंदक दोनों ने उनके दीर्घ जीवन की कामना की और फिर मिलने का आश्वासन दे वहाँ से हट गए।

उस कक्ष के बाहर निकलते ही छंदक ने प्रलंब के पुराने सेवक मल्ल को पकड़ा और उसे बाहरी उद्यान तक ले आया।

“आखिर कल तक तो यह बिल्कुल ठीक थे। कुछ बात समझ में नहीं आती!” मल्ल से कुछ विशेष जानने की नीयत से छंदक ने कहा।

“यही तो हम लोगों को भी आश्चर्य है!” मल्ल कुछ सोचते हुए बोला, “इधर दो-तीन दिनों से वे कुछ परेशान-से थे।”

“आखिर क्यों?”

“उन्होंने कभी कोई विशेष बात तो नहीं बताई। किंतु जब से महाराज उग्रसेन को कारागार से छुड़ाकर सिंहासन पर बैठाने की बात ने जोर पकड़ा तब से उनकी परेशानी बढ़ गई थी।” मल्ल ने कहा।

“पर इसमें परेशान होने की कोई बात तो नहीं दीखती!” आचार्यजी बोले।

“बात कुछ और है।” मल्ल इतना कहकर उन दोनों को बगल की झाड़ी की ओर एकांत में ले गया; जैसे कोई रहस्य की बात बताने वाला हो। बोला, “आपको शायद मालूम नहीं है, उग्रसेन को कारागार में डालने में कंस का साथ हमारे स्वामी ने भरपूर दिया था।”

“इसे तो मैं जानता हूँ।” गर्गाचार्य ने कहा, “यदि प्रलंब का सहयोग न होता तो कंस को कभी गद्दी न मिलती। कंस ने सबसे पहले अपने पिता के महामात्य को ही तो मिलाया था।”

“ऐसा!” छंदक का मुँह खुला का खुला रह गया—“विश्वास नहीं होता कि यह बूढ़ा भी कभी ऐसा नीच रहा होगा।”

“व्यक्ति कभी अच्छा और बुरा नहीं होता, छंदक! व्यक्ति तो नियति का पुष्प है। इसका भी निर्णय नियति ही करती है कि उसमें विष फल लगे या अमृत फल।”

आचार्यजी ने बताया कि रहस्य का उद्घाटन होते ही प्रलंब के प्रति छंदक की धारणा में एकदम बदलाव आया। उसे रोकना आवश्यक था। उन्होंने कहा, “उस समय स्थिति ऐसी ही थी, छंदक, कि प्रलंब को कंस का समर्थन करना पड़ा।”

“यदि वह नहीं करते तो कौन सा पहाड़ टूट पड़ता?”

“हो सकता था, कंस उन्हें स्वयं कारागार में डाल देता, या जान से मार डालता या उग्रसेन की ही वह हत्या कर देता।” आचार्यजी बोले, “और उग्रसेन की हत्या की संभावना अधिक थी। ऐसी दशा में उन्हें कारा में डालकर कम-से-कम उनके प्राणों की तो रक्षा की गई।”

“इतना होने पर भी कंस ने उनके साथ ऐसा व्यवहार किया!” छंदक बोला।

“यह तो कंस का चरित्र ही है। जो अपने जन्म देनेवाले का नहीं हुआ, वह प्रलंब का कब होता!”

पर लंबी बातों का अवसर नहीं था। सुनना था मल्ल को और ये दोनों महानुभाव अपनी बातों में ही उलझ गए। इसका ध्यान आचार्य को आया। वे तुरंत मल्ल से बोले, “तो तुम कुछ कह रहे थे।”

“दो दिन पहले कुछ लोग आए थे। उन्होंने हमारे स्वामी से कहा कि ‘यदि आप निवेदन करें तो उग्रसेन पुनः

सिंहासन ग्रहण कर सकते हैं।’

“ ‘मैं किस मुँह से उनसे कहूँ?’ मेरे स्वामी बोले।

“ ‘उसी मुँह से, जिसपर लगी कालिमा अब लोगों की दृष्टि से ओझल हो चुकी है; लेकिन आपको वह और गहरी दिखाई दे रही है। उसको हमेशा के लिए धो डालने के लिए कहिए।’ इसपर हमारे स्वामी फूट-फूटकर रोने लगे थे और बड़ी वेदना से कहा था—‘यह ऐसी कालिख है, मित्र, कि इसे मृत्यु भी नहीं धो सकती।’ पश्चात्ताप अपनी चरम सीमा पर मौत के अँधेरे के सिवा और कुछ नहीं छोड़ता। वे इस समय उसी अँधेरे में खो रहे थे।”

“मित्र!” छंदक ‘मित्र’ संबोधन पर विचार कर रहा था।

“तुम्हारे स्वामी के किसी मित्र ने ऐसी बातें कही थीं?” उसने पूछा।

“लगता तो ऐसा ही है।”

“तब तो उसकी अवस्था भी अधिक रही होगी?”

“जी हाँ, वह हमारे स्वामी से भी वृद्ध थे। लकुटी के सहारे किसी तरह से आए थे।” मल्ल बोला।

छंदक की जिज्ञासा उस व्यक्ति के संबंध में बढ़ी—“तुम नाम बता सकते हो?”

“नाम तो इस समय याद नहीं आता।” वह सिर खुजलाते हुए बोला, “पर मैंने अपने स्वामी को दो-एक बार कहते सुना अवश्य था।” उसने अपने मस्तिष्क पर और जोर डाला—“बाहन, बाहक—कुछ ऐसा ही।”

“अंधक बाहुक तो नहीं?” छंदक ने कहा।

“हाँ-हाँ, यही नाम है।” मल्ल ने स्वीकार किया।

छंदक ने मुसकराते हुए गर्गाचार्य को देखा। वह मुसकराहट बहुत कुछ कह गई।

□

राज्य में गड़बड़ी का समाचार कंस को पहले ही मिल गया था; पर हालत इतनी खराब है, इसकी कल्पना तक उसे नहीं थी। जब वह लौटा, शासन बिखर चुका था। किसी पर किसीका दबाव रह नहीं गया था। यादवों के स्वतंत्र हुए कुल अलग-अलग तलवारें भाँज रहे थे। राजा की पकड़ जहाँ ढीली हुई वहाँ प्रजा ही उसकी अस्मिता के लिए खतरा बन जाती है।

इस समय कंस के लिए चारों ओर खतरा और षड्यंत्र ही दिखाई दे रहा था।

उसने प्रद्योत से सारी स्थिति जान ली थी। प्रद्योत ने भी स्पष्ट कह दिया था कि आप शीघ्रता में चले गए थे। आपने किसीको भी कोई कार्यभार नहीं दिया था। इसीसे सबने अपने मनवाली की।

“मैंने कार्य नहीं सौंपा था तो क्या हुआ, तुम लोगों के पास विवेक तो था। मेरे जाते ही क्या वह भी मर गया था?”

कंस भीतर से तो काफी नाराज था, पर ऊपर उसकी नाराजगी बहुत छनकर आई। उसने समझ लिया था कि स्थिति महामात्य को अधिक नाराज करने की नहीं है।

प्रद्योत इस स्थिति को समझता था। कमजोर लाठीवाले के बस में भैंस भी नहीं रहती, वह तो महामात्य था। उसे अपने स्वामी का राजदंड दुर्बल दिखाई देने लगा था। इसीसे वह इस बार खुलकर बोला, “जब विवेक बार-बार दबाया जाता है तब शक्तिहीन हो जाता है, जीवित रहने पर भी मृतप्राय। ऐसे विवेक से आप क्या आशा कर सकते हैं?...फिर भी प्रजा के सामूहिक आग्रह पर भी हमने महाराज को मुक्त होने नहीं दिया।”

“किस महाराज को?” कंस के कान खड़े हो गए।

“आपके पूज्य पिता महाराज उग्रसेन को।”

इतना सुनते ही कंस लाल हो गया—“तू उसे पूज्य कहता है! महाराज कहता है। अरे, कारा में पड़ा व्यक्ति भी कभी

महाराज हो सकता है?”

“आपके लिए भले ही न हो, पर मेरे लिए तो है ही।” प्रद्योत इतना स्पष्ट और इतना खुलकर कभी कंस से नहीं बोला था, जितना इस बार बोल रहा था। उसने अपनी स्थिति स्पष्ट की—“महाराज, महामात्य की बड़ी विचित्र स्थिति होती है। एक ओर उसे सिंहासन को देखना होता है और दूसरी ओर प्रजा को भी। एक ओर आपकी आज्ञाएँ शिरोधार्य करनी होती हैं, दूसरी ओर वह प्रजा का आग्रह भी अनदेखा नहीं कर सकता। इस स्थिति में उसकी दशा उस नट जैसी हो जाती है, जो दोनों ओर संतुलन बनाए हुए परिस्थितियों की तनी हुई डोर पर चलता है।”

“तो बनाए रहो संतुलन। देखता हूँ, तुम कब तक संतुलन बनाए रहते हो।” कंस कब तक अपने स्वभाव को दबाव में रखता, अंत में भभका और अपनी तलवार म्यान से निकालते हुए बोला, “इस असि को देखते हो न! सारा संतुलन इसके एक प्रहार में समाप्त हो जाता है।”

कंस कुछ और बोलता, पर अपने साले वृत्घ्न के संकेत पर भीतर-ही-भीतर कसमसाकर चुप हो गया।

वृत्घ्न ने ही प्रद्योत को हटाया भी—“अच्छा, अब आप भी पधारें।”

प्रद्योत चुपचाप चला आया। पर वह आज अत्यधिक अपमानित अनुभव कर रहा था। यद्यपि इसके पहले वह और अधिक अपमानित होता था, तब उसके अहं को इतनी अधिक चोट नहीं लगती थी। माहौल के परिवर्तन का कितना प्रभाव पड़ा उसके मस्तिष्क पर।

कहते हैं, वृत्घ्न ने कंस को एकांत में बहुत समझाया कि यह समय किसीको भी नाराज करने का नहीं है। झंझा से गुजरती अपनी नाव की पतवार को दाएँ-बाएँ करते चुपचाप ले चलें।

“कैसे चुपचाप ले चलूँ? देखते हो राजसेवकों की ऐंठन!” कंस एक बार फिर झुँझलाया।

“सब देख रहा हूँ। पर कीजिएगा क्या?” वृत्घ्न ने फिर समझाया—“अच्छा हो, आप इन कर्मचारियों को आदेश ही न करें। ये जो करते हैं, इन्हें करने दें। न आप आज्ञा देंगे और न इन्हें अवज्ञा का अवसर मिलेगा। अवज्ञा को दबाने से अच्छा है अवज्ञा की स्थिति ही न आने देना।”

“यह तो ठीक है, पर राज-काज कैसे चलेगा?” कंस ने कहा।

“इसके लिए आप घबराइए नहीं। अश्वमेध के अश्व को लेकर जो सेना यहाँ आई है, हम उसे रख लेते हैं और उसीके माध्यम से शासन पर हम फिर अपनी पकड़ मजबूत करते हैं।” वृत्घ्न ने कहा।

यही किया गया। शासन का नियंत्रण धीरे-धीरे मागध सैनिकों को सौंपा जाने लगा। इससे जहाँ एक ओर राजकीय आतंक की स्थापना हुई, वहीं दूसरी ओर इस धारणा ने भी जन्म लेना आरंभ किया कि अब महाराज को अपने सैनिकों पर भरोसा नहीं रहा। कुछ लोगों ने इस परिस्थिति को हवा भी दी। राजकीय कर्मचारी उदास होते गए। उनमें क्षोभ बढ़ता गया।

राजकर्मचारियों की यह शंकाकुलता भीतर-ही-भीतर सुलगती रही। इसके ताप का अनुभव भी कंस को होने लगा था। फिर भी वह क्या करता, लाचार था। वर्तमान महामात्य से हटकर उसका ध्यान पूर्व महामात्य पर गया।

पर उनका भी तो मैंने काफी अपमान किया है—और वह रुग्ण भी हैं। शायद इस विषम स्थिति में उनकी सलाह काम आए।

उसने राजवैद्य को बुलाकर उनके स्वास्थ्य का समाचार लिया। वैद्यजी ने बताया कि वह पहले से स्वस्थ हैं।

“क्या वे काम के योग्य हो सकते हैं?”

“अरे, महाराज, आप भी क्या पूछते हैं! कहीं पक्षाघात का रोगी भी खड़ा हो सकता है! फिर उनकी जिजीविषा अत्यधिक दुर्बल हो गई है। हर क्षण मृत्यु की प्रतीक्षा करनेवाला व्यक्ति बोलने लगा है, हमारे लिए यही बहुत है।”

उसी क्षण कंस ने प्रलंब से मिलने का निश्चय कर लिया; पर इस निश्चय से उसने किसीको अवगत नहीं कराया—महामात्य को भी नहीं; क्योंकि वह और संदेहात्मक स्थिति उत्पन्न करना नहीं चाहता था। एक संध्या वह चुपचाप मगध सेनापति के साथ सीधे प्रलंब के यहाँ पहुँचा।

कंस का रथ आता देखकर मल्ल एकदम घबरा गया। वह दौड़ा हुआ अपने स्वामी के पास गया। वे ओषधि लेकर सो गए थे। खरटि सुनकर उसने जगाया नहीं। तुरंत बाहरी द्वार पर आया। कंस का रथ पहुँच चुका था। कंस के रथ से उतरते ही मल्ल उसके चरणों पर गिर पड़ा।

“तुम्हारे स्वामी कैसे हैं?” द्वार में प्रवेश करते ही कंस ने पूछा।

“अब तो पहले से ठीक हैं।” मल्ल ने कहा और महाराज को अतिथिकक्ष की ओर ले चला।

“क्या वे इसी कक्ष में पड़े हैं?”

“नहीं, वे हैं तो विश्रामकक्ष में...आप यहाँ विराजें। अभी कुछ समय पूर्व उन्होंने ओषधि ली है और उसीके प्रभाव से सो गए हैं। वैद्यराज का आदेश है कि उनकी नींद में विघ्न न डाला जाए।”

“वे निर्विघ्न सोएँ और मैं बैठा रहूँ!”

घायल होता राजकीय अहं एक बार फनफनाया। इस परिस्थिति में तो कंस को अपनी प्रकृति के अनुसार चल देना चाहिए था; पर वह मन मारकर रह गया।

केवल इतना बोला, “यह समय सोने का नहीं है, मल्ल! अपने स्वामी से कहो कि जागते रहें।”

“महाराज, वे जाग ही रहे थे; किंतु सर्पगंधा का आसव लेने के बाद वे सो गए। उनकी नाक बोल रही है।”

“कैसी विडंबना है कि जिसकी नाक बोलती है, उसके कान सुनते नहीं। और मैं उन्हें कुछ सुनाने आया हूँ।”

इतना कहते हुए वह आवेश में उठा और अपने साथ आए सेनापति एवं सैनिकों को उसी कक्ष में छोड़कर प्रलंब के शयनकक्ष की ओर बढ़ गया।

“आप खरटि ले रहे हैं और मथुरा सुलग रही है।”

कंस उन्हें जगाने के लिए जोर से बोला। पर प्रलंब की गहरी नींद पर उसका कोई असर नहीं। क्रोधाग्नि कुछ और भभकी। कंस अब स्वयं पर नियंत्रण न रख सका। उसने उन्हें झकझोरा—एक निर्मोही की तरह, एक बर्बर पशु की तरह।

नींद के धुँधलके से प्रलंब ने कंस को देखा। उन्हें लगा जैसे वह कोई भयावह स्वप्न देख रहे हों।

“बचाओ! बचाओ!” अचानक वह चीख उठे। उनके विस्फारित नेत्र एकदम कंस को देखते रह गए।

इधर कंस ने अनुभव किया कि सचमुच वह उसे मारने ही आया है।

“किससे बचने की गुहार लगा रहे हो, मुझसे?” कंस बोला।

प्रलंब के विस्फारित नेत्र अब भी स्वप्न और यथार्थ में अंतर नहीं कर पा रहे थे।

“बोलते क्यों नहीं? आखिर किससे बचना चाहते हो?”

“अपने पापों से।” प्रलंब की भरी आवाज में प्रायश्चित्त का कंपन था।

“पाप से मनुष्य कभी भी बच नहीं सकता, मृत्यु के बाद भी नहीं।” कंस के मुख से निकला।

“काश, यह बुद्धि, महाराज, आपको पहले आई होती!” मृत्यु की सीमा पर खड़ी निर्भयता ने प्रलंब को इतना मुखर कर दिया था—“खैर, अभी विलंब नहीं हुआ है।”

“किस बात के लिए?”

“प्रायश्चित्त करने के लिए! आपको अपने कर्मों का प्रायश्चित्त...”

“मुझे अपने कर्मों का प्रायश्चित्त! यह क्या कह रहे हो तुम? लगता है, शरीर की तरह तुम्हारा मस्तिष्क भी पंगु हो गया है।”

“पंगु तो हो ही गया है; पर पंगु मनुष्य भी कुछ-न-कुछ चलता ही है।...मेरा मस्तिष्क भी चल रहा है। वह देख रहा है कि आपके पाप कर्म आपके पीछे लगे हैं। उनसे पीछा छुड़ाने का एक ही रास्ता है।”

इतना कहकर प्रलंब चुप हो गए। जैसे वह प्रतीक्षा कर रहे हों कि कंस पूछे कि कौन सा रास्ता है। पर कंस चुप था। उसका आक्रोश भी चकित था कि यह बूढ़ा क्या बक रहा है।

बिना पूछे प्रलंब बोलने लगे—“एक ही रास्ता है—आप देवकी के आठवें बेटे के वध की इच्छा त्याग दें।”

“क्यों? किसलिए?” उसके क्रोध की विस्फोटक स्थिति हुई—“मैं अपनी मृत्यु को जीवित छोड़ दूँ।”

“मृत्यु को नहीं, मुक्तिदाता को।” पक्षाघातिक आकृति की नसें तन गईं।

“यह तू क्या कह रहा है, बूढ़े? और जानता है, किससे कह रहा है?” कंस का क्रोध और भभका।

“उसीसे कह रहा हूँ, जिससे कहना चाहिए।...आज तक मृत्यु के भय से नहीं कह पाया था। आज वह भय समाप्त हो चुका है।”

“वह परास्त नहीं हुआ है, नीच! वह तुझे परास्त करके रहेगा।”

मल्ल का कहना है कि इतना कहते हुए क्रोध में पागल कंस के हाथ उसके स्वामी का गला दबाने के लिए बढ़े।

उसने कुछ दबाया ही था कि मल्ल एकदम चीख पड़ा—“यह क्या कर रहे हैं, महाराज?”

कंस के हाथ जहाँ थे वहीं ठहर गए। मल्ल की आवाज सुनकर और लोग भी आ गए। उन्हें देखते ही अग्निबाण की तरह सनसनाता कंस एकदम बाहर निकल आया।

मल्ल का कहना है कि उस रात ओषधि लेने पर भी मेरे स्वामी जागते ही रहे। पक्षाघात के कारण वे करवट तो बदल नहीं पा रहे थे; पर स्पष्ट लग रहा था कि वे छटपटा रहे हैं। उनके सामने नींद भी छटपटा रही थी। घर के सारे प्राणी छटपटा रहे थे। यह क्या कर दिया कंस ने?

प्रलंब की वाणी मूक थी। आँखों से अविरल धारा बह रही थी। मृत्यु के देवता को चढ़ाया जानेवाला यह अंतिम अर्घ्य था। दूसरे दिन का सवेरा वे देख नहीं पाए, इसके पहले ही उनके प्राण-पखेरू उड़ चुके थे।



चौदह

प्रलंब की हत्या कंस ने नहीं की, वे अपनी मौत मरे। पर उनकी मृत्यु का अपयश कंस के सिर पड़ा। परिस्थितियों ने उसे प्रलंब की मृत्यु का निमित्त बना दिया। इस कुकृत्य के कारण मथुरा कंस पर एक बार फिर थूकने लगी।

कहते हैं, हत्या की जीभ नहीं होती, पर वह दूसरों के सिर पर चढ़कर बोलती है। प्रलंब की हत्या मथुरा के सिर पर चढ़कर बोल रही थी।

उधर मागध सैनिकों के प्रयोग से कंस की निजी सेना में असंतोष था ही, अब इस जघन्य कृत्य ने उस अग्नि में घी डाल दिया। अविश्वास की इस तप्त लू में राज्य की शांति लगभग सूख चली थी। कंस के साथ ही वृतघ्न भी घबरा गया। वह एक दिन अकेले प्रद्योत के आवास पर पहुँचा।

“अरे, आप कैसे?” उसे देखते ही प्रद्योत का चकित होना स्वाभाविक था।

“यों ही, आपसे कुछ बातें करनी थीं!” वृतघ्न के बोलने का ढंग मित्रों जैसा सहज था।

“महाराज, आप मुझे ही बुला लेते। आपने आने का कष्ट क्यों किया?” प्रद्योत की विनम्रता वृतघ्न के आने का सही कारण जानने के लिए व्यग्र हो उठी।...और जब उसने जान लिया कि ये सचमुच किसी गूढ़ मंत्रणा के लिए आए हैं, तब वह प्रकृतिस्थ हुआ।

“किसी राज्य की जब नाव डगमगाती है तब उसकी पतवार महामात्य ही सँभालता है।” वृतघ्न बोला, “अब इस पतवार को भी आपको ही सँभालना है।”

“जो आप आज्ञा करें, करने को तैयार हूँ। मैंने सदा ही राजाज्ञा का पालन किया है।” वह क्षण भर रुककर पुनः बोलने लगा—“राजाज्ञा के पालन में ही बरबाद हो गया, श्रीमान! पत्नी नहीं रही, बच्चे नहीं रहे...!” और फिर प्रद्योत का गला रूँध गया।

अतीत खुल गया था। प्रद्योत का करुणार्द्र स्वर अपनी बीती जिंदगी का आँसुओं से भीगा एक-एक पृष्ठ पढ़कर वृतघ्न को सुनाने लगा।

पूर्व परिचित होते हुए भी उसने बड़े ध्यान से सबकुछ सुना। सहानुभूति व्यक्त की और बड़ी होशियारी से एक रहस्य पर अँगुली रख दी—“एक बात बताइएगा, महामात्य! मैं आज तक समझ नहीं पा रहा हूँ।”

“क्या?”

“जीजा ने बताया था कि आपकी पत्नी महादेवी (पूतना) भी उस समय कारागार में थी जब देवकी के आठवें शिशु का जन्म हुआ था।...और उसने महामात्य से शपथ लेकर कहा था कि वह लड़की है। अब पता चला है—और यह सर्वमान्य सत्य जैसा हो गया है कि वह लड़का है। इसमें रहस्य क्या है? तुम्हारी पत्नी तो झूठ नहीं बोल सकती!”

पहले तो प्रद्योत एकदम मौन हो सोचने लगा, क्योंकि वह सबकुछ जानता था। सत्य कहना खतरनाक था और झूठ बोलने के लिए सोचना जरूरी। उस सत्य और झूठ के बीच के गलियारे से भाग निकलते हुए वह बोला, “सत्य तो यह है कि देवकी की देखभाल के लिए सुवासिनी थी, मेरी पत्नी नहीं। हाँ, मेरी पत्नी उस समय कारागार में थी अवश्य। पर अब तो वह स्वर्ग सिधार गई। अब उसके संबंध में कुछ कहना-सुनना व्यर्थ ही है।” फिर वह गंभीर रूप से मौन हो गया। उसका मौन वृतघ्न जैसे सुन रहा हो—“आपको तो मालूम ही है कि मेरी पत्नी किन परिस्थितियों में मरने के लिए विवश की गई!”

“हाँ, इन बातों से अब लाभ भी क्या है!” वृतघ्न ने एकदम अपनी मुद्रा बदली—“अब तो मैं कुछ और सोचता हूँ।”

प्रद्योत की जिज्ञासा एक बार फिर सजग हुई।

“सोचता हूँ कि संघर्ष से कोई निष्कर्ष निकलने वाला नहीं है।” वृतघ्न बोला, “हमें शांति का मार्ग ही चुनना श्रेयस्कर होगा।”

“यही तो प्रजा भी चाहती है। रोज-रोज के संघर्ष से वह ऊब चुकी है।” प्रद्योत ने कहा।

“संघर्ष और तनाव सामान्य स्थिति नहीं है, महामात्य! सामान्य स्थिति तो शांति और सहजता है। यही जीवन है।” वृतघ्न बोलता गया—“...और हम इसी जीवन से दूर हैं।”

‘इसमें दोष किसका है?’ प्रद्योत कहना चाहता था, पर वह चुप रह गया।

“संदेह नहीं कि इसमें सारा दोष जीजाजी का है।” इतना कहकर वृतघ्न प्रद्योत की प्रतिक्रिया जानने के लिए रुका। पर प्रद्योत प्रतिक्रियाशून्य था। वह सोच नहीं पा रहा था कि वृतघ्न में यह परिवर्तन कैसा।

“फिर मैं सारा दोष जीजाजी को ही क्यों दूँ? परिस्थितियाँ इसके लिए कम दोषी नहीं हैं। यही समझिए कि यह सब होना था, हो गया। ‘होनी’ आखिर किसके वश में रही है!”

“महाराज के वश में।” प्रद्योत के मुख से छलक गया।

“यही तो उनका दुर्भाग्य था।”

“था या है? क्या महाराज का अहं अब इस सीमा पर नहीं है?”

“निश्चित ही नहीं होना चाहिए; क्योंकि महाराज अब बेतरह ऊब चुके हैं।” वृतघ्न बोला।

“इसका मतलब है कि वे इस स्थिति से लौटना चाहते हैं? क्या वे पूर्व महाराज को पुनः सत्ता सौंप सकेंगे?” प्रद्योत ने पूछा।

वृतघ्न प्रद्योत का मुँह देखता रह गया। उसे लगा, यह भी जनांदोलन के प्रभाव में आ गया है। कोई दूसरी स्थिति होती तो शायद भभक पड़ता; पर उसकी कूटनीति ने उसे दबाए ही रखा—“यह भी हो सकता है, पर यह तो लौटने की अंतिम मंजिल होगी। हमें तो अभी आरंभिक चरण उठाने हैं। हमें पहले जनता में विश्वास भरना होगा कि हम अशांति नहीं, शांति चाहते हैं। सद्भाव चाहते हैं।”

प्रद्योत सचमुच चकित था। उसने विषधर के विषदंत तो तोड़े थे, पर किसी विषधर को स्वतः विषहीन होते नहीं देखा था। उसने दबी जबान पूछा, “क्या महाराज भी चाहते हैं?”

“चाहेंगे ही। यदि वे नहीं भी चाहते होंगे तो उन्हें चाहना होगा; क्योंकि धारा के विरुद्ध बहुत देर तक तैरना जल-समाधि को आमंत्रित करना है।”

“तब हम लोगों को क्या करना चाहिए?” प्रद्योत सीधे अपने निश्चित बिंदु पर आया।

“इस संबंध में सोचना चाहिए। हमें वातावरण बनाना चाहिए।”

प्रद्योत चुप हो गया—और काफी देर तक चुप था।

“क्या सोचने लगे?” वृतघ्न बोला।

“सोचता हूँ कि यह काम भी बड़ा कठिन है।” प्रद्योत ने कुछ शब्दों और कुछ संकेतों का सहारा लेते हुए जो कुछ कहा, उसका सारांश था कि मथुरा बड़ी असामान्य स्थिति में है। मागध सैनिकों की उपस्थिति और शासन में उनकी भागीदारी ने एक अविश्वसनीयता एवं अनिश्चितता का वातावरण बना दिया। कोई राजाज्ञा पर विश्वास करने की स्थिति में नहीं है। कोई यह नहीं कह सकता कि कल क्या होगा। हर सवेरा एक शंकित प्रकाश लेकर आता है और

हर संध्या अनिश्चय के अंधकार में डूब जाती है।

“यदि ऐसी स्थिति न होती तो मैं आपके घर आकर इस गंभीर मंत्रणा में क्यों उलझता?” वृत्तघ्न मुसकराया। बड़ी रहस्यमय थी उसकी मुसकराहट।

वह अँधेरे में ही आया था और अँधेरे में ही चला गया। उसके जाने के बाद कोई रोशनी प्रद्योत को नहीं मिली।

□

इसके बाद प्रद्योत ने ऐसा कुछ अनुभव किया कि पहले जैसी अब उसकी उपेक्षा नहीं है। सत्ता भी अब उसका खयाल रखने लगी थी। यद्यपि कंस अब भी उससे कम बोलता था; पर जो भी बोलता था, बड़े शांतभाव से और सम्मान के साथ। मुझे ज्ञात हुआ था कि यह सबकुछ वृत्तघ्न के व्यावहारिक कौशल का ही प्रभाव था।

उसे एक दिन सूचना मिली कि पट्टमहिषी उससे मिलना चाहती हैं। प्रद्योत बड़े असमंजस में पड़ा। देखा-देखी तो कई बार हुई थी, पर पट्टमहिषी से उसने कभी आमने-सामने बातें नहीं की थीं; फिर आज अचानक कौन सी ऐसी स्थिति आ पड़ी कि उन्होंने मुझे बुलाया है।

वह इसी मानसिकता में था कि अस्ति बहिरंग कक्ष में आती दिखाई दी। इसके बाद ही उसने प्रद्योत को बुलाया—“मेरे अप्रत्याशित आह्वान पर आप अवश्य घबरा गए होंगे; पर मैंने आपको व्यग्र करने के लिए नहीं, सम्मानित करने के लिए बुलाया है।”

प्रद्योत को लगा जैसे वह स्वप्न के समक्ष एक निरीह सत्य की तरह खड़ा है। महारानी बोलती गई—“सारा राज्य डगमगा गया था, पर आप स्थिर रहे। आपकी नैतिकता स्थिर रही। इसीका परिणाम है कि आज मैं यहाँ हूँ।”

“कुछ समझ नहीं पाया, पट्टमहिषी।” प्रद्योत बोला।

“आप भले ही समझ न पाए हों, पर मैं सब समझती हूँ।” महारानी ने कहा और फिर बोलती गई। उनके कथन का सारांश था कि एक ऐसी लहर आई थी, जब लोग पूर्व महाराज को सिंहासन पर बैठाना चाहते थे; पर आपके व्यक्तित्व की चट्टान पर वह लहर अपना सिर फोड़कर लौट गई। यदि वे लोग सफल हो जाते, तो आज मैं कारा में होती और पूर्व महाराज सिंहासन पर। या मैं और मेरी बहन उनकी असि का पानी पीकर स्वर्ग सिधार गई होती।

“ऐसा कैसे होता?” प्रद्योत अपनी प्रशंसा से प्रोत्साहित हो बोला।

“इसीसे तो कहती हूँ कि आपकी अडिग नैतिकता की आड़ में ही हम जीवित रह गए।”

“आपके जीवन पर कभी संकट नहीं आता।” प्रद्योत कुछ सोचते हुए बोला, “यदि मेरी नैतिकता गड़बड़ाती भी, तब भी नहीं।”

“नहीं, ऐसा नहीं होता।” अस्ति ने प्रद्योत का प्रतिवाद किया—“उग्रसेन के सिंहासन पर बैठते ही मुझपर विपत्ति के बादल छा जाते।”

“पर मुझे विश्वास नहीं है।” प्रद्योत बोला और सोचने लगा कि जिस उग्रसेन की नैतिकता इतनी ऊँची है कि परिस्थिति अनुकूल होने पर भी—और लोगों के आग्रह करने पर भी उसने कारा से बाहर आने की चेष्टा नहीं की, वह सत्ता में आने पर अपनी पुत्रवधुओं पर विपत्ति कैसे बनता?

पर प्रद्योत यह सबकुछ कह न सका। उसने मात्र इतना संकेत किया—“मैं बहुत सी बातें जानता हूँ, जिन्हें आप नहीं जानती—और मैं आपको जनाना भी नहीं चाहता।”

“मैं भी बहुत सी बातें जानती हूँ, जिन्हें लोग नहीं जानते।” अस्ति ने मुसकराते हुए कहा, “आप ही नहीं समर्पित हैं, आपकी पत्नी ने भी राजकीय सेवा में प्राण गँवाए हैं।”

“और भी कुछ आप जानती हैं?” प्रद्योत की जिज्ञासा अपने बच्चों के संबंध में थी।

पर अस्ति ने केवल इतना कहा, “क्या इतना जानना कम था, जो और कुछ जानती?”

सुना है, उसी दिन एक मणिजटित असि प्रद्योत को प्रदान कर अस्ति ने उसका सम्मान किया। प्रद्योत के जीवन का यह पहला सम्मान था। वह स्वयं इस अप्रत्याशित उपलब्धि पर चकित था।

राजद्वार से निकलते समय उसे हस्तिपाल अंगारक मिला।

“बड़े भाग्यशाली हैं, महामात्य!” व्यंग्यात्मक ढंग से उसने मुसकराते हुए कहा, “जो आपको पट्टमहिषी ने सम्मानित किया। यहाँ तो इतने दिनों से गजों की सेवा करते-करते जीवन घिसता जा रहा है, पर किसीने मस्तक पर चंदन तक नहीं लगाया।”

“मस्तक पर कौन चंदन लगाएगा! तुम्हारे मस्तक पर तो कलंक का टीका है।”

अंगारक ने मुड़कर देखा। पता नहीं किधर से छंदक चला आया था। उसकी लगती बात से अंगारक कुड़बुड़ाया कि मैं महामात्य से बातें कर रहा था और यह पता नहीं कहाँ से आकर दाल-भात में मूसलचंद की तरह टपक पड़ा। पर छंदक भी अद्भुत था, प्रेत की तरह पूरी मथुरा पर छाया। कब कहाँ रूप ग्रहण कर लेगा, किसीको पता नहीं।

“यह टीका आपको ही दिखाई पड़ रहा होगा!” अंगारक झुँझलाते हुए बोला।

“मुझे ही नहीं, पूरी मथुरा को वह दिखाई पड़ रहा है।” उसके स्वर में स्वर मिलाकर छंदक बोलता गया—“जो अपनी पत्नी को त्याग देता है उसके मस्तक पर ही नहीं, पूरे व्यक्तित्व पर कालिख पुत जाती है।

“मैंने उसे त्यागा नहीं है।”

“तब क्या किया है?”

“वह अपनी मौत मरी है।” अंगारक बोला, “मैंने मालिनी से विवाह किया था—और वह मर गई।”

“मालिनी मर गई! तुम्हें लज्जा नहीं लगती यह कहते हुए! मालिनी अब भी जीवित है, अंगारक। अंतर इतना ही है कि अब वह त्रिवक्रा है, कुब्जा है।”

“तो मैंने कुब्जा से विवाह किया था!” अंगारक का आवेश बढ़ता जा रहा था।

“तब कहो कि तुमने मालिनी से भी विवाह नहीं किया था। विवाह किया था उसके सौंदर्य से, उसकी शरीरयष्टि से।” छंदक ने उसकी धधकती हुई आँखों में झाँकते हुए पूछा, “क्या यह गलत है?”

क्रोध ने अंगारक की वाणी को शरीर की थरथराहट में बदल दिया।

“बोलते क्यों नहीं?” छंदक बोलता जा रहा था—“पर जानते हो गजपाल, विवाह शरीर का नहीं, आत्माओं का बंधन है। मैं जानता हूँ कि तुम्हें मेरी बातें अच्छी नहीं लग रही होंगी; पर इसे दूसरी दृष्टि से भी सोचो। यदि तुम्हें संधिवात हुआ होता, तुम भी वैसे ही पंगु हो जाते और मालिनी तुम्हें छोड़ देती, तो तुम कैसा अनुभव करते?”

अंगारक अब भी चुप था। पर लग रहा था कि आक्रोश का पानी अब थिरने लगा है। बगल में खड़े प्रद्योत ने भी उसे प्रश्नवाची दृष्टि से देखा; पर वह था स्थिर। निर्वाक्।

“फिर सोचो, यदि वह पुनः पहले जैसी हो जाए तब?” छंदक ने दूसरा प्रश्न उछाला।

“मैं असंभव को कभी सोचा नहीं करता; क्योंकि मैं स्वप्नों के संसार में नहीं, यथार्थ के जगत् में रहता हूँ।”

“असंभव और यथार्थ!” छंदक हँसा—“असंभव और संभव यथार्थ जगत् के ही शब्द हैं। कभी तुमने सोचा था या किसीने सोचा था कि मेरी आँखों में ज्योति चली आएगी?” छंदक इस बार जोर से हँसा। निश्चित रूप से उसका यह ठहाका नाटकीय था। उसने अंगारक का कंधा दाहिने हाथ से हिलाते हुए कहा, “हस्तिपाल, अभी तुमने नियति का भृकुटि विलास नहीं देखा है। प्रतीक्षा करो!”

मुझे ज्ञात हुआ कि इसके बाद अंगारक वहाँ से चुपचाप चल पड़ा था।

उसके हटते ही छंदक ने प्रद्योत से कहा, “महामात्य! मैं तो आपको बधाई देने आया था और बीच में मिल गया यह पापी। चलो, कोई बात नहीं। हर अच्छे काम में कोई-न-कोई बाधा तो पड़ती ही है।”

प्रद्योत को आश्चर्य था कि इतनी जल्दी इस घटना का आभास छंदक को कैसे हो गया! उसने बड़े व्यंग्यात्मक ढंग से कहा, “मैंने तो सुना था कि श्वान की ही घ्राणशक्ति अद्भुत होती है, पर आप...”

“आप तो श्वान के भी दादा निकले, यही न!” छंदक बोला, “मैं सचमुच श्वान का दादा श्वान हूँ। प्रजा के हित का पहरेदार। सूँघता रहता हूँ कि राजभवन में क्या पक रहा है।” छंदक रहस्यात्मक ढंग से मुसकराया—“आप क्या समझते हैं कि आपको सम्मानित करने के ऐसे नाटक का निर्णय एक दिन में ही हो गया होगा?”

“तो आप ही अवनिका के पीछे थे?”

“पीछे तो नहीं था; पर जो लोग पीछे थे, उन्हें सूँघ रहा था।” छंदक की हँसी बड़ी मायावी थी।

प्रद्योत सोचने ही नहीं लगा वरन् उसे अनुभव भी होने लगा कि वह एक नाटक देख रहा है। एक ऐसा नाटक, जिसमें सामान्य जीव रंग पहनाने से राजा बना दिया जाता है, परम अपमानित को भी सम्मानित का वेश पहना दिया जाता है।

प्रद्योत सोच ही रहा था कि छंदक बोला, “अच्छा हो, आप भी नाटक के दर्शक न होकर नाटक के ही पात्र हो जाएँ; क्योंकि दर्शक होने से खतरा है, पात्र होने में आप नाटक को जीने लगते हैं।”

इतना कहकर छंदक महामात्य को बधाई देते हुए चल पड़ा।

□

प्रद्योत के मन में संदेह तो था ही, छंदक ने उसपर से धूल भी झाड़ दी। अब वह इस आशंका में डूब गया कि ‘जरूर मेरे साथ कोई छल किया जा रहा है। यदि सम्मानित करना था तो महाराज करते। यदि उनका चित्त अशांत था तो वृत्घ्न इस कार्य को संपन्न करता।...फिर राजकीय सम्मान का एक रूप होता है। उसका सार्वजनिक समारोह होता है। यह बंद कमरे में महारानी द्वारा क्यों किया गया? यह सम्मान पथ्यशाला में पहनाई गई मात्र भूषा तो नहीं है? शायद उससे भी गई-गुजरी। वेश धारण करके पात्र कम-से-कम अपने दर्शक के पास तो जाता है। मैं यह मणिजटित तलवार लेकर किसके पास जाऊँगा?...और क्या कहूँगा कि मुझे क्यों मिली है?’ प्रद्योत सोचता रहा और छंदक के ही निष्कर्ष पर पहुँचा कि कोई खतरा जरूर है। मुझे नाटक का ही पात्र बना रहना चाहिए।

उसने ले जाकर वह मणिजटित असि अपने शयनकक्ष में टाँग दी। कोई पूछता कि इसे क्या करोगे, तो उसका सीधा सा उत्तर होता कि इसे शहद लगाकर

चाटूँगा।

यह तो आप जानते ही हैं कि आरंभ से प्रद्योत भावुक था। उसकी भावुकता दो पुलिनों के बीच बहती थी। एक पुलिन था विगत महादेवी और दूसरा आगत सुवासिनी। एक रात जब वह सो रहा था, उसकी दृष्टि उस मणिजटित असि पर पड़ी और फिर वह विगत को सोचने लगा। देखता गया, सोचता गया।

धीरे-धीरे असि की मुठिया में जटित मणि की झिलमिलाहट उसे परिवर्तित होती हुई मालूम हुई और फिर वह महादेवी की धधकती हुई आकृति में बदल गई—‘यह असि...नहीं...नहीं।...यह मारी गई महादेवी है। उसकी समाप्त हुई अस्मिता है।...मेरे रक्त का प्रतिदान है, प्रिय।’ उसे लगा जैसे महादेवी और तेजी से बोल रही है—‘यह तुम्हारा सम्मान नहीं हुआ है वरन् तुम्हारे सारे अपमान को घनीभूत कर मणिजटित कर दिया गया है।...यह मात्र एक दर्शनीय असि नहीं है वरन् संभावित खतरा है, जो मेरी तरह तुम्हें भी निगल सकता है।...और एक दिन तुम भी

रक्तरंजित असि के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाओगे।’

“नहीं-नहीं, ऐसा नहीं होगा। बिल्कुल ऐसा नहीं होगा।” प्रद्योत सोचते-सोचते चीख उठा। उसके परिचारक दौड़े हुए आए। महाराज तो चुपचाप लेटे हैं—उन्होंने देखा। शायद सोते-सोते उन्होंने दुःस्वप्न न देखा हो। पर इस समय तो चुप हैं। परिचर भी शांत खड़े रह गए।

विचित्र स्थिति थी। प्रद्योत उन्हें देखकर भी चुप था और परिचर अपने स्वामी को देखते हुए भी चुप थे; पर बोलने की अनिवार्यता का अनुभव दोनों कर रहे थे।

□

जैसे कुछ होने वाला है, आभास प्रद्योत को लग गया था।

दूसरे ही दिन महामात्य को बुलाया गया। कुछ और लोग भी बुलाए गए; पर पूरी मंत्रिपरिषद् आहूत नहीं की गई।

महामात्य सवेरे-सवेरे ही आ गए थे। और लोग दिन चढ़ते-चढ़ते आए कंस के मंत्रणाकक्ष में। फिर भी मंत्रणा आरंभ नहीं हुई। लगता है, जानबूझकर विलंब किया जा रहा है। निश्चित ही इस मंत्रणा के पूर्व भी प्रासाद में कोई मंत्रणा चल रही थी।...नीति में जितना सुलझाव होता है, राजनीति में उतना ही उलझाव। घेरे के भीतर घेरे और फिर घेरे में राजनीति का बीज उगता है।

इस राजनीति का बीज भी बहुत घेरे में जमा था—एकदम अंतःपुर के अँधेरे में। अब केवल बैठक करके उसे औपचारिकता देनी थी। बैठक के आरंभ में प्रद्योत को महामात्योचित सम्मान दिया गया; फिर भी वह काफी सजग था। कहीं मैं घेर तो नहीं लिया जा रहा हूँ। वहीं बगल में अंगारक भी बैठा था; पर वह संशयहीन, परिस्थितिनिरपेक्ष। कंस तो चुप ही था, वृत्घ्न ने ही बात चलाई—“वर्तमान स्थिति से तो आप अवगत ही होंगे, राजभवन इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि संघर्ष से कोई समस्या हल नहीं होती। पर संघर्ष एक नए संघर्ष को जन्म देता है। आग से आग ही जलती है। हमने देवकी की आठ-आठ संतानों का वध किया, आखिर हमें क्या मिला? अशांति, विद्वेष, घृणा।

“अब प्रश्न है कि इस स्थिति से लौटना चाहिए या उसमें रहना चाहिए?”

फिर वृत्घ्न प्रद्योत को देखते हुए चुप हो गया। वह इस प्रश्न का उत्तर भी उसीसे चाहता था।

“इसका निर्णय भी आपको ही करना है।” प्रद्योत बोला।

“यदि हमें ही करना होता तो हम आपको क्यों बुलाते?” मुसकराते हुए बड़े सामान्य भाव से वृत्घ्न बोला,

“वस्तुस्थिति साफ है। राजभवन इस स्थिति से ऊब चुका है।”

“तब तो हमें इस स्थिति से लौटना ही पड़ेगा।” अंगारक ने कहा।

“क्या हम पूर्व महाराज को पुनः सिंहासन पर बैठा सकते हैं?” प्रद्योत ने अपना पुराना प्रश्न कंस की उपस्थिति में पुनः दुहराया। बस विस्फोट हो गया।

“क्या हम थूककर पुनः चाट सकते हैं?” कंस ने ओढ़ी हुई सहजता एकदम उतारकर फेंक दी और अपने स्वाभाविक रूप में हो गया।

वृत्घ्न ने सँभाला—“जीजाजी, आप इतने उतावले क्यों हो रहे हैं? पीछे लौटने की एक स्थिति यह भी हो सकती है।” वृत्घ्न बोलता गया—“पर यह अंतिम स्थिति है। मैंने स्वयं इस संदर्भ में कई बार सोचा है। पर इसके लिए तो एक वातावरण बनाना ही पड़ेगा।”

“फिर जैसी आपकी आज्ञा हो वैसा किया जाए।” प्रद्योत बोला।

“आज्ञाओं से तो यह स्थिति आ गई, महामात्य! अब सोचता हूँ कि राजाज्ञा में आपकी सोच का भी समावेश करूँ।”

“मैंने इस विषय में कुछ सोचा नहीं है। आज्ञाओं का पालन करते-करते स्वयं की समझ रखने का अभ्यास जैसे छूट गया था।”

प्रद्योत के कथन पर वृत्घ्न जोर से हँसा—“अब तो वह आदत डालनी ही पड़ेगी, महामात्य!” इतना कहते ही वृत्घ्न ने अपनी मंशा जाहिर की—“क्यों नहीं कन्हैया को बुलाया ही जाए?”

“मतलब यह कि हम उससे समझौता कर लें।” अंगारक बोल पड़ा या यों कहिए कि यह बात प्रद्योत के मुख से नहीं निकली, फिर भी कंस भड़क उठा—

“किससे समझौता? कैसा समझौता?”

वृत्घ्न ने पुनः सँभाला—“जीजाजी ठीक कहते हैं कि किससे समझौता करेंगे हम! अपनों से? अपने भानजे से? और क्या समझौता करेंगे कि तुम हमारे यहाँ आओ?...और समझौता भी उससे होता है, जिससे लड़ाई हो। उससे तो हमारी कोई लड़ाई नहीं।”

‘अगर लड़ाई नहीं तो यह सब क्या हो रहा था? इतने लोग मारे गए। इतनी जानें गईं। मेरी पत्नी स्वयं आपका अस्त्र बनी और बलि पर चढ़ गई। यह सब क्या प्रेम व्यापार था?’ प्रद्योत का मन चीख उठा। पर राजकीय भय और अनुशासन ने उसके अधरों पर अँगुली धर दी और वह मौन ही रह गया।

“अरे, यहाँ तो उसका ननिहाल है।” वृत्घ्न बोला, “यहाँ वह ससम्मान बुलाया जाएगा।...पर आज प्रश्न है कि किसे उसको बुलाने के लिए भेजा जाए?”

प्रद्योत चुप ही रहा।

“बोलिए महामात्य, आपकी क्या राय है?” वृत्घ्न बोला। अस्ति, कंस, अंगारक आदि सबकी जिज्ञासाएँ उसकी मुखमुद्राओं को टटोलने लगीं।

“जिसे आप उचित समझें, उसे ही भेजिए।” प्रद्योत बोलकर फिर चुप हो गया।

“हम लोगों की दृष्टि में तो आपसे उचित कोई दूसरा व्यक्ति दिखाई नहीं देता।” वृत्घ्न ने कहा।

इतना सुनते ही प्रद्योत को आग लग गई। स्मृति के भयानक धुँएँ से वह घिरने लगा। वह सोचने लगा—‘कभी मेरी पत्नी भेजी गई थी और अब मैं भेजा जा रहा हूँ। वह भी नहीं जाना चाहती थी और मैं भी नहीं जाना चाहता हूँ। उसे डरा-धमकाकर एवं प्रलोभन देकर भेजा गया था और मैं सम्मानित करके भेजा जा रहा हूँ।...लेकिन मैं जाऊँगा नहीं। यही होगा न कि दंडित किया जाऊँगा! सह लूँगा दंड।’

वह सोचता ही रहा कि उसे वृत्घ्न की आवाज पुनः सुनाई पड़ी—“क्या सोच रहे हैं, महामात्य?”

“सोच रहा हूँ कि मैं नहीं जाऊँगा।” आवेश से हटकर उसने बुद्धि का सहारा लिया—“मेरा जाना ठीक नहीं होगा। मैं महामात्य हूँ। नंद के यहाँ मेरी उपस्थिति राजाज्ञा मानी जाएगी या किसी षड्यंत्र का अंग!”

“लोग समझें षड्यंत्र, पर जाना तुम्हें ही होगा।” कंस फिर फनफनाया।

“यदि आपकी आज्ञा है तो चला जाऊँगा, परिणाम शायद अनुकूल न हो।”

“तो क्या होगा परिणाम?” कंस और गरजा।

“जो आपकी आज्ञा न मानने पर होगा। यहाँ भी मारा जाऊँगा, वहाँ भी मारा जाऊँगा। दोनों ओर मेरे लिए मृत्यु ही है। पर आप द्वारा मिला मृत्युदंड मेरे लिए अधिक श्रेयस्कर होगा; क्योंकि आपके यहाँ अवज्ञा का अपराधी होकर सूली पर चढ़ूँगा और वहाँ अपनी पत्नी की तरह राक्षस समझा जाकर मारा जाऊँगा।” बोलते-बोलते प्रद्योत की आवाज नम हो गई।

कुछ समय तक सब शांत प्रद्योत को देखते रहे।

“फिर किसको भेजा जाए? आप सोचिए।” वृत्घ्न ने वह शांति भंग की।

“मेरी समझ से तो व्यक्ति ऐसा हो, जो अब तक के सारे संदर्भों से निरपेक्ष रहा हो।” प्रद्योत ने सोचते हुए कहा।

“तब तो ऐसा व्यक्ति स्वर्ग से मँगाना पड़ेगा। धरती पर शायद ही कोई हो!” अंगारक ने व्यंग्य किया।

प्रद्योत को अच्छा नहीं लगा। उसे इस व्यंग्य के पीछे राज परिवार की शह मालूम पड़ी, अन्यथा हस्तिपाल की यह हिम्मत कि वह महामात्य पर व्यंग्य करे।

फिर भी उसने स्वयं पर बड़ा नियंत्रण रखा—“निरपेक्ष व्यक्ति से ही नए वातावरण का सर्जन हो सकता है। कीचड़ से सने हाथ आस्तरण को गंदा ही करेंगे, उसे सुंदर नहीं बना सकते।” वह क्षण भर के लिए रुका—“हो सकता है, कोई व्यक्ति इन परिस्थितियों में तटस्थ न हो; पर तटस्थ दिखाई पड़नेवाला तो हो सकता है।”

प्रद्योत के कहने के ढंग पर वृत्घ्न हँस पड़ा—“तो ऐसा ही कोई व्यक्ति खोजा जाए।”

इसके लिए एक दिन का समय देने का प्रस्ताव कर बैठक समाप्त हो गई।

उस रात प्रद्योत को नींद नहीं आई। वह सोचता रहा कि अब किसकी बलि दी जाती है। पर कंस के पास ऐसा कोई आदमी नहीं है, जिसपर वह विश्वास कर सके और जिसे ब्रज का भी विश्वास प्राप्त हो।...ऐसा तो नहीं कि लाचार होकर मुझे ही जाना पड़े। राजाज्ञा के समक्ष सिर तो झुकाना ही पड़ेगा। तलवार तो लटक ही रही है। ऐसे भी गिरेगी, वैसे भी गिरेगी। कितना निरीह हूँ मैं! मृत्यु की छाया में घुट-घुटकर जीने से तो अच्छा है, मर जाना।

सोचते-सोचते प्रद्योत का चिंतन उसकी निरीहता और अकिंचनता पर झुँझलाने लगा था। उसे लगा, उपहार में मिली सामने टँगी असि मुझपर हँस रही है। उसकी मुठिया की झिलमिलाहट महादेवी की आकृति में बदलती जा रही है—‘तुम मृत्यु की छाया में जीने से ऊब गए? जब मैं मरी, तुम नहीं ऊबे थे; जब अपने ही बच्चों से विलग हुए तब भी नहीं ऊबे थे। आज क्या हो गया? आज इतनी हताशा क्यों? इस परम सत्य को शायद तुम भूल रहे हो कि हर जीवन मृत्यु के साए में ही जीता है।’

प्रद्योत को लगा कि यह महादेवी नहीं वरन् अवचेतन में बैठी हुई उसकी जिजीविषा ही उसे झकझोर रही है। अब उसे अनुभव होने लगा कि मृत्यु पर शंका करके या उसे अपना शत्रु मानकर नहीं वरन् मित्र मानकर एक अच्छा जीवन जीया जा सकता है।

उसने करवट बदली और पुनः उस असि की ओर देखा। अब वहाँ मात्र एक असि लटक रही थी। अपनी चमक को खुद पीती हुई एक असि।

इसके बाद ही ब्राह्म मुहूर्त की सूचना देनेवाली कुक्कुटों की आवाज सुनाई पड़ी। मंदिरों के घंटे बज उठे।

□

नींद न आने से आज प्रद्योत काफी श्लथ था। यदि कोई दूसरा दिन होता तो शायद वह प्रासाद न जाता, पर आज तो वह जाएगा ही। उसीके प्रस्ताव पर कल बैठक स्थगित हुई थी। उसके न उपस्थित रहने पर भी तरह-तरह की शंकाएँ और षड्यंत्र की गंध लोगों को लगने लगेगी।

आखिर उसे देखकर लोगों ने व्यंग्य किया ही—“लगता है, आज आपका स्वास्थ्य ठीक नहीं है?”

“रात को नींद नहीं आई।”

“क्या जाने का भय तो नहीं सता रहा था?” अंगारक बोला।

प्रद्योत जल-सा गया—“हाँ, भाई, भय क्यों नहीं सताएगा! आखिर मेरी पत्नी गई और लौटकर नहीं आई।”

टेढ़ी बात का टेढ़ा उत्तर। लोगों को प्रद्योत की मनःस्थिति का आभास लग गया।

वृत्घ्न ने बात को दूसरी ओर मोड़ते हुए कहा, “हमें ऐसा व्यक्ति नंद के यहाँ भेजना चाहिए, जो हमारी सद्भावना

का प्रतिनिधित्व कर सके।”

“यह तो मैं भी जानता हूँ।” कंस अपनी प्रकृति के अनुसार झुँझलाया—“एक ही बात आप लोग बराबर फेंट रहे हैं। अरे ऐसा व्यक्ति आपके ध्यान में हो तो बताइए। व्यर्थ की बकवाद से लाभ क्या!”

“आप इतने उतावले क्यों हो जाते हैं?” वृत्घ्न ने फिर कंस को सँभाला—“हमें सोच-समझकर पग उठाना चाहिए। जल्दबाजी ने ही हमें इस स्थिति में ला दिया।” वृत्घ्न को जैसे लगा कि वह कुछ उगलने वाला है, वहीं उसने स्वयं को फिर ढाँकते हुए कहा, “और अब हमारी मंशा भी बदल गई है। हम पारिवारिक सद्भाववश उसे बुला रहे हैं।”

गंभीर मंत्रणा के बाद बस एक ही व्यक्ति लोगों को दिखाई दिया पूरी मथुरा में—अक्रूर; जो कृष्ण के वंश का भी था और सबके लिए विश्वस्त भी। लोगों ने सर्वसम्मत से उसके नाम का प्रस्ताव किया। अब एक ही प्रश्न था—उसे इस कार्य के लिए प्रेरित कौन करे।

“यदि आप अन्यथा न लें तो निवेदन करूँ कि एक दूसरी समस्या और है।” प्रद्योत बोला।

“क्या?”

“आखिर कृष्ण और बलराम के बुलाने का प्रयोजन क्या बनाया जाए?”

“क्या संघर्ष समाप्ति और सहयोग तथा सद्भावना के आरंभ की आकांक्षा प्रयोजन नहीं है?” वृत्घ्न बोला।

“यह प्रयोजन नहीं, लक्ष्य है।” प्रद्योत की ध्वनि महामात्योचित थी—“लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कोई प्रयोजन तो हमें करना ही चाहिए।”

फिर कई प्रस्ताव आए—मल्लयुद्ध प्रदर्शन, गज कौशल प्रदर्शन आदि-आदि। सब पर विचार हुआ; पर अंत में धनुर्यज्ञ पर आकर सबकी राय एक हो गई। धनुर्यज्ञ के विषय में एक सहज आकर्षण होता है।

निश्चित हुआ कि इसी आयोजन में सबको बुलाया जाए। नंद को भी और मेरे नाना देवक को भी। यद्यपि मेरे नानाजी मथुरा में ही थे; पर मेरी माता पर किए गए कंस के अत्याचार के बाद कभी प्रासाद में नहीं गए। एक वितृष्णा-सी हो गई थी उन्हें—राजप्रासाद से भी और अपने जीवन से भी। वे समाज से कटे-कटे से रहते थे। बहुत कम दिखाई पड़ते थे। यमुना के किनारे एक पर्णकुटी में वीतरागियों-सा जीवन बिताते थे।

‘वीतरागी’ शब्द का प्रयोग नानाजी के लिए कुछ ठीक सा नहीं लगता। वीतरागी तो संसार से दूर भागता है, पर नानाजी तो अपने से ही दूर भागना चाहते थे।

गर्गाचार्यजी बता रहे थे कि बातों-बातों में ही एक दिन उन्होंने कहा, “उपेक्षा और घृणा सहने के लिए ही मैं जी रहा हूँ, आचार्य।”

“पर आपकी कौन उपेक्षा कर सकता है! और घृणा, उसे तो सोचा भी नहीं जा सकता।” आचार्यजी बोले।

“कोई करे, चाहे न करे, पर मैं स्वयं अपने से घृणा करता हूँ।” देवक कहते गए—“आपको विश्वास नहीं होगा, आचार्य! मेरा अतीत दर्पण की तरह मेरे सामने आकर खड़ा हो जाता है और कहता है कि मुझमें अपना चेहरा देखो। तब मैं मारे लज्जा के अपनी हथेलियों से मुँह ढक लेता हूँ। मुझे उसपर कुछ पुता-पुता दिखाई पड़ता है—ऐसा कुछ, जिसे समय भी पोंछ नहीं सकता, जिस मेरे आँसू भी धो नहीं सकते।”

बात यह थी कि उग्रसेन को सिंहासन से हटाने में उन्होंने भी एक अच्छी-खासी भूमिका निभाई थी। कभी चाचा-भतीजे में खूब पटती थी। नानाजी ने सोचा था कि सदा कंस मेरे हाथ में ही रहेगा। पर परिस्थिति इतनी बदली कि अपना हाथ भी अपना न रहा। उनकी मानसिक स्थिति प्रलंब जैसी हो गई थी।

मैंने सुना है कि कभी-कभार ही किसी उत्सव आदि के अवसर पर वे राजभवन में दिखाई देते। वह भी

राजपरिवार के सदस्य के रूप में नहीं, एकदम सामान्य जन की स्थिति में। पीछे की पंक्तियों में बैठते और कार्यक्रम समाप्त होते ही कोरे लौट आते।

एक बार कारागार में वे अपने भाई से मिलने अवश्य गए थे। कहते हैं कि वे अपने बड़े भैया का चरण पकड़कर घंटों रोते रहे। भीतर का ज्वालामुखी पिघलकर आँखों से बहता रहा। किंतु यह एक ही बार हुआ, बस एक ही बार। शायद उनका पश्चात्ताप उस समय अपने भाई से क्षमायाचना के लिए मचला था—और भाई ने भी उन्हें क्षमा कर दिया।

ऐसे थे मेरे नानाजी, जिनके व्यक्तित्व में पश्चात्ताप एवं ग्लानि के अतिरिक्त कुछ और नहीं बचा था। वह लगभग चुका हुआ जीवन जी रहे थे।

उस आयोजन में उन्हें भी बुलाने की योजना थी। पर उनसे राजभवन की ओर से आग्रह करेगा कौन? उन्हें लाएगा कौन?

यही स्थिति अक्रूर के संबंध में भी थी। ब्रज जाने के लिए उनसे आग्रह कौन करे? आदेश देने का कार्य तो सिंहासन कर सकता है, पर आग्रह या निवेदन करना उसकी प्रकृति नहीं। आदेश में सत्ता की गंध है और निवेदन में ऐंड़ की।...और विनम्रता व्यक्तित्व का गुण है। ऐसे व्यक्तित्व की खोजाई आरंभ हुई, जो अक्रूर से आग्रह करके उन्हें ब्रज भिजवा सके।

आश्वमेधिक सेना का नायक होने के बाद कंस का संबंध कई सुंदरियों से हुआ। उद्विग्न और व्यग्र मन को रति की एक थपथपाहट भी बहुत कुछ शांति देती है। शायद इसीलिए युद्ध और सुंदरियों का संपर्क पुराना है।

मागधी सेना को छोड़ते समय कंस ने ऐसी सभी सुंदरियों को छोड़ दिया था, पर वह वरदा को छोड़ नहीं पाया। अद्भुत थी वरदा। अनिंद्य सुंदरी। जलज की आभा को नवनीत में मिलाकर गढ़ी गई। उसका संपूर्ण व्यक्तित्व झरने की तरह सहज और कलकल। जब से वह प्रासाद में आई थी, एक नया जीवन आ गया था। उसका सान्निध्य कंस की अशांति पर सदा स्मिति ओढ़ाए रखता।

यह कंस का ही प्रस्ताव था कि क्यों नहीं वरदा को ही भेजा जाए। वृत्तघ्न ने बड़े उत्साह से लपककर इसका समर्थन किया। इसके पीछे भी एक राजनीति थी। सेना और प्रशासन में मागधी प्रभाव बढ़ ही रहा था। इस प्रस्ताव से मथुरा की कूटनीति में भी मागधी प्रभाव की घुसपैठ करा दी गई।

वरदा मथुरा में नई थी। बहुत से लोग उसे पहचानते भी नहीं थे। इसीसे वह राजनीति से निरपेक्ष दिखाई दी। उसके पहुँचने पर अक्रूर भी कुछ सोच नहीं पाएँगे।

और हुआ भी ऐसा ही। वरदा को देखते ही अक्रूर चकित रह गए। उनका आश्चर्य महाराज के बुलावे पर नहीं था वरन् उसकी आकर्षकता पर था।

“मैंने आपको इसके पहले तो कभी नहीं देखा है। क्या आप प्रासाद में नई-नई आई हैं?”

वरदा ने स्वीकृति में एक मुसकराहट बिखेर दी।

“कहाँ से?”

“मैं मागधी हूँ।” इतना कहने में उसकी संपूर्ण शरीरयष्टि वासंती बयार में चंपक की डाल की तरह झूल गई।

“अच्छा! अब समझा।” अक्रूर बोले, “आश्वमेधिक सेना के संचालन के समय आप महाराज के संपर्क में आई होंगी?”

“जी!” इसके बाद वह बिना किसी औपचारिकता के चुपचाप चली आई।

अक्रूर उसी दिन प्रासाद पधारे। जब उन्हें कार्य सौंपा गया तब वे मौन ही रह गए। कुछ देर बाद सोचते हुए बोले,

“महाराज, आपकी आज्ञा तो शिरोधार्य है; पर मुझे राजनीति से क्या लेना-देना! इस दलदल में रहकर भी कहीं कोने-अँतरे में खिले कमल की तरह लोगों की दृष्टि से दूर हूँ। मेरे जैसे व्यक्ति को तो भगवद् भजन के लिए ही यदि आप छोड़ देते तो बड़ी कृपा होती।”

“आपसे मुझे यही आशा थी।” जहाँ जरा भी कंस को अभीप्सित होता नहीं दिखता था, वहीं उसकी झुँझलाहट प्रकट हो जाती थी।

“आप ठीक कहते हैं, अक्रूरजी!” वृत्घ्न ने पुनः परिस्थिति सँभाली—“और शायद आपके इस स्वभाव और स्थिति के कारण ही इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए हम लोगों ने आपको चुना है।...यदि किसी और व्यक्ति को भेजा जाता तो लोगों को यह सोचने का अवसर मिलता कि इस आयोजन के पीछे कोई राजनीति तो नहीं है।”

“तब क्या इसका अर्थ मैं यह लगाऊँ कि राजनीति की गलीज को मेरे व्यक्तित्व से ढका जा रहा है?” इतना कहकर अक्रूर अपने स्वभाव के विपरीत जोर से हँस पड़े।

“नहीं-नहीं, हम आपको दलदल में घसीटना नहीं चाहते, वरन् दलदल में उगे कमल को प्रभु के चरणों में अर्पित करना चाहते हैं।” वृत्घ्न ने किस चालाकी से अक्रूर की कमजोरी पर अँगुली धरी कि स्वयं उन्हें इसका आभास नहीं हुआ।

अक्रूर अब भी असमंजस में थे।

“आप ही देखिए, हमारे पास कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है, जो उस पवित्र भावना से कार्य करे जैसा हम चाहते हैं; क्योंकि राजनीति ने मथुरा के पूरे वातावरण को विषाक्त कर डाला है। उस विष के छीटे से कोई बचा नहीं है। आप ही उससे मुक्त हैं। दूसरे, एक बात और है। आपको नंद और उनके दोनों लालों का (हँसी आती है वृत्घ्न की इस कूटनीतिक भाषा पर) विश्वास भी प्राप्त है।” वृत्घ्न बोलता हुआ निरंतर अक्रूर की मुद्रा देखता रहा—“आपको जब भी सुविधा हो, प्रासाद से रथ मँगवा लीजिएगा।”

“मुझे तो सदा सुविधा है। आप बताइए, धनुर्यज्ञ का आयोजन कब कर रहे हैं?”

“यह भी आपको जाने और उन्हें ले आने की सुविधा पर ही निर्भर है।”

“इसका तात्पर्य यह है कि यदि वे नहीं आए तो आयोजन नहीं होगा?”

अनजाने में ही एक ऐसा प्रश्न उठाया अक्रूरजी ने कि वृत्घ्न चौंक पड़ा। चोर का जी आधा। वह शंकित हुआ कि बुद्धिमानी से ढकी उसकी योजना पूरी सतर्कता के बावजूद अक्रूर को कहीं से झलक तो नहीं गई। वह एकदम बोल पड़ा—“नहीं-नहीं, ऐसा नहीं है। आयोजन तो होगा ही। आप निश्चित समझें। उनके आने से आयोजन नहीं जुड़ा है वरन् आयोजन से उनका आना जुड़ा है।”

□□□